हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

संयुक्ताङ्क

भाग २६	जनवरी-जून
अङ्क १-२	१९६५

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

प्रबन्ध सम्पादक
विद्या भास्कर

सहायक सम्पादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

युक्ताङ्क ५·०० रु०

वार्षिक १० रुपये

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

अनुक्रम

●

पदमावत का अर्थ-विमर्श

• पारसनाथ तिवारी

जायसी के पदमावत का अध्ययन अब कई दृष्टियों से पर्याप्त विकसित हो चला है। यद्यपि प्रारम्भ में कई विद्वानों ने इसकी टीकाएँ लिखीं किन्तु सर्वप्रथम अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका तथा टिप्पणियों से समन्वित इस ग्रन्थरत्न को साहित्य सेवियों के सम्मुख उपयुक्त रूप में लाने का श्रेय स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। इसके पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास डॉ० माताप्रसाद गुप्त का है जिन्होंने इससे सम्बद्ध समस्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर अत्यन्त अध्यवसायपूर्वक इसके प्रामाणिक पाठ का पुनरुद्धार किया जिससे उसके सैकड़ों शब्दों की ठीक पहचान हो सकी। 'जायसी ग्रन्थावली' नाम से यह १९५२ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसी पाठ के आधार पर अपने व्यापक सांस्कृतिक अध्ययन तथा रससिक्त दृष्टि के योग से इसकी 'संजीवनी व्याख्या' प्रस्तुत की (साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी से प्रकाशित प्र० संस्क०, सं० २०१२ वि०, द्वि० संस्क०, सं० २०१८ वि०) जिससे जायसी की भावुकता, बहुज्ञता तथा असाधारण कल्पना-वैभव का उद्घाटन हो सका। 'संजीवनी व्याख्या' में सचमुच ही प्रेरणादायक संजीवनी शक्ति है और हिन्दी की उत्कृष्ट टीकाओं के गणना-प्रसङ्ग में यह अवश्य ही कनिष्ठिकाधिष्ठित रहेगी। किन्तु जायसी की शब्दावली और उसकी स्थापनकला ऐसी विलक्षण है कि उनका मूल आशय समझने में इस टीका में भी यत्रतत्र भूलें रह जाना स्वाभाविक था। किसी रचना के पाट-निर्णय में अर्थविमर्श आवश्यक रहता है; अतः पदमावत के सर्वाधिक सफल सम्पादक डॉ० गुप्त की टीका से, जो नवम्बर १९६३ ई० में भारती भण्डार, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई, स्वाभाविक रूप से ऐसे अनेक स्थलों का यथार्थ बोध हो सका जिनका उपयुक्त समाधान डॉ० अग्रवाल की टीका से नहीं हो पाया था। किन्तु यह इदमित्थम् रूप में नहीं कहा जा सकता कि दोनों टीकाओं में जहाँ जहाँ भी अन्तर मिलते हैं सर्वत्र डॉ० गुप्त के ही विकल्प सर्वथा मान्य हैं। फिर भी इन सुयोग्य विद्वानों के प्रयास से 'पदमावत' का अध्ययन अल्पकाल में ही अत्यधिक प्रौढ़ हो गया। संस्कृत वैयाकरणों में जिस प्रकार मुनित्रय स्मरणीय हो गये हैं उसी प्रकार 'पदमावत' के अध्ययन-क्षेत्र मे इस विद्वत्त्रयी का योगदान भी चिरस्मरणीय रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

लेकिन इतने प्रयासों के बावजूद भी पदमावत में ऐसे अनेक स्थल अब भी रह गये हैं जिनके उपयुक्त अर्थबोध में कठिनाई का अनुभव होता है। प्रस्तुत निबन्ध में ऐसे ही कुछ स्थलों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया गया है और उनके अर्थ के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी

दिये गये हैं। डॉ० गुप्त की टीका सब से बाद की है और उस में अर्थ सम्बन्धी भूलें अपेक्षाकृत कम हैं अतः उसी को प्रस्तुत निबन्ध में विवेचन का मुख्य आधार बनाया गया है और प्रसङ्गवश डॉ० अग्रवाल की 'संजीवनी व्याख्या' पर भी विचार किया गया है—'संजीवनी' की ऐसी अर्थ-सम्बन्धी त्रुटियों पर यहाँ विचार नहीं किया गया है जिनका परिहार गुप्त जी की टीका में हो गया है। जायसी के मूल भाव तक हमारी पहुँच हो सके, इसी मन्तव्य से ये सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

स्थल-निर्देश में पहली संख्या डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित संस्करण की छन्द संख्या है और दूसरी उस छन्द विशेष की पंक्ति-संख्या है। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ० अग्रवाल के संस्करण में भी वे स्थल वहीं पर मिल जायेंगे।

[१] ६-७ : काहू भोग भुगुति सुख सारा। काहू 'भीख भवन' दुख 'भारा'॥

डॉ० गुप्त ने दूसरे चरण का अर्थ किया है- —किसी के लिए भिक्षा कर रखी है तथा ऐसा भवन कर रखा है जो दुःखों का भार है [अथवा भिक्षार्थ भ्रमण और दुःखों का भार कर रखा है]

'भीख भवन' के सम्बन्ध में गुप्त जी का दूसरा विकल्प ही उपयुक्त ज्ञात होता है। 'भवन' का सं० 'भ्रमण' के अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी जायसी ने किया है—तुल० १०३-२ : राते कँवल करहिं अलि **भवाँ**; ११७-१ : समुँद भँवर जस **भँवै** गँभीरू। इसी प्रकार १३१-३ : **भँवै**; २४०-२ : **भँवहीं**; २४७-७: **भँवति** तथा २९६-१ : **भँवै**।

किन्तु 'भारा' के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति ज्ञात होती है। वह वस्तुतः यहाँ उसी प्रकार क्रियापद ज्ञात होता है जैसे प्रथम चरण में 'सारा' (सारना - बोझा लादना या डालना)। अतः विवेच्य पंक्ति का उपयुक्त अर्थ होना चाहिए—"किसी पर (उसने) भिक्षार्थ भ्रमण का दुःख डाल दिया या लाद दिया।" 'संजीवनी' में 'भवन' तथा 'भारा' दोनों के अर्थों में भ्रान्ति प्रतीत होती है। उसका अर्थ है : किसी को संसार में भीख मिलना भी भारी दुःख है।

[२] १०-३ : जाँवत जग साखा 'बन ढाँखा'।

गुप्त जी—जगत् में जितनी शाखाएँ हैं, वनों में जितने ढाँख हैं।

संजीवनी—जगत् में वन और ढाँखों में जितनी टहनियाँ हैं।

किन्तु जायसी ने 'ढाँख' या 'ढंख' शब्द का प्रयोग केवल पलास वृक्ष के लिए ही नहीं किया है, प्रत्युत पलास-वन या केवल वन (=जंगल, झाड़) के लिए भी किया है; उदाहरणतया—

१०४-८ : बरुनि बान अस ओपहिं बेधे रन **बन ढंख**। (=अरण्य, वन और जङ्गल; जैसे 'नदी नद नारे')

६६-२ : जिउ लै उड़ा ताकि **बन ढाँखा** (=ढाँख का वन नहीं, प्रत्युत जङ्गल और झाड़)।

३४५-८ : परबत समुँद अगम बिच बन बेहड़ घन **ढंख** (=बीहड़ वन और घने झाड़ या जङ्गल। यहाँ पर इस शब्द का मूल अर्थ अधिक स्पष्ट हुआ है।)

उपर्युक्त सभी स्थलों पर डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल की टीकाओं में 'ढाँख' का पलास अर्थ ही किया गया है जिससे उसके विशिष्ट अर्थ का बोध नहीं हो पाता। केवल ५०८-२ :

बनखंड ढख परास का पासा' में यह वृक्ष का समानार्थी ज्ञात होता है और वह भी ह्रिस्वपरक रूप में। तुल० कबीर-ग्रन्थावली (परिषद् संस्क०) ४-१ : कबीर चंदन के बिड़े, बेधे ढाँक पलास।

इस प्रसङ्ग में श्री रामचन्द्र वर्माकृत 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' द्रष्टव्य है जिसमें 'ढख' शब्द के दो अर्थ दिये हैं : १. पलास का पौधा; २. पलास का जङ्गल। वस्तुतः अर्थ का विकास होते-होते 'ढंख' या 'ढाँख' सामान्य जङ्गल या झाड़ के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।

इस प्रकार विवेच्य पंक्ति का उपयुक्त अर्थ होना चाहिए—"संसार भर के वन ढाँखों में (अर्थात् जङ्गल-झाड़ों में) जितनी शाखाएँ हैं" अन्यथा केवल 'ढाँख' का उल्लेख कर देने से समस्त वृक्षों का भाव नहीं प्रकट होगा।

[३] ३०-४ : कोइ रामजन कोइ 'मसवासी'।

'मसवासी' को डॉ० गुप्त ने मासकल्प (मास भर एक स्थान पर रहने का व्रत) करने वाला माना है और डॉ० अग्रवाल ने उसे मासोपवासी माना है; साथ ही उन्होंने महाभारत से एक उद्धरण देकर मासोपवास व्रत की परम्परा महाभारत-काल तक दिखलाई है। मासकल्प करने वालों को कल्पवासी भी कहा जाता है और कल्पवासी गृहस्थ भी हो सकते हैं; किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि जायसी ने यहाँ अनेक प्रकार के साधु-संन्यासियों का ही वर्णन किया है, गृहस्थों का नहीं। 'बौद्ध गान ओ दोहा' के एक चर्यापद की टीका में 'मुण्डीति मासिकोपवासी' ऐसा उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि मासोपवास का व्रत रखने वाले तपस्वी 'मुण्डी', 'मुण्डित' या 'मुड़िया' साधु कहलाते थे। कबीर ने भी मुण्डित या मुण्डिये साधुओं का स्मरण किया है। तुल० कबीर-ग्रन्थावली (परिषद्) पद १०१-८ : लुंचित मुंडित मोनि जटाधर अंति तऊ मरना। पद ११९-४ : कुंचित मुंडित मोनि जटाधर एहि कहहिं सिधि पाई। अथवा 'सन्तकबीर' (सं० डॉ० रामकुमार वर्मा) आसा ३३-६ : इन मुंडीअन मेरी जाति गँवाई; गौड़ ६-४ : इहु मुंडीआ सगलो द्रब खोई।

लगता है कि जायसी के 'मसवासी' यही मुण्डिये संन्यासी हैं। अतः यहाँ डॉ० अग्रवाल का अर्थ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।

[४] ४३-२ तथा ५ : औध 'कुंड' एक मोतीचूरू। पानी अंब्रित कीच कपूरू।
मूल पतार सरग ओहि साखा। 'अमर बेलि' को पाव को चाखा।

यहाँ मोतीचूर्ण का 'कुंड' और 'अमरबेलि' दोनों साङ्केतिक शब्द हैं जिनका स्पष्टीकरण डॉ० अग्रवाल ने नहीं किया है। गुप्त जी ने किया अवश्य है, किन्तु वह स्पष्टीकरण सन्तों तथा नाथयोगियों की मान्यताओं के अनुकूल नहीं हो पाया है। गुप्त जी के अनुसार मोतीचूर्ण का कुण्ड सुषुम्णा है और अमरबेल अमृतवल्ली या चेतनावल्ली है। किन्तु मोतीचूर्ण का कुण्ड वस्तुतः हृदय सरोवर है और अमरबेल ही सुषुम्णा है जिसका विस्तार मूलाधार चक्र से ब्रह्माण्ड-स्थित सहस्रार तक रहता है। इसीलिए कवि ने उसके लिए 'मूल पतार सरग ओहि साखा' कहा है।

[५] ४५.६ बिरिछ उपारि झारि मुख मेलहिं।

झारि शब्द का अर्थ डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल दोनों ने 'झाड़कर' किया है (पूर्वकालिक क्रियापद), किन्तु ग्रामीण बोली में यह क्रिया-विशेषण रूप में भी प्रयुक्त होता है—पूरा का पूरा, झटपट, एकदम के अर्थ में। जैसे 'झारि धानइ क खेत'—सबके सब धान ही के खेत, तुल० कबीर-ग्रन्थावली (परिषद्) २-१३-१ : आगि जु लागी नीर महिं, काँदौ जरिया झारि। अर्थात् पानी में जो आग लगी तो भाग का भाग कीचड़ जल गया। यहाँ भी टीकाकारों को प्रायः इसके अर्थ के सम्बन्ध में भ्रम हो गया है। अतः विवेच्य पंक्ति का इस प्रकार अर्थ करना उपयुक्त होगा—"वृक्ष उखाड़ कर वे (सिंहल के हाथी) पूरा का पूरा या समूचा मुख में डाल लेते हैं।" 'झारि' का द्वित्वपरक रूप भी मिलता है, यथा, 'झारि-झारि' या 'झार-झार'। मध्यकालीन कवियों में इस प्रकार के ठेठ और विरल प्रयोग अन्यत्र भी मिलते हैं जिनकी पहचान के लिए कभी-कभी कोश अपर्याप्त सिद्ध होते हैं।

[६] ४६-२ : लील समंद 'चाल' जग जानै। हाँसुल भौंर कियाह बखानै।

डॉ० गुप्त ने 'चाल' का यहाँ 'गति' अर्थ किया है और डॉ० अग्रवाल ने भी यद्यपि इस छन्द में यही अर्थ दिया है, किन्तु आगे चलकर छन्द ४९.६ में उसका उपयुक्त अर्थ ढूंढ़ निकाला है और शुद्धिपत्र में इस स्थल के लिए भी संशोधन का निर्देश कर दिया है। उनके अनुसार सब्जी मायल या चकोर की रंगत का घोड़ा 'चाल' कहलाता था। यह तुर्की शब्द था, जो अब चालू नहीं रहा (दे० ४९६–४ की संजीवनी व्याख्या)।

४६-७ में भी 'पूँछि' शब्द की डॉ० गुप्त द्वारा दी गई व्युत्पत्ति चिन्त्य है। संस्कृत शब्द 'पुच्छ' है न कि 'पिच्छ' जैसा कि उपर्युक्त टीका में है। उदा० साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। सम्भवतः मुद्रण की भूल के कारण ऐसा हो गया हो।

[७] ५५-८ : जग कोइ दिस्टि न आवै 'आछहिं नैन अकास'।

गुप्त जी—जगत् में तो कोई [उसके समान] दृष्टि न आता था, इसलिए लोगों की दृष्टि आकाश पर जा लगी थी।

डॉ० अग्रवाल का अर्थ भी लगभग ऐसा ही है। किन्तु इस पंक्ति का अर्थ यदि पद्मावती के पक्ष में किया जाय तो मेरे विचार से वह अधिक संगत होगा, यथा—[पद्मावती को] संसार में कोई [अपने योग्य] दृष्टि में आता न था, इसलिए उसकी आँखें [रूपगर्विता होने के कारण] आकाश में जा लगी थीं। हम देखते हैं कि अगले छन्द में राजा को अपनी पुत्री की इसी 'बुद्धि' पर क्रोध आता है।

[८] ६४-६ : सखिन्ह कहा भोरी कोकिला। 'कौन पानि जेहि पौनु न मिला'।

गुप्त जी—सखियों ने कहा, 'ऐ अजान कोकिला, वह पानी कौन सा है जिसमें पवन न मिल सके?' (अर्थात्...इस पद्मिनी के शरीर से लगकर शीतल हुआ पवन सरोवर के हृदय में

पैठकर उसका दाह शीतल कर देगा और जहाँ भी तुम्हारा हार चुराकर उसने रखा होगा वहाँ से उसे निकाल कर लाएगा)।

टीकाकार को वस्तुतः यह कल्पना अगले छन्द के कारण करनी पड़ी जिसमें कवि ने बताया है—

मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।
न जनौं कौन पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद्र बिहँसाना।

किन्तु वहाँ मलय समीर की विशिष्टता कवि स्वतः बतला देता है; उस विशिष्ट कथन का आरोप विवेच्य पंक्ति के सामान्य कथन पर करने के कारण कुछ भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है। वस्तुतः समास शैली के कारण जायसी का वाक्यगठन ही ऐसा होता है जिससे अर्थ में भ्रान्ति हो जाती है। जैसे ८-३ में 'तन नाहीं जो डोलाव सो डोला' का अर्थ डॉ० वासुदेवशरण जी ने किया है: 'उसके वह शरीर नहीं है जो सबको डुलाता है, फिर भी वह डोलता है।' शब्दों का स्थापन ऐसा है जिससे इस पंक्ति का निस्सन्देह यह अर्थ भी किया जा सकता है. किन्तु कवि का मूल भाव यह नहीं है। मूल भाव डॉ० गुप्त की टीका से स्पष्ट हो जाता है: 'शरीर नहीं है, किन्तु जिसे वह डुलाता है वही डोलता है।' इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी वाक्य-रचना की विशिष्टता पर ध्यान न देने से इस सरल वाक्य की व्यंजना उलझ गई है। द्वितीय चरण की संजीवनी व्याख्या इस प्रकार है: 'पानी का कौन सा बुलबुला है जिसमें हवा नहीं मिली।' किन्तु उक्ति की व्यंजना इससे भी स्पष्ट नहीं होती। इस चरण का अर्थ वस्तुतः यह ज्ञात होता है—"कौन पानी है जो पवन को (=से) नहीं मिला अर्थात् पवन में मिलकर विलीन नहीं हो गया?" 'पौनु' अवधी में कर्मकारक में भी प्रयुक्त होता है, तुलनीय मानस २-१११-१: परम रंकु जन **पारसु** पावा, तथा वही दोहा : सखहिं **सिखावनु** दीन्ह, राम **रजायसु** सीस धरि, भवन गवन तेइ कीन्ह। 'जेहिं', 'जेइं' अथवा 'जेंहि' अवधी में कर्ताकारक में भी प्रयुक्त होते है, यथा दे० मानस २-२५५-८: सो गोसाइँ बिधि गति **जेंहि** छेंकी।

प्रसङ्ग यहाँ मानसर में हार खो जाने का है। सखियों का भाव यह है कि संसार की कौन सी वस्तु है जो अन्ततोगत्वा विलीन नहीं हो जाती? पानी की कौन बूँद है जो हवा में मिलकर विलीन नहीं हो जाती? हार के लिए भला इस प्रकार रोया जाता है, भोरी कोकिला!

[९] ६९-६: वै तौ उड़े और बन 'ताका'।

डॉ० गुप्त ने 'ताका' की व्युत्पत्ति सं० 'तर्क' से बताई है जो निर्विवाद रूप से मान्य है, किन्तु जनपदीय बोली में इस शब्द का पर्याप्त अर्थविकास हो गया है जिसे दृष्टि में न रखने से उनकी टीका इस स्थल पर अत्यधिक शास्त्रीय हो गई है। उनकी टीका है—'वे तो वहाँ से उड़ निकले और उन्होंने अन्य वन [में रहने] का विचार किया।' डॉ० अग्रवाल के 'दूसरा वन देख लिया' में भी यही विशेषता है। वस्तुतः 'और बन ताका' की उत्कृष्ट टीका होनी चाहिए: "दूसरे वन को चले या सिधारे।" अवधी 'ओ ताकेन दूसर डगर'=वे दूसरे रास्ते चल पड़े या सिधारे। 'हम तकाए घरे'=हम घर को सिधारे।

इसी छन्द की नवीं पंक्ति के 'अरझ' शब्द की व्युत्पत्ति गुप्त जी ने उत्+लुभ इस

प्रकार दी है जो चिन्त्य है वस्तुतः अव+रुध से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सङ्गत ज्ञात होता है

[१०] ७०-४ : कत चिरिहार 'ढुकत' लै लासा।

'ढुकना' का अर्थ डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल दोनों ही टीकाकारों ने 'आना' या 'आ घुसकना' दिया है। 'पाइअसद्दमहण्णवो' में इसे 'ढौक्' (=उपस्थित करना या होना) से व्युत्पन्न माना गया है, किन्तु यह देशज शब्द ज्ञात होता है और अवधी में यह 'छिपना' अर्थ में भी प्रचलित है। लुकाछिपी के खेल को अवधी में 'ढुकौलिया' कहते हैं: लुकना > ढुकना इस क्रम से भी यह रूप सिद्ध किया जा सकता है (ल तथा ड में परस्पर स्थानान्तरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं)। श्री रामचन्द्र वर्मा ने प्रामाणिक हिन्दी कोश में 'ढुकना' का अर्थ 'टोह लेने के लिए आड़ में छिपना' दिया है (पृ० ५२६)। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी उसका यही अर्थ अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है।

[११] ७२-३ : कत तीतर बन जीभ उघेला। 'सकति हँकारि' फाँदि गियँ मेला।

'सकति हँकारि' का अर्थ दोनों टीकाकारों ने 'अपनी शक्ति भर पुकार लगाकर' किया है। हीरामन तोते के जाल में फँस जाने पर अन्य पक्षी अपने सजातीयों की कुबुद्धि पर वार्तालाप कर रहे हैं, उसी प्रसङ्ग की यह पंक्ति है। इसके अतिरिक्त 'सकति' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त रूप से अथवा समान अर्थ में जायसी ने निम्नलिखित स्थलों पर किया है—

(क) ४०९-९ : **सकति** हँकारि जीव जो काढ़ै, मरा दोस अरु पाप।
(ख) ४३९-२ : रहै न झाँपे आपन गटा। **सकति** उघेलि चाह परगटा।
(ग) ४८९-८ : का तोहि जीव मरावौं, **सकति** आन के दोख।
(घ) ५१९-८ : काहूँ साथ न तन गा, **सकति** मुवै पै पाँखि।
(ङ) ५७५-६ : चारा मेलि धरा जस माछू। जल हुँति निकसि **सकति** मुव काछू।
(च) ६२१-३ : हाथि चढ़ा इसिकंदर बरी। **सकति** छाँड़ि कै भै बँदि परी।

'सकति' यद्यपि 'शक्ति' से ही व्युत्पन्न है, किन्तु मध्यकालीन हिन्दी कविता में इसका प्रयोग क्रियाविशेषण रूप में एक विशिष्ट अर्थ (हठात्, बलात्, जबरदस्ती) में भी मिलता है, जैसे—कबीर-ग्रन्थावली (परिषद्) पद १७८-३ : **सकति सनेह** पकरि करि सूनति मैं न बदउगा भाई। सकति सनेह=जबरदस्ती का स्नेह। यह अर्थ जायसी के उपर्युक्त उद्धरणों में से (ग), (ङ) तथा (च) में भलीभाँति स्पष्ट हुआ है। (ग) अर्थात् ४८९-८ में रत्नसेन सरजा (अलाउद्दीन के दूत) से कहता है कि "दूसरे के दोष पर मैं हठात् क्यों तुझे जान से मरवाऊं?" (तुल० गुप्तजी जो अन्य की शक्ति के आधार पर दोष कर रहा है)। (ङ) ५७५-६ में अलाउद्दीन की दुरभिसन्धि के छलावे में पड़कर जब रत्नसेन अपने गढ़ से बाहर आ जाता है तो कवि कहता है, "चारा डाल कर जैसे मछली को पकड़ लिया जाता है और जल से बाहर निकल कर कछुआ जैसे हठात् प्राण गँवाता है [वैसे ही 'राजा धरा आनि कै' (८ वीं पंक्ति)]। तुल० गुप्त—'जल से निकल आने पर कछुवे की शक्ति मृत हो जाती है।' तथा अग्रवाल—'कछुवे को उसकी शक्ति छोड़ देती है।' (च) ६२१-३ में बादल और गोरा मन्त्रणा करते हुए रत्नसेन की कच्ची नीति की तुलना नौशाबा की

स्त्री-योद्धा से करते हैं जिसके पास सिकन्दर दूत बनकर गया था किन्तु उसने सिकन्दर को पहचान कर भी छोड़ दिया। बाद में सिकन्दर ने उसे पराजित कर बन्दी बनाया। (निजामीकृत 'सिकन्दर-नामा' के आधार पर शुक्ल जी की टिप्पणी)। गोरा, बादल का कथन है, "बली सिकन्दर उसके हाथ में पड़ गया था, लेकिन उसे हठात् मुक्त कर वह परी बन्दिनी बनी या बन्दी हो पड़ी। तुल० गुप्त तथा अग्रवाल—"किन्तु वह शक्ति छोड़कर बन्दी हो पड़ी"। इसी प्रकार (क) ४०९-९ में आत्महत्या के लिए सन्नद्ध रत्नसेन से ब्राह्मणवेशधारी समुद्र कहता है, "हठात् गुहार लगाकर जो अपनी जान निकाले तो यह महा दोष और महा पाप है।" (ख) ४३९-२ में नाग-मती सपत्नीत्व की भावना से पद्मावती के प्रति कटूक्ति करती है: [कमलिनी] अपना कमलगट्टा (कुच) ढँक कर नहीं रखती, हठात् उघाड़ कर प्रकट ही करना चाहती है! (घ) ५१९-८ में युद्धस्थल में परस्पर का मांस-भक्षण करते हुए पशुओं के प्रति कवि की उक्ति है, "यह शरीर [अन्त में] किसी के साथ नहीं गया, हठात् इसका पोषण कर भले ही कोई व्यक्ति क्यों न मरे।" (तुल० गुप्त तथा अग्रवाल—शक्ति भर उसका पोषण करते हुए भले ही कोई क्यों न मरे)। विवेच्य पंक्ति का भी इसी प्रकार यह अर्थ करना उचित होगा—"हठात् गुहार लगाकर (चिल्लाकर) फन्दा गले में डाल लिया।"

[१२] ७६-५ : इस पंक्ति में सुग्गे के लिए **'परबते'** सम्बोधन आया है जो कदाचित् समस्त हिन्दी प्रदेश में 'पढ़ो प्रवक्ते सीताराम' के रूप में प्रचलित है; किन्तु 'परबते' शब्द की व्युत्पत्ति निश्चय-पूर्वक नहीं बताई जा सकती। डॉ० गुप्त ने उसे 'पर्वतक' (=पर्वत का निवासी) से व्युत्पन्न माना है। सभी सुग्गे पहाड़ी ही हों, यह निर्विवाद रूप से नहीं माना जा सकता; किन्तु सुग्गे अधिकांश पढ़ने या बोलने वाले होते हैं। अतः 'प्रवक्ता' के सम्बोधन रूप 'प्रवक्ते' से उसकी व्युत्पत्ति मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। डॉ० अग्रवाल ने इसकी व्युत्पत्ति का निर्देश नहीं किया है।

[१३] ७७-२ : अब गुन कवन जो बँदि जजमाना। घालि मँजूसा 'बेचै आना'।

दूसरे चरण का अर्थ गुप्त जी ने किया है—"मुझे मँजूषा में डालकर [अन्य] व्यक्ति बेंच रहा है।" किन्तु 'आना' यहाँ क्रियापद लगता है जिससे इस पंक्ति का उपयुक्त अर्थ होगा "मँजूषा मे डालकर बेचने लाया है।" यही अर्थ डॉ० अग्रवाल ने भी किया है।

प्रथम चरण में गुप्त जी ने 'जजमाना' को सम्बोधन का रूप माना है; किन्तु प्रचलित प्रयोग के अनुसार ब्राह्मण देवता को (जिन्हें हीरामन सम्बोधित कर रहा है) यजमान नहीं कहा जाता; यजमान वस्तुतः वह होता है जिससे ब्राह्मण देवता को दक्षिणा मिलती है। सुग्गे के कथन की व्यञ्जना यह है कि पण्डित की पण्डिताई ही किस बात में रह गई जब कि यजमान ही उसे हाट चढ़ाकर बेचे डाल रहा है। किन्तु यदि 'जजमान' को सम्बोधन मान भी लिया जाय तो 'बेचै आना' का अर्थ 'बेचने लाया गया हूँ' (उत्तम पुरुष में) भी हो सकता है। बल यहाँ बेचे जाने पर है, 'अन्य' पर नहीं; क्योंकि स्वयं कोई बिकने नहीं आता, हमेशा ही अन्य द्वारा बेचा जाता है। इस स्थित में 'आना' का 'अन्य' अर्थ करना इस प्रसङ्ग में अनावश्यक प्रतीत होता है।

[१४] ८६४ जौं तिवानि कै काज न जाना। परैं धोख पाछें पछताना।

गुप्त जी की टीका है यदि [उस] स्त्री न [ऐसा अपराध का] कार्य करके [उसका परिणाम] न जाना तो धोखा पड़ने पर पीछे पछताना होगा"। अर्थ वस्तुतः होना चाहिए जो स्त्रियों के कार्य (तिरिया चरित्र) से अवगत नहीं उसे धोखा [खाना] पड़ना है और पीछे पछताना पड़ता है सजीवनी में भी इसी से मिलता-जुलता अर्थ है और वह श्रेष्ठतर प्रतीत होता है। धाय (अर्थात् एक स्त्री) की यह उक्ति है, कदाचित् इसीलिए गुप्त जी ने उपर्युक्त अर्थ किया। किन्तु स्त्रियाँ भी 'तिरिया चरित्र' का लोहा मानती हैं और उपयुक्त प्रसङ्ग आने पर स्त्री होने के बावजूद भी उसका उल्लेख उसी प्रकार करती हैं जैसे पुरुष करते हैं। पाठ भी 'तिवानि' की अपेक्षा 'तिवाइ' अधिक उपयुक्त है जिसे गुप्त जी ने एकेडमी संस्करण में रखा था। अवधी में 'तिवई', 'तेवई', 'तेवाई' (स्त्रीवती ?) शब्द स्त्री के लिए अब भी प्रचलित हैं। गाँवों में स्त्रियों की प्रेतबाधा में उन्हें 'परगट' कराने के लिए ओझाओं के चम्पू सदृश विलक्षण गीतों में प्रायः 'तेवई' सम्बोधन सुना जा सकता है। 'तिवानि' रूप भी स्त्री अर्थ में सम्भव है, किन्तु अकारान्त अथवा उकारान्त होने पर उसका 'चिन्ता' अर्थ हो जाता है। इस सम्बन्ध में भी गुप्त जी को यत्किञ्चित् भ्रम हो गया है जिसकी चर्चा आगे की गई है। 'कै' भी सम्भवतः 'के' होना चाहिए।

[१५] ८८-६ : में 'सरेख' की व्युत्पत्ति डॉ० गुप्त ने संस्कृत 'संलेखित' से मानी है। संलेखित वह है जिसने तप से अपना शरीर क्षीण किया हो अथवा अनशन व्रत से शरीर त्याग का व्रत लिया हो (दे० पाइअ०, पृ० ८५१ पर 'संलेहणा')। यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त दोनों अर्थों में से 'सरेख' को डॉ० गुप्त ने किससे सम्बद्ध माना है, किन्तु इतना अवश्य है कि दोनों में से कोई भी कार्य करने पर 'सरेख' (=चतुर) की सारी 'सरेखई' ताख पर रख उठेगी। इसे वस्तुतः 'श्रेष्ठ' से व्युत्पन्न मानना अधिक निरापद ज्ञात होता है जैसा कि अनेक हिन्दी कोशकारों ने माना भी है—दे० सक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, ना० प्र० सभा, पृ० १०८७; प्रामाणिक हिन्दी कोश, पृ० १२९४।

[१६]. ९०-७ : 'कंत सोहाग' कि पाइअ 'साँधा'। पावै सोइ जो ओहि 'चित बाँधा'।

गुप्त जी—कांत (पति) का सोहाग क्या कहीं स्वतः संहित (संलग्न) रूप में मिलता है ? साँधा=संधित > संहित=संलग्न।

डॉ० अग्रवाल ने 'साँधा' का अर्थ 'जोड़' या 'मेल' किया है—"कंत और सौभाग्य इन दोनों का मेल क्या प्राप्त किया जा सकता है ?"

किन्तु मध्यकालीन हिन्दी काव्य में 'संधि' या 'साँधा' भेद, अभिप्राय या रहस्य के अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं। (तुल० मोनियर विलियम्स, पृ० ११४४ सन्धा, इंटेंशन, डिजाइन)। 'संधाय' अथवा 'अभिप्रेत्य' के ही आधार पर 'संधा भाषा' को अभिप्रायपूर्ण या रहस्यमयी भाषा का द्योतक माना जाता है। यहाँ जायसी ने अपनी विशिष्ट साङ्केतिक शैली में इन शब्दों के श्लेषार्थ का भी जो ध्यान रखा है, और जिसका स्पष्टीकरण डॉ० अग्रवाल ने संजीवनी व्याख्या में किया है, उसका निर्वाह 'साँधा' का 'रहस्य' अर्थ करने से ही सम्भव है, यथा "कांत और सुहाग अथवा सोना (कांत= सुन्दर वर्ण वाला, सुवर्ण) और सुहागा का रहस्य क्या कोई पाता है ? पाता वही है जो उनमें 'चित-

बध करता है अर्थात मन लगाता है या (सुनारी पक्ष मे) चित्रबंधन करता है। सुनारो की पारिभाषिक शब्दावली का ध्यान कत और सुहाग' के प्रसङ्ग मे जायसी ने सदैव रखा है यह पदमावत के अनेक स्थलो से प्रकट है इनका स्पष्टाकरण वासदेवशरण जी ने उत्कृष्टतम रूप मे किया भी है (दे० विशेषतया छन्द ८३ तथा ८९ की संजीवनी व्याख्या)।

इनके श्लेषार्थ को दृष्टि में रखते हुए 'साँधा' से मेल या संहितत्व का भाव लेने पर कवि की इस अनूठी उक्ति का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। सोना और सुहागा का मेल तो होता ही है, यथा: देइ सुहाग करै इक ठाऊँ (८९-७) अथवा : हरिजन हरि सौं अैसे मिलिया जस सोनै सग सुहागा (कबीर-ग्रन्थावली, परिषद्, पद १६-६)। वस्तुतः उनके सम्मिलन की प्रक्रिया या साधना का रहस्य अथवा अभिप्राय या सन्धान गूढ़ होता है।

[१७] ९३-२ : हौं सत लै निसरा एहि 'पतें'। सिंघल दीप राज घर हतें।

गुप्त जी—"मैं सिंहलदीप के राजगृह (राजकुल) से इसी प्रत्यय (विश्वास) से निकला हूँ।"

डॉ० अग्रवाल ने भी 'पतें' को सं० 'प्रत्यय' (विश्वास) से व्युत्पन्न माना है, किन्तु यहाँ वह वस्तुतः 'पत' (=मर्यादा ; जैसे 'पत पानी') का सप्तमी रूप ज्ञात होता है, जैसे 'मत' या 'मति' से 'मतें' बनता है (तुल० ९१-२ : मान मतें हौं गरब जो कीन्हां। मतें=मति से), उसी प्रकार 'पति' या 'पत' से 'पतें' । अतः उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ करना चाहिए—"मैं सत्त (व्रत) ठान कर सिंहलद्वीप के राजघर से इस मर्यादा में (से) निकला हूँ।" मर्यादा का उल्लेख अगले दोहे में हुआ है—जौं लहि जिऔं रात दिन सुमिरौं, मरौं तो ओहि लै नाउं।"

[१८] ११४-७ तथा ११७-१ में जायसी ने पद्मावती के शृङ्गार-वर्णन में 'नाभी कुंडर' का उल्लेख किया है। डॉ० गुप्त ने यद्यपि 'कुंडर' की व्युत्पत्ति का निर्देश 'कुण्डल' शब्द से उचित ही किया है और ११७ वें छन्द की टीका में 'चक्राकार' शब्द भी जोड़ दिया है, किन्तु सूर आदि के काव्य मे कुण्डल का मकराकृत वर्णन मिलने से जायसी की इस भिन्न कल्पना का पूर्ण बोध नही हो पाता। 'कुण्डल' वस्तुतः यहाँ नाभिप्रदेश के गोल आवर्त के लिए प्रयुक्त है; तुल० कबीर-ग्रन्थावली (परिषद्) साखी ७-१ : कस्तूरी कुंडलि बसै म्रिग ढूंढ़ै बन माँहि। कदाचित् 'कुंडर' के इस विशिष्ट अर्थ की पहचान के अभाव में ही डॉ० वासुदेवशरण जी ने 'नाभी कुंडर' के लिए 'नाभि कुण्ड' अर्थ दिया है।

[१९] ११७-१, २ : नाभी कुंडर मलै समीरू। 'समुंद भँवर जस भँवै गँभीरू'।
'बहुतै भँवर बौंडरा भए'। पहुँचि न सके 'सरग' कहँ गए।'

गुप्त जी की टीका है : उसका नाभि कुण्डल ऐसा [चक्करदार] है कि [उससे लग कर बहते हुए] मलय गम्भीर से गम्भीर समुद्र भौंरे के समान भ्रमित होने लगता है—उसमें भँवरें पड़ने लगती हैं। पुनः [उसी मलय समीर से आन्दोलित होकर वायु मे] अनेक आवर्त बवंडर के रूप में उठे और [जब उसके पास तक] न पहुँच सके तो वे स्वर्ग (आकाश) को चले गए।

संजीवनी व्याख्या इस प्रकार है : उसके नाभि कुण्ड में मलय की सुगन्धित वायु बहती है।

समुद्र के भँवर की भाँति वह गम्भीर नाभि घूमी हुई है अनेक लोग उस भँवर के बवंडर में आ गए और निश्चित स्थान तक न पहुँचकर स्वर्ग को चले गए।

मेरे विचार से इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—नाभिकुण्डल [के आवर्त] में मलय समीर गम्भीर समुद्र के भँवर के समान भ्रमित होता है या चक्कर मारता है। [मलय समीर के] उस चक्कर में बहुत से [लोग] बवंडर बने लेकिन [नाभि के पास तक] पहुँच न सके तो स्वर्ग को चले गए (अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुए)।

भँवर दोनों स्थलों पर आवर्त के रूप में प्रयुक्त है—पहली बार जल के आवर्त के लिए (तुल० मानस२-३४ : भँवर कूबरी वचन प्रचारा; तथा २-२७६-३: भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा) और दूसरी बार समीर के आवर्त के लिए। गुप्त जी का 'भौंरे के समान' अर्थ चिन्त्य है, कदाचित् 'भौरेह' का अपभ्रंश है। उनकी टीका से मूल भाव के स्पष्टीकरण में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है, इसीलिए उन्हें बड़े कोष्ठक में अपनी ओर से अनेक सङ्केत जोड़ने पड़े हैं।

[२०] ११९-४ : **बिरह भँवर होइ 'भाँवरि देई'। खिन खिन जीव हिलोरहि लेई॥**

गुप्त जी—वह विरह की भाँवरों में पड़कर चक्कर काटने लगा और क्षण-क्षण उसका जीव हिलोरें लेने लगा।

पद्मावती के नखशिख वर्णन के पश्चात् यह रत्नसेन के पूर्वराग का प्रसङ्ग है। इसके पूर्व ही कवि ने सङ्केत किया है: 'परा सो पेम समुंद अपारा।' वस्तुतः विवेच्य पंक्तियों का उपयुक्त अर्थ होना चाहिए : "विरह [उस प्रेम समुद्र में] भंवर बनकर उसे (अर्थात् रत्नसेन को) चक्कर देने लगा जिससे उसका जी हिलोरों के साथ डूबने उतराने लगा।" डॉ० अग्रवाल ने भी ऐसा ही अर्थ किया है और वही कवि की मूल शब्दावली के अनुकूल है।

[२१] १३४-१ : **निकसा राजा सिंगी पूरी। छांड़ि नगर 'मेला होइ दूरी'।**

गुप्त जी—राजा (रत्नसेन) सिंगी बजाकर निकल चला। नगर को छोड़कर और उससे दूर होकर उसने [औरों को] मिलाया (साथ लिया)।

डॉ० अग्रवाल—राजा ने निकलकर सिंगी बजाई—नगर छोड़कर दूर पहुँचना होगा।

प्रथम चरण का अर्थ गुप्त जी का मान्य है। किन्तु द्वितीय चरण के सम्बन्ध में दोनों टीकाओं में भ्रान्ति ज्ञात होती है। गुप्त जी ने कदाचित् इस पंक्ति का अन्वय इस प्रकार किया है: नगर छांड़ि दूरि होइ मेला। किन्तु 'मेला' सकर्मक क्रिया है और कर्म के अभाव में गुप्त जी को उसे अपनी ओर से जोड़ना पड़ा है। डॉ० अग्रवाल का अन्वय इस प्रकार ज्ञात होता है : नगर छांड़ि दूरि मेला होइ' (मेला=सम्मिलन का स्थान, संज्ञा)। इस अर्थ में क्लिष्ट कल्पना ज्ञात होती है। जायसी का मूल भाव कदाचित् यह है "राजा सिंगी बजाकर निकल चला और दूर हो नगर त्याग दिया।" अन्वय : दूर होइ नगर छांड़ि मेला। 'छाँड़ि मेला' या 'छाँड़ि घाला' अवधी का विशिष्ट मुहावरा है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'छोड़ डाला' अर्थात् 'त्याग दिया'।

[२२] १३५-४ : **दहिनें मिरिग आइ गौ धाई। प्रतीहार बोला 'खर' बाईं।**

प्रसङ्ग रत्नसेन की सिंहलयात्रा का है दूसरे चरण का अर्थ गुप्त जी ने इस प्रकार किया है

प्रतिहार (तीतर) बाईं ओर प्रखर [स्वर में] बोला है। डॉ० अग्रवाल ने 'प्रतीहार' को कौवा माना है, शेष कोई अन्तर नहीं। किन्तु यहाँ भी 'प्रखर' विशेषण का विशेष्य 'स्वर' अपनी ओर से मिलाना पड़ता है। मेरे विचार से इसका अर्थ होना चाहिए : "प्रतीहार और खर (गर्दभ) भी बाईं ओर बोला।" यात्रा के समय गर्दभ, उलूक, शृगाल का बाईं ओर या पीठ की ओर बोलना शुभ माना गया है। तुलनीय : चतुर्थीलाल शर्मा कृत मुहूर्तप्रकाश, यात्रा प्रकरण, श्लोक १४३ पृ० १२६, यथा—खरोलूक शृगालानां वामे पृष्ठे शुभः स्वनः; मुहूर्त्तचिन्तामणि, यात्रा प्रकरण, श्लोक १०४ में 'वामे खरस्वनः', जिसे डॉ० अग्रवाल ने इस प्रसङ्ग में उद्धृत किया है, का अर्थ 'गर्दभ का बोलना' ही लेना चाहिए, जैसा कि 'मुहूर्त्तप्रकाश' के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है।

[२३] १४८-१ : केवट हँसे सो सुनत 'गँवेजा'।

'गँवेजा' को डॉ० गुप्त ने 'गव्व+एज' से व्युत्पन्न मानकर उसका अर्थ गर्वोक्ति (गर्व का झोंका) किया है। डॉ० अग्रवाल ने कुँवर सुरेश सिंह और डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' की सूचनाओं के आधार पर 'गँवेजा', 'गौंजा' या 'गँएजा' का 'अर्थ 'गँवई बातचीत' किया है। अवधी क्षेत्र में 'गौजव' का 'गौंचब' रूपान्तर भी प्रचलित है जिससे 'गौंचार' (शोरगुल, निरर्थक बातचीत) शब्द बनता है (मूल कदाचित् 'गर्वोच्चार' या 'ग्राम्योच्चार')। 'गौंजा' इसी 'गौंचा' से बना हुआ ज्ञात होता है (अल्पप्राण अघोष का अल्पप्राण सघोष में परिवर्तन)। 'गौंचना' बढ़-बढ़ कर बोलना भी है। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में गर्वोक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि केवट रत्नसेन के साथियों की मूर्खता ही बतलाते हैं—यह तो चाल्हा है, इससे भी बड़ी रोहू होती है; उसे देखोगे तो क्या कहोगे ?—"अबहीं तौ तुम देखे नाहीं। जेहि मुख ऐसे सहस समाहीं।" इसलिए 'गँवेजा' का अर्थ 'निरर्थक गँवई वार्ता' ही अधिक उपयुक्त जँचता है, जैसा कि डॉ० अग्रवाल ने किया है।

[२४] १४८-२ : यह तो चाल्ह न लागै कोहू। 'काह' कहौ जौ देखहु रोहू।

प्रथम चरण का अर्थ गुप्त जी ने किया है : "यह तो चाल्हा ही था, [इसे ही देखकर] क्रोध न लगे।" किन्तु क्रोध का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। रत्नसेन के साथी तो बिचारे भयभीत हैं—'होहु सँजूत बहुरि नहिं अवना' (१४७–७)। संजीवनी व्याख्या इस प्रकार है—"यह तो चेल्हुवा मछली है जो किसी को नहीं सताती। रोहू देखोगे तो क्या कहोगे ?" यह टीका अधिक सङ्गत प्रतीत होती है। अवधी 'काहू' 'कोहू' वस्तुतः 'काऊ', 'कोऊ' (सं० कोऽपि) से विकसित है। पश्चिमी अवधी में 'कौन है ?' के लिए 'के आय ?' या 'को आय ?' दोनों रूप प्रचलित हैं; तुल० २६५–१ : मैं अग्या को भाँट अभाऊ। अतः 'कोहू' का अर्थ 'किसी को भी' पूर्णतया सङ्गत है। वैसे प्रसङ्गानुसार 'कोहु' या 'कोहू' क्रोध का भी अर्थ देते हैं, जैसे २१८-८ कहत न मानहु कोह। अथवा २२१–८ : जोगिहि कोह न चाहिअ।'

[२५] १५०-८, ९ : खार समुंद सो नाँघा, आए समुंद जहँ खीर।
'मिले समुंद वै सातौं', बेहर बेहर नीर

उक्त दोहे की दूसरी पंक्ति का अर्थ डॉ० गुप्त तथा डॉ० वासुदेवशरण जी ने इस प्रकार किया है वे सातों समुद्र मिले हुए थे, किन्तु उनके जल पृथक्-पृथक् थे।'

सातों समुद्र परस्पर मिले थे, इस कथन से कोई विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कवि का भाव वस्तुतः यह ज्ञात होता है कि : [मार्ग में] वे सातों समुद्र मिले जिनके जल भिन्न-भिन्न [रंग के] थे।

[२६] १५४-४ : गुरु के 'पास' दाख रस 'रसा'। बैरि बबूर मारि मन 'कसा'।

'पास', 'रसा' और 'कसा' कल्यपालों के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं जिनका स्पष्टीकरण किसी भी टीका में न होने के कारण न तो जायसी के रूपक का सौन्दर्य निखर पाता है और न उनकी बहुज्ञता का परिचय मिल पाता है। पहले द्राक्षा या महुवा आदि रसवाते या बोसते हैं। उसमें पुराना गुड भी डालते हैं और बबूल या बेर की छाल कसकर या छीलकर उसका कसाव डालते हैं (बबूर या बेर के छिलके को 'कसु' कहा जाता है)। इस मिश्रण को कुछ समय के लिए सड़ने के लिए रख दिया जाता है, इसी को पारिभाषिक शब्दावली में पास डालना या लाहन मेलना कहते हैं (तुल० पाइअ०, पृ० ५९३ : पास-अन्य वस्तु का अल्प मिश्रण, यथा: निच्चुओ तंबोलो पासेण विणा न होइ जह रंगो।) अन्त में भट्ठी पर चढ़ाकर नल भभके से मदिरा उतारते हैं। जायसी का कथन है कि "गुरु के सकाश (पास<पार्श्व) में [प्रेम] द्राक्षा का रसास्वाद किया। अथवा गुड़ (गुर=गुड़) के पास (घोल या मिश्रण) में दाख रस रसवाया या बोझा और बबूल बैरी (दुर्वासनाओं) को मारकर मन पर नियन्त्रण किया, अथवा बेर और बबूल की तरह मन को मारकर (छीलकर) उसका कसु दिया।" तुल० 'कबीर-ग्रन्थावली (परिषद्) पद५१-३,४ :

> **काया कलाली लाहनि मेलेउ गुर का सबद गुड़ कीन्हां।**
> **त्रिसनां कांम क्रोध मद मत्सर काटि काटि कसु दीन्हां।**

अथवा नानक-वाणी, (डॉ० जयराम मिश्र द्वारा सम्पादित, मित्र प्रकाशन) रागु आसा ३८-१, पृ० २७६, यथा—

> **गुड़ करि गिआनु धिआनु करि धावै करि करिणी कसु पाईअै।**

(टिप्पणी : धावै=महुवा; कसु=बबूल की छाल)

यह ज्ञातव्य है कि कसु देने में प्रायः बेर या बबूल की ही छाल पड़ती है। इससे मदिरा का तीखापन बढ़ता है और उसका रंग भी चटक होता है।

उक्त टीकाओं से एक पक्ष तो स्पष्ट होता है, किन्तु दूसरा पक्ष अस्पष्ट रह जाता है और कहने की आवश्यकता नहीं कि जायसी के शब्दस्थापन में दोनों का बराबर ध्यान रखा गया है।

[२७] १५५-६ : फिरत समुंद जोजन लख 'ताका'। जैसें फिरै कुम्हार क चाका।

प्रथम चरण का अर्थ गुप्त जी का है—"एक लाख योजन तक समुद्र इस प्रकार चक्कर खाता दिखाई पड़ता था।"

संजीवनी—"उसका समुद्र लाख योजन तक घूमता था।" संजीवनी व्याख्या यहाँ मूल भाव के अधिक निकट ज्ञात होती है

किन्तु उपर्युक्त अर्थ से यह प्रतीत होता है—"उसका (किलकिला का) लाख योजन का समुद्र [ऐसा] चक्कर खाता जैसे कुम्हार का चाक घूमता हो।" ताका=उसका, न कि 'तक' या 'दिखाई पड़ता था'।

[२८] १५६-७ में डॉ० गुप्त ने **'पैनाई'** की व्युत्पत्ति 'प्रकीर्णता' से बताई है। वस्तुतः 'पैना' (सं० पैण=तीक्ष्ण) से भाववाचक संज्ञा रूप 'पैनाई' बनता है। पइण्ण, पइण्णग (=प्रकीर्ण, प्रकीर्णक) के 'पाइअसद्दमहण्णवो' में निक्षिप्त, मिश्रित, विस्तारित, ग्रन्थविशेष—यही अर्थ दिये हुए हैं।

[२९] १६७-४ : बिरह 'धँधोर' जरत न बुझाई।

गुप्त जी ने 'धँधोर' का अर्थ दिया है : 'ऐसी हवा जो चक्कर देती हुई चलती है' और तुलना के लिए 'धंधोलिय' (=भ्रमित) शब्द का उल्लेख किया है (दे० पाइअ०, पृ० ४८३)। किन्तु 'धंधोलिय' विशेषण है और वह केवल हवा के लिए विशिष्ट रूप से नहीं प्रयुक्त होगा। डॉ० अग्रवाल ने 'धँधार' पाठ का 'प्रचण्ड अग्नि' अर्थ किया है और यही अर्थ प्रयोगसम्मत है। 'धँधोरा' या 'धँधार' अवधी तथा भोजपुरी के अत्यधिक प्रचलित शब्द हैं। जाड़े में तापने के लिए कौडा जब धूँ-धूँ करके जलने लगता है तो उसे 'धँधोरा' कहते हैं। 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' (पृ०६३८) मे (१) होली और (२) आग की लपट, यह दो अर्थ इस शब्द के दिये हुए है। "विरह का धँधोरा (प्रचण्ड ज्वाला) ऐसा जलता है कि बुझता नहीं"—यही कवि का मूल भाव ज्ञात होता है।

[३०] १७४-५ : कवन देव कहँ जाइ परासौं। जेहि सुमेर हिय 'लाइ गरा सौं'।

डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल दोनों ने 'गरा' और 'सौं' को पृथक् पद मानकर उसका अर्थ 'गले से' किया है, किन्तु मेरी समझ से 'गरासौं' को सम्पृक्त रूप में उसी प्रकार क्रियापद मानना चाहिए जैसे प्रथम पंक्ति में 'परासौं' है। अन्यथा 'लाइ' पूर्वकालिक का अर्थ 'लगाऊँ' विवादास्पद हो जाता है। (गरासना=कसकर पकड़ना, गाढ़ालिङ्गन करना)।

[३१] १७४-६ : गुपुत जो फल 'साँसहिं' परगटे। अब होइ सुभर चहँहि पुनि घटे।

गुप्त—[यौवन के] जो गुप्त फल सांश रूप में [कभी] प्रकट हुए थे, वे भलीभाँति भरपूर होकर अब पुनः घटना चाहते हैं।

यह पद्मावती के पूर्वराग का प्रसङ्ग है। मेरे विचार से डॉ० अग्रवाल की टीका इस प्रसङ्ग मे अधिक स्पष्ट है, यथा : "यौवन के जो फल (स्तन) गुप्त थे अब उच्छ्वासों के साथ प्रकट हो रहे हैं। वे अब सुभर होकर घटना चाहते है।"

'साँस' से 'सांश' अर्थ करना सन्तोषप्रद नहीं लग रहा है।

[३२] २०९-२, ३ : पारबती मन उपना चाऊ। देखौं कुँवर केर सत भाऊ।
बुझौं यह 'चौंच' कि पेमहिं 'पूघा'।

मन्तिम पक्ति का अथ गुप्त जी ने इस प्रकार किया है वह पावती देखे कि यह अभी

बीच में ही है या प्रेम[के लक्ष्य]तक पहुँच गया है।" किन्तु 'पुजना' पहुँचने के अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता। डॉ० अग्रवाल का अर्थ है: "क्या यह अभी बीच में (कच्चा) है या प्रेम में पूरा हो चुका है।"

मेरी समझ से इसका अर्थ होना चाहिए:"देखूँ कि यह प्रेम से पुज गया है अर्थात् आपूरित हो गया है या अभी [कुछ] बीच (अन्तर या रिक्तता)है।" अन्वय इस प्रकार होगा : दहुँ यह पेमहिं पूजा कि [कछु] बीच ?

[३३] २११-२ : 'परिमल पेम' न आछै छपा।

गुप्त जी—'प्रेम का परिमल छिपा नहीं है'।रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा लेने के अनन्तर यह पार्वती का महादेव के प्रति कथन है। डॉ० अग्रवाल का यह अर्थ कि 'सुगन्धि और प्रेम छिपे नही रहते' अधिक युक्तियुक्त लगता है। गुप्त जी ने कदाचित् 'आछै' एक वचन की क्रिया के कारण एकवचन कर्त्ता का प्रयोग उचित समझा (और वह उचित है भी); किन्तु 'पदमावत' में क्रियाओं का इस प्रकार का प्रयोग अन्यत्र भी मिल जाता है; तुल० २५४-५ : सग्ग पतार जरै तेहि झारा।

[३४] २२०-५ : औ छूटहिं तहँ बज्र के गोटा। बिसरै भुगुति होहु सब 'रोटा'।

'रोटा' का अर्थ उपर्युक्त दोनों विद्वानों ने 'रोट' (=बड़ी रोटी) किया है—अर्थात् रोट जैसे सपाट होता है वैसे ही तुम भी हो जाओगे। किन्तु यह अर्थ प्रयोगसम्मत नहीं ज्ञात होता। यहाँ 'रोटा' वस्तुतः 'रावट' (लाजावर्त=कसौटी का काला पत्थर) है। जल भुन कर कसौटी की तरह काला हो जाने के लिए अवधी में 'रौटाबरन' (रावट+वर्ण) प्रचलित है। 'रोटा' रोड़ा (पत्थर या ईंट के छोटे-छोटे टुकड़े) भी हो सकता है। यहाँ सिंहलनरेश गन्धर्वसेन के दूत रत्नसेन और उसके साथियों को धमकाते हैं कि गढ़ से वज्र के गोले छूटेंगे तो सब भुगुति भूल जायगी और गोलों में भुनकर रौटाबरन हो जाओगे अथवा रोड़ों की तरह चूर-चूर हो जाओगे। 'रोट या रोटी बन जाना' ऐसा कोई मुहावरा प्रचलित नहीं है।

[३५] २३४-२ : होहु पतंग 'अधर' गहु दिया।

गुप्त जी—तूं पतिंगा बन और स्वयं अधरों से दीपक को पकड़ (उस पर भस्म हो जा)।

अग्रवाल—पतङ्ग बनो और अपने अधरों से दीपक चाटो।

किन्तु यहाँ 'अधर' ओष्ठ का वाचक नहीं ज्ञात होता प्रत्युत दीपदानी का अधरासन ज्ञात होता है। (तुल० सूर: कच्छप अध आसन अनूप अति डांडी सहस फनी)। अतः विवेच्य पंक्ति का अर्थ करना चाहिए—"पतिंगा बनो और [मर कर] दिये के अधरासन [का आश्रय] ग्रहण करो। अर्थात् प्रिय के चरणों में बलि हो जाओ।" पद्मावती का यही सन्देश रत्नसेन के लिए है।

[३६] २३५-२ : 'गही पिंगला सुखमन नारी'। सुधि समाधि लागि गौ तारी।

- गुप्त जी—उसने पिङ्गला और सुषुम्ना नाड़ियों का आश्रय पकड़ा

डा० और सुषम्णा नाड़ियों के वश में होने से शून्य समाधि लगी।

गुप्त जी का अर्थ तो सिद्धान्ततः अस्वीकार्य है क्योंकि पिङ्गला के आश्रय से योगी की समाधि नहीं लगती है। उन्होंने टिप्पणी में पिङ्गला को शीतल नाड़ी बताया है, किन्तु जिस स्रोत से उन्हें यह सूचना मिली वह किञ्चित् भ्रमात्मक ज्ञात होता है। हठयोगप्रदीपिका (३-३२) मे 'इड़ा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी' ऐसा उल्लेख मिलता है। 'बौद्ध गान ओ दोहा' मे सिद्ध डोम्बिपाद की चौदहवीं चर्या की संस्कृत टीका में बताया गया है: "गङ्गायमुनेति सन्धया चन्द्राभाससूर्याभासौ ग्राह्यग्राहकौ।" सूर्य नाड़ी होने के कारण उसकी प्रकृति उष्ण मानी गई है। यह भी ज्ञातव्य है कि पौराणिक मान्यतानुसार यमुना सूर्यपुत्री हैं। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा सिद्धों मे क्रमशः ललना, रसना, अवधूती हैं, यथा—

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपाय संस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्ज्जिता॥

—हेवज्रतन्त्र (डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा 'स्टडीज इन दि तन्त्राज़' पृ० ६५ पर उद्धृत)

डॉ० बागची ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि इडा, पिङ्गला क्रमशः चन्द्र-सूर्य, नाद-विन्दु, प्रज्ञा-उपाय, गङ्गा-यमुना, अधर्म-धर्म, अपर-पर, अविद्या-विद्या, अभाव-भाव, प्रकृति-पुरुष, शक्ति-शिव, ग्राहक-ग्राह्य, रात्रि-दिन आदि की प्रतीक है (पृ०६९)। मन की गति जब तक इन दोनों में रहती है, उसकी सहज स्थिति नहीं हो पाती। जब दोनों को मिलाकर उनकी स्थिति सुषुम्णा या अवधूती में की जाती है तभी सहजावस्था या शून्य समाधि होती है और तभी 'तारी' लगती है। इसीलिए सरहपा कहते हैं—

चंद सुज्ज घसि घालिअ घोट्टइ।
पाब पुण्ण तब ता खन टुट्टइ।

अर्थात् चन्द्र और सूर्य को जब घिस घोटकर उनका अस्तित्व मिटा दिया जाय तब तत्क्षण पाप-पुण्य की भावना विनष्ट हो जाती है(पृ० ६२ पर उद्धृत)। यही विचारधारा केवल नामभेद से नाथ योगियों में भी चलती रही जिनका अत्यधिक प्रभाव जायसी पर है। तात्पर्य यह कि पिङ्गला के आश्रय से सहज समाधि नहीं प्राप्त होती, वह वस्तुतः प्राप्त होती है सुषुम्णा के आश्रय से जो कि ग्राह्यग्राहकवर्ज्जिता अथवा भावाभावविनिर्मुक्ता है। अतः विवेच्य पंक्ति का अर्थ करना चाहिए—"पिङ्गला ने सुषुम्णा नाड़ी का आश्रय ग्रहण किया (पिङ्गला की गति सुषुम्णा में हुई)। तब शून्य समाधि लगी और तारी लग गई।" वैसे श्लेष के आधार पर भर्तृहरि तथा उनकी प्रेयसी पिङ्गला का भी सङ्केत ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि डॉ० अग्रवाल का सुझाव है, किन्तु वह कवि का गौण भाव ही माना जायगा।

[३७] २३९-७ : चोर पुकारि 'भेद गढ़' मूसा।

"चोर पुकार लगाकर भेद (रहस्य) गढ़ में चोरी करते हैं।" गुप्त जी के इस अर्थ की अपेक्षा डॉ० अग्रवाल का यह अर्थ कि चोर हाँक देकर गढ़ का भेदन करके चोरी करते

हैं' अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। भेद गढ़ (गढ़ का भेदन कर) सुस्पष्ट है जबकि रहस्यगढ़ (अर्थात् भेद विशेषण रूप मे) रहस्यमय हो गया है

[३८] २६५-१ : मैं अग्या को भाँट 'अभाऊ'। बाएँ हाथ देइ बरम्हाऊ।

गुप्त जी ने 'अभाऊ' को 'अभाग' से व्युत्पन्न मानकर उसका अर्थ 'अयोग्य अथवा बुरे स्थान का' किया है (दे० पाइअ० भाअ=योग्य स्थान, पृ० ६४८)। डॉ० अग्रवाल ने उसे 'अभव्य' से व्युत्पन्न माना है और अर्थ किया है: अनुचित व्यवहार या अनादर करने वाला। अवधी मे 'भाउ' शब्द (१) आदर (२), हावभाव (घमंड), (३) अवस्था या दशा के अर्थ में प्रयुक्त होता है; उदाहरणतया: (१) बड़े 'भाउ' (=आदर) से मिले, (२) आज-कल उनका 'भाउ' (=शेखी) चढ़ा बढ़ा है; तीसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग स्वतः जायसी ने अन्यत्र किया है (तुल० २७६-५ : काढ़हु मुद्रा फटिक अभाऊ)। यहाँ इस शब्द की व्युत्पत्ति का क्रम इस प्रकार भी माना जा सकता है : अभ्राज>अभाज>अभाअ=अशोभनीय। 'अभव्य' भी सम्भव है, किन्तु प्रथम दोनो रूप सं० 'भाव' से ही विकसित माने जा सकते हैं (तुल० पाइअ० पृ० ६५० पर 'भाव' का १५वां अर्थ यथा: अन्तरंग, बहुमान, प्रेम, राग' तथा १९ वाँ अर्थ 'अवस्था, दशा'। प्रस्तुत प्रसङ्ग मे 'अभाउ' अनादर के ही अर्थ में प्रयुक्त ज्ञात होता है, अतः डॉ० अग्रवाल की टीका मान्य है, किन्तु उसकी व्युत्पत्ति सन्देहास्पद ज्ञात होती है।

[३९] २७७-१ : साजा राजा बाजन बाजे। 'मदन सहाय' दुहूँ दिसि गाजे।

गुप्त जी—राजा (रत्नसेन) ने वर वेश में सजावट की, बाजे बजने लगे। दोनों ओर से मदन के सहायक कामोत्तेजक [बाजे] गर्जन करने लगे।

किन्तु केवल बाजों के लिए एक बार 'बजने लगे' और पुनः 'गर्जन करने लगे, इन दो समानार्थी क्रियाओं की पुनरुक्ति जायसी की भाषा का लचरपन सिद्ध करती है जिसका वस्तुत लेशमात्र भी उसमें नहीं है। यहाँ 'मदन सहाय' को मेघ का वाचक मानने से ही श्रेष्ठ अर्थ निकलता है, जैसा कि डॉ० अग्रवाल ने माना है अर्थात् "बाजे बज उठे मानों दोनों ओर मेघ गर्जने लगे।"

[४०] २८०-५ : हुलसी लंक कि रावन राजू। 'राम लखन' दर साजहिं साजू।

डॉ० गुप्त—उसकी (अर्थात् पद्मावती की) कटि [इस आशा से] उल्लसित हो उठी कि (उस पर) रावण [रमण] का राज्य हुआ जबकि राम लक्ष्मण (प्रेम के विरोधी भाव, यथा भय, सङ्कोच आदि) [उस रावण से सङ्घर्ष करने के लिए] अपना दल सजा रहे थे।

किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्रेम के विरोधी भावों के उल्लेख से अर्थ में अपकर्ष हो जायगा। छन्द के आरम्भ में ही कवि 'अस्टौ भाउ मदन तनु गाजा' का उल्लेख कर आगे क्रमशः नेत्र, अधर, मुख, हृदय, कुच, भुजा, कटि (लंक) का वर्णन कर चुका है और यहाँ तक अर्थात् विवेच्य पंक्ति के प्रथम चरण तक केवल सात अङ्गों का उल्लेख हो पाया है, अतः द्वितीय चरण में अवश्य ही साङ्केतिक शैली में नायिका के किसी अङ्ग का वर्णन है। संजीवनी में इसके तीन अर्थ दिये गये हैं :—राम लक्ष्मण की सेना सुलक्षणी स्त्रियाँ (लक्षणवती रामा) का समूह, तथा रामा (पद्मावती) के लक्षणों

(शृङ्गार) का दल। मेरी समझ से यहाँ लाक्षणिक शैली में नायिका के गुह्याङ्ग का सङ्केत है (रामा=स्त्री का, लखन=लक्षण अर्थात् स्त्री लक्षणाङ्ग) जैसा कि डॉ० अग्रवाल ने छन्द की प्रथम पंक्ति की टिप्पणी में आठवें स्थान का 'काम मन्दिर' शब्द द्वारा इङ्गित किया है। जायसी इस दिशा में निरंकुश हैं। एक अन्य स्थल पर भी उन्होंने इसी प्रकार साङ्केतिक भाषा में स्त्री गुह्याङ्ग का उल्लेख किया है (दे० ११७-३ : चंदन माँझ कुरंगिनि खोजू। कुरंगिनि खोजू=हिरनी का खुर)।

[४१] २८९-६ : भुइँ 'गच' मानहु समुँद हिलोरा।

गुप्त जी ने 'गच' को पक्की छत बताया है; किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'भुइँ गच' का तात्पर्य गच की हुई या सुर्खी चूने से पक्की की हुई ज़मीन या फ़र्श है। डॉ० अग्रवाल ने संजीवनी व्याख्या में सूचित किया है कि संग जराहत फूँक कर बनाए हुए चूने या उससे ढले फ़र्श को 'गच' कहते हैं। 'समुँद हिलोरा' को भी उन्होंने स्थापत्य की एक विशिष्ट शैली माना है जिसमें पत्थर या ईंटों के चौकों को लहरियादार शैली में रखा जाता था। फ़र्श को रगड़ कर खूब चिकना करने पर उसमें चमक उठती है, जो पानी की सतह जैसी ज्ञात होती है। अतः मेरी समझ से जायसी का तात्पर्य यहाँ यही ज्ञात होता है कि "गच किया हुआ फ़र्श [ऐसा चिकना था] मानों समुद्र हलरे या हिलोरें ले।"

[४२] २९८-९ : 'काल कोटि' एइ ओनए सब मोरे जिय लागि।

गुप्त जी ने जायसी ग्रन्थावली' (एकेडेमी संस्करण) में 'कालकूट' पाठ ग्रहण किया था जिसके आधार पर इस पंक्ति का यह उत्कृष्ट अर्थ किया जा सकता है—"ये सब (सखियों द्वारा वर्णित पद्मावती के अधर, कपोल, तिल आदि अङ्ग प्रत्यङ्ग) मेरे (रत्नसेन के) प्राण [लेने] के लिए कालकूट [होकर] उन्नमित हुए हैं।" इस संस्करण में उन्होंने अवश्य ही किसी पुष्ट साक्ष्य के आधार पर (यद्यपि उसका उल्लेख नहीं किया है), 'कालकोटि' पाठ स्वीकार कर उसका अर्थ 'कोटि काल' किया है। किन्तु मुझे प्रथम पाठ ही श्रेष्ठतर ज्ञात होता है। यदि 'कोटि काल' अर्थ ही कवि को अभीप्ट होता तो वह उसे इसी रूप में रख सकता था, क्योंकि इस परिवर्तन से मात्रा में कोई अन्तर न आता।

[४३] ३०८-५ : जौं मजीठ औटै औ पचा। सो रँग जरम न डोलै 'रँचा'।

गुप्त जी (द्वितीय चरण)—"तो वह (उसका रंग) जन्म पर्यंत रंच मात्र नहीं हटता है।" डॉ० अग्रवाल—"तो उसका रंगा हुआ पक्का रंग जन्म भर नहीं उड़ता।"

वस्तुतः दूसरा अर्थ ही श्रेष्ठतर ज्ञात होता है। किन्तु अन्वय होना चाहिए—सो रँग रँचा जो जरम न डोलइ; अर्थात् "[तो] ऐसा रंग रच उठता है कि जन्म भर नहीं मिटता।" कदाचित् सानुस्वार रहने से गुप्त जी ने 'रँचा' का रंच या लेशमात्र अर्थ किया है, किन्तु रँगने के अर्थ में इसका प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है: तुल० २३१।३ : न जनहु प्रीति रंग थिर राँचा

[४४] ३१०-१ : **जोगिन्ह बहुतै छन्द 'ओराहीं'। बुंद सेवातिहि जैस पराहीं।**
परै समुंद्र खार जल ओहीं। परै सीप मुंह मोती होहीं॥

कठिनाई प्रथम चरण के सम्बन्ध में है। गुप्त जी ने इसका अर्थ किया है—"योगियों को बहुतेरे छद्म अवतरित होते हैं।" (ओराहीं=अव+तृ=अवतरित होना)। किन्तु इससे कवि का मूल भाव स्पष्ट नहीं होता। 'ओराहीं' वस्तुतः जायसी का अति क्लिष्ट और विरल शब्द है जिसने सभी टीकाकारों को चक्कर में डाल दिया है। डॉ० वासुदेवशरण जी ने अपनी व्याख्या में इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के मत उद्धृत किये हैं, यथा—भगवानदीन जी : 'अउराहीं'=आते हैं, विचार में आते हैं; शुक्ल जी : 'न ओराहीं' ('न' कदाचित् 'जोगिन' का 'न')—नहीं चुकने, लक्ष्मीधर: 'ओराहीं'=होना; शब्दसागर: 'ओराना'=अन्त तक पहुँचना। इसके पश्चात् उन्होंने लिखा है, "व्युत्पत्ति अनिश्चित पर 'उपराहीं' से सम्भव है जिसका अर्थ होगा ऊपर आना।" अर्थात् जोगियों में बहुत से छल छन्द भरे होते हैं।

मेरी समझ से यह अवधी के अति ठेठ शब्द 'ओल्हाहीं' का रूपान्तर है जिसका अर्थ है अच्छा लगना या रुचना। उदाहरणतया 'जेंवन कइसे ओल्हाइ'=भोजन कैसे रुचे; 'ओनकर गाउब बहुत ओल्हात अहै'=उनका गाना बहुत अच्छा लग रहा है या रुचता है। व्युत्पत्ति 'अव+लिह्' (आस्वादने) से ज्ञात होती है। इसके अनुसार विवेच्य पंक्ति का अर्थ होगा—'योगियों को छल-छन्द बहुत ही रुचते हैं (अच्छे लगते हैं)'। इसके पूर्व भी पद्मावती ने रत्नसेन के प्रति इसी प्रकार की व्यंग्योक्ति की है; तुल० ३०६-४ :

जोगी सबै छन्द अस खेला। तूँ भिखारि केहि माँह अकेला॥
पवन बाँधि अपसवहिं अकासाँ। मनसहि जहाँ जाहिं तेहि पासाँ॥
तैं तेहि भाँति सिस्टि यह छरी। एहि भेस रावन सिय हरी॥ आदि

जायसी में 'ल्' का 'र्' में स्थानान्तरण ऐसे विलक्षण ढङ्ग से मिलता है कि कहीं-कहीं बड़ा भ्रम होने लगता है; जैसे—२११-९ : गरि गुरि (=गलि गुलि); २८१-९-दिसासूर (दिशाशूल∠दिक्शूल); ४३२-४ : कोराहर (=कोलाहल); ५२७-७ घनतारा (=घनताला), ५२९-७: तारा (=ताला)। यहाँ भी इसी प्रकार 'ओल्हाहीं' या 'ओल्हाहीं' का 'ओराहीं' मिलता है।

[४५] ३४५-१ : **सावन बरिस मेंह अतिवानी। 'भरनि' भरइ हौं बिरह झुरानी।**

'भरनि' का अर्थ डॉ० गुप्त ने किया है धान की खेती के योग्य पानी की भरान। डॉ० अग्रवाल ने 'भरनि' को मूसलाधार वृष्टि माना है। किन्तु 'भरनि' वस्तुतः पानी की भरान या भरने की क्रिया है। जनपदीय बोली में गढ़े या ताल-तलैया भर जाने को 'भरनि' कहते हैं। यह अवश्य है कि उससे धान की खेती भी आरम्भ होती है, किन्तु धान की खेती से इस शब्द का कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गुप्त जी ने माना है।

[४६] ३४५-२ : **लागु 'पुनर्बसु' पीउ न देखा। भै बाउरि कहँ कंत 'सरेखा'।**

गुप्त जी—"पुनर्वसु नक्षत्र लग गया और मैंने अभी तक प्रिय को नहीं देखा। मैं बावली हो गई हूँ। मेरा समझदार कान्त कहाँ है?

डॉ० अग्रवाल—"पुनर्वसु लग गया; क्या प्रियतम ने उसे नहीं देखा (अर्थात् मेरे पति चतुर हैं, अगर उन्हें पुनर्वसु लगा मालूम होता तो वे उसका सङ्केत समझ कर अवश्य लौट आते)।"

किन्तु यहाँ 'पुनर्वसु' और 'सरेखा' में श्लेष भी है जिसकी ओर किसी टीकाकार का ध्यान नहीं गया। इससे जायसी के उत्कृष्ट कल्पना-वैभव का परिचय अंशतः अपूर्ण रह गया जिसने इस बारहमासे को हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान प्रदान किया। नागमती कहती है, "पुनर्वसु (श्लेपार्थ 'पुनः + बसु' अर्थात् पुनः बसाने वाला, परदेसियों को घर वापस लाने वाला) नक्षत्र लग गया ; किन्तु मैंने अभी तक प्रिय को नहीं देखा। मैं बावली हो गई हूँ, मेरा सुजान कान्त कहाँ है (श्लेषार्थः सरेखा (आश्लेषा) नक्षत्र लगा लेकिन मेरा [सरेखा] कान्त कहाँ ?)।"

यह ध्यान देने योग्य है कि चौमासा या वसिकाला के सभी नक्षत्रों का उल्लेख जायसी ने किया है—आषाढ़ अथवा उससे भी पूर्व 'जेठ असाढ़ी' के मृगशिरा-आर्द्रा (छन्द ३४३-४४) से लेकर क्वार-कार्तिक के सन्धिकाल अर्थात् हथिया, चित्रा, स्वाती तक (छन्द ३४७)। कारण यह है कि कृषकवर्ग अन्य नक्षत्र चाहे जाने या न जाने, वर्षाकाल के नक्षत्र अवश्य जानता है, क्योंकि इन पर उसकी जीविका निर्भर है,। अतः 'सरेखा' का श्लेषार्थ लेना आवश्यक है अन्यथा एक नक्षत्र का व्यवधान रह जायगा जो जायसी को अभीष्ट नहीं। कहने की आवश्यकता नही कि आश्लेषा नक्षत्र को लोक में 'सरेखा' ही कहा जाता है।

[४७] ३४५-६ : जिउ बाउर भा भवै 'भँभीरी'।

'भँभीरी' अथवा 'भँभेरी' अवधी तथा भोजपुरी का बहुप्रचलित शब्द है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति ज्ञात होती है। डॉ० गुप्त ने इसे 'भंभाराली' से व्युत्पन्न मानकर अर्थ किया है—एक प्रकार की मक्खी जो बहुत भनभनाती है। मूल शब्द कदाचित् 'भंभाराली' नही, प्रत्युत 'भंभारोली' होना चाहिए (भंभा=भाँय भाँय का शब्द, दे० पाइअ० पृ० ६४१-तुल० अवधी 'भंभ रटब'=सुनसान का भाँय भाँय शब्द+रोली=रोल या रव करने वाला—दे० पाइअ० पृ० ७१८)। किन्तु यह व्युत्पत्ति भी चिन्त्य ज्ञात होती है। भंभ + कीट (ी) 7 भंभ कीड़ी 7 भभ-ईडी 7 भंभीरी—यह विकासक्रम अधिक सन्तोषप्रद लगता है। श्री रामचन्द्र वर्मा ने इसकी व्युत्पत्ति स० 'भ्रमरी' से मानकर अर्थ दिया है—फिरकी नाम का काठ का खिलौना जो खूब चक्कर काटता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने जायसी की यही पंक्ति उद्धृत की है (दे० प्रामाणिक हिन्दी कोश)। यह अर्थ भी सन्तोषप्रद ज्ञात होता है, किन्तु वर्षा के अन्त का वर्णन होने के कारण 'शब्दसागर' के साक्ष्य के अनुसार इसे कीड़ा मानना ही अधिक प्रसङ्गसम्मत ज्ञात होता है (अर्थात् एक पतिंगा जो वर्षा के अन्त में प्रायः पानी के किनारे घास के ऊपर दिखाई पड़ता है)।

[४८] ३४७-२ : तोहिं देखे पिउ पलुहै काया। 'उतरा चित्त' बहुरि करु माया।

'उतरा' भी 'सरेखा' की भाँति श्लिष्ट पद है जिसकी ओर डॉ० गुप्त की टीका में कोई सङ्केत नहीं मिलता। 'संजीवनी' में उसका सङ्केत अवश्य है- किन्तु उसके अर्थ के सम्बन्ध में मेरा डा० से कुछ मतभेद है उन्होंने उतरा चित्त' का अथ किया है उत्तरा से चित्रा के बीच

चित्रा का उल्लेख आगे दो पंक्तियों के बाद कवि ने किया है इसलिए डा० अग्रवाल का अर्थ स्वीकार करने पर पुनरुक्ति दोष होगा। अतः मेरे विचार से विवेच्य पंक्ति के द्वितीय चरण का श्लिष्टार्थ होना चाहिए: [ऐसा] चित्र (=विचित्र) उत्तरा [आया है], मेरे ऊपर फिर मया करो।

[४९] ३५१-५: नैन चुवहिं जस माहुट नीरू। तेहि जल आगि लाग 'सर' चीरू।

गुप्त जी—मेरे नेत्र इस प्रकार चू रहे हैं जैसे माघ का जल। उस जल से मेरे चीर सदृश शर (सरकण्डों) में आग लग जाती है।

डॉ० अग्रवाल—उससे भीगे हुए वस्त्र शरीर में बाण से लगते हैं ('आगि' के स्थान पर 'अग' पाठ के अनुसार)।

मेरी समझ से 'सर' का यहाँ 'चिता' अर्थ करना उपयुक्त होगा—अर्थात् "उस जल से मेरी साड़ी में चिता की तरह आग लग जाती है।" वैसे 'चिता' अर्थ भी सरकण्डे से ही विकसित हुआ है, किन्तु गुप्त जी के अन्वय में विपर्यय हो गया है—होना चाहिए शर सदृश चीर में, नकि चीर सदृश शर (सरकण्डों) में।

मध्यकालीन कवियों में 'सर' शब्द का चिता अर्थ में खूब प्रयोग मिलता है। पदमावत में ही अन्यत्र इसका स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में प्रयोग है; दे० २०४-७: अब सर चढ़ौं जरौं जस सती। अथवा कबीर-ग्रन्थावली (परिषद्) पद १०९-८ कहै कबीर हौं सर रचि मरिहौं तिरौं कंत लै तूर बजाई।

[५०] ३५१-९: तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा 'झोल'।

गुप्त जी—इस पर विरह उसे जला कर उसको [अपने] झोल (झोंके) में उड़ाना चाहता है। 'झोल' झोंके के अर्थ में इसी छन्द की छठीं पंक्ति मे प्रयुक्त हुआ है, यथा—बिरह पवन होइ मारै **झोला**। किन्तु यहाँ उसका अर्थ 'झोली' या 'राख' (<सं० ज्वाल) करना अधिक समीचीन होगा जैसा कि शुक्ल जी और वासुदेवशरण जी ने किया है। 'झोली बुझाउब' अथवा 'झोली बटोरब' इस प्रकार के मुहावरे अवधी में प्रचलित हैं।

आशा है, पदमावत में रुचि रखने वाले विद्वान्, विशेषतया डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त जिनकी टीकाओं से प्रेरणा प्राप्त कर ही यह निबन्ध लिखा गया है, इन सुझावों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे।

कबीर का कालनिर्णय

• हरिप्रसाद नायक

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को साहित्य के इतिहास के अनुसार 'भक्तिकाल' कहते है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का प्रारम्भ संवत् १३७५ वि० से माना है। देश में मुसलमानो का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर ही 'भक्तिकाव्य की धारा' अधिक वेगवती हुई। उत्तर भारत में भक्ति के स्रोत को प्रवाहित करने का श्रेय स्वामी रामानन्द को मिला। इन्होंने विष्णु के श्रेष्ठ अवतार राम की उपासना को प्रधानता दी। इन्हीं के शिष्य कबीर हुए जिन्होंने भक्ति को एक नया ही रूप प्रदान किया।

बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना ठीक है कि 'काल की कठोर आवश्यकताएँ महात्माओ को जन्म देती हैं। कबीर का जन्म भी समय की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था।' कबीर जैसे सन्त की उपस्थिति एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक आवश्यकता थी। मध्यकालीन भारतीय सन्त-साहित्य के इतिहास में कबीर का स्थान शीर्ष है। अपने जीवनकाल में ही कबीर 'महात्मा' एव 'सन्त' हो गए थे। अपने असाधारण व्यक्तित्व के कारण कबीर को काफी प्रसिद्धि मिली थी। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसे प्रसिद्ध सन्त के जन्म-मरण की तिथियाँ आज भी अनिश्चित तथा सन्दिग्ध है। ऐसे बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें कबीर के व्यक्तित्व, जीवनवृत्त एवं मत का उल्लेख है, परन्तु अभी तक ऐसा कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है जिसमें उनके स्थितिकाल पर अधिकार पूर्ण ढङ्ग से विचार किया गया हो। कबीर के समकालीन रचयिताओं की रचनाओ मे कबीर की स्थिति की तो चर्चा है परन्तु उनके जन्म-मरण की तिथियों का उल्लेख नहीं है। कबीर ने स्वयं अपने स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। अपने विषय में कुछ कहने की प्रवृति प्राचीन या मध्यकालीन कवियों में नहीं थी। यही कारण है कि उन कवियों का स्थितिकाल निर्विवाद रूप से ज्ञात नहीं है। यही बात कबीर की भी है। कबीर के समसामयिक समझे जानेवाले किसी भी इतिहासकार की रचना में इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। ऐतिहासिक ग्रन्थों में अबुलफज़ल अल्सामी कृत 'आइन-ए-अकबरी' में सर्वप्रथम कबीर का नाम आया है जहाँ कबीर का परिचय मुवाहिद (अद्वैतवादी) कहकर दिया गया है तथा जगन्नाथपुरी व रतनपुर में निर्मित उनके दो मजारों की चर्चा उक्त ग्रन्थ में की गयी है (कर्नल जैरेट द्वारा अनूदित, भाग २, पृष्ठ संख्या १४१ तथा १८२, कलकत्ता १९४९ ई०)। इस ग्रन्थ में भी कबीर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी नही कहा गया है

कबीर के जीवन पर प्रकाश डालनेवाली प्राचीन पुस्तकों में नाभादास कृत भक्तमाल भी है जिसका सवत १६४२ वि० है इस पुस्तक में कबीर का पूर्ण विवरण धार्मिक रूप में मिलता है। परन्तु यहाँ भी उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

कबीर के काल पर विचार करने के लिए हमारे पास कोई ठोस आधार नहीं है। कबीर की रचनाओं तथा तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का अवलम्बन कबीर के कालनिर्णय का एक मात्र सम्बल है। इसके अलावे कबीर के स्थितिकाल पर अच्छा प्रकाश डालने का श्रेय किम्वदन्तियों एवं जनश्रुतियों को भी है जिसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं। क्योंकि कभी-कभी इनके माध्यम से ही ऐतिहासिक तथ्य का निरूपण सम्भव हुआ है। यही कारण है कि कबीर की जन्म-मरण की तिथियों को भिन्न-भिन्न अन्वेषकों ने भिन्न-भिन्न रूप से स्थिर करने का प्रयास किया है।

कबीरपन्थियों की परम्परा के अनुसार कबीर का जन्म संवत् १२०५ वि० और मृत्यु संवत् १५०५ वि० सिद्ध किया जाता है। डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने कबीर का जन्म-काल संवत् १४२७ वि० में माना है तथा डॉक्टर विल्सन द्वारा निर्णीत कबीर के मृत्यु संवत् १५०५ वि० का समर्थन किया है। डॉक्टर हण्टर ने संवत् १४३७ से संवत् १६३७ तक के समय को प्रमाणिक माना है। परन्तु रूपकला जी ने संवत् १४५१ वि० से संवत् १५५२ तक के समय की पुष्टि की है। डॉक्टर हरप्रसाद शास्त्री और डॉक्टर की ने कबीर का जन्म संवत् १४५५ और मृत्यु संवत् १५७५ में स्थिर किया है और कबीर के इस स्थितिकाल को मिश्रबन्धुओं ने तथा डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने भी मान्यता दी है। एम० मेकलिफ ने कबीर का जन्म सन् १३९८ ई० के मई मास तदनुसार संवत् १४५५ वि० में निश्चित रूप से माना है। डॉक्टर गोविन्द त्रिगुणायत ने भी संवत् १४५५ को प्रमाणिक जन्म-संवत् माना है। 'कबीर कसौटी' के अनुसार संवत् १४५५ से १५७५ वि० तक कबीर का प्रामाणिक स्थिति-काल है। डॉक्टर सरनामसिंह शर्मा का भी यही मत है। डॉक्टर ग्रियर्सन ने कबीर का जन्म-संवत् १४५६ वि० के लगभग माना है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की जन्मतिथि जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार संवत् १४५६ वि० मानी है। बाबू श्यामसुन्दरदास का भी यही मत है। अण्डरहिल ने कबीर का समय संवत् १४९५ से १५७५ वि० तक का माना है। डॉक्टर जे० एन० फर्कुहर और रेवरेण्ड वेस्काट के अनुसार कबीर का जन्म संवत् १४९७ वि० में और मृत्यु संवत् १५७५ वि० में हुई। सब के मतों का मिलान करने से कबीर का समय संवत् १२०५ से संवत् १५७५ वि० तक का होता है।

कबीर के स्थितिकाल के लिए स्वामी रामानन्द के कालनिर्णय पर विचार कर लेना अपेक्षित है, क्योंकि कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। परन्तु 'गुरु' का विषय लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। कबीर ने अपनी 'वाणियों' में 'शेख तकी' और 'पीताम्बर पीर' के नाम का उल्लेख किया है। इसलिए कुछ लोगों को यह भ्रम होता है कि शायद कबीर 'शेख तकी' अथवा 'पीताम्बर पीर' के मुरीद थे। परन्तु 'शेख तकी' को जिस प्रकार कबीर ने अपनी 'वाणियों' में सम्बोधित किया है तथा उपदेश दिया है, उससे गुरु-शिष्य के पावन सम्बन्ध का आभास भी नहीं मिलता पीताम्बर पीर के प्रति कबीर

की श्रद्धा इसलिए है कि हिन्दू-मुसलिम को सम भाव से पीतम्बर पीर उपदेश देते थे। इसके अलावे पण्डित चन्द्रवली पाण्डेय के शब्दों में 'पीतम्बर पीर गायक हैं, तारक नहीं।' स्वामी रामानन्द के नाम का उल्लेख कबीर ने कहीं भी नहीं किया है; इसलिए पण्डित परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति विद्वान् कबीर को स्वामी जी का शिष्य होना अप्रमाणिक मानते है। कबीर ने स्वामी जी का नाम कहीं भी नहीं लिया है यह सत्य है और इसलिए कबीर निश्चित रूप से स्वामी जी के ही शिष्य प्रमाणित होते हैं। गुरु के नाम का उल्लेख नहीं करने के पीछे एक धार्मिक भावना है जिससे गुरु की महिमा कम होती है तथा गुरु के प्रति सम्मान-भावना में भी त्रुटि आती है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने भी इस धार्मिक भावना की पुष्टि की है। इसके अलावा कबीर ने सङ्केत से कहा भी है कि 'कबीर गुर बसै बनारसी'। वाराणसी वाले गुरू को कबीर ने 'तूं बांम्हण मैं कासी का जुलाहा' कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि काशी का कोई ब्राह्मण ही कबीर का गुरु था और वह ब्राह्मण स्वामी रामानन्द ही थे इसमें सन्देह नहीं।[1]

कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे यह प्रामाणिक है। अब स्वामी रामानन्द के स्थित-काल पर विचार करना है। 'अगस्त्यसंहिता' के अनुसार स्वामी जी का आविर्भाव संवत् १३५६ वि० में हुआ था। स्वामी जी के बारह प्रमुख शिष्यों में कबीर के अलावे पीपा, रैदास, धना और सेन का नाम विशेष प्रमुख है। पीपा के जन्म के विषय में दो मत हैं। मेकलिफ तथा डॉक्टर फर्कुहर के अनुसार पीपा का जन्म संवत् १४८२ वि० में हुआ था तथा जनरल कनिंघम के अनुसार संवत् १४१७ विक्रमी में।

'बीजक' में कबीर ने एक स्थान पर पीपा का नाम दिवङ्गतों में लिया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि पीपा की मृत्यु कबीर से पहले हो गई थी। परन्तु पीपा ने भी अपनी 'वाणी' (हस्त-लिखित प्रति सरबगोटिका) में कबीर का नाम विशेष आदर से लिया है जिससे यह निश्चित होता है कि पीपा अवस्था में कबीर से छोटे थे। कबीर बादशाह सिकन्दर लोदी के समकालीन थे जिसकी पुष्टि 'भविष्यपुराण' से होती है तथा इसके समर्थन में स्वस्थ किम्वदन्ती भी उपलब्ध है। सिकन्दर लोदी का शासनकाल संवत् १५४६ से १५७४ वि० तक का था। इसलिए कबीर की स्थिति उक्त समय में निश्चित रूप से थी। कनिंघम द्वारा निर्णीत पीपा के जन्मकाल को यदि प्रामाणिक माना जाय तो कबीर का जन्म संवत् १४१७ वि० से पूर्व होना चाहिए। इस प्रकार कबीर की आयु डेढ़ सौ वर्ष की हो जाती है जिसे ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में हम सत्य नहीं मान सकते। अतः पीपा का जन्म डॉक्टर फर्कुहर के मतानुसार संवत् १४८२ वि० ही समीचीन प्रतीत होता है।

पीपा स्वामी रामानन्द जी के शिष्य थे, यह निर्विवाद है। पीपा जाति के राजपूत थे और गरगरौनगढ़ के राजा थे। राजसिंहासन पर बैठने के बाद ही पीपा स्वामी रामानन्द जी द्वारा दीक्षित हुए। यदि पूर्ण बालिग होने पर ही पीपा ने स्वामी जी से दीक्षा ली हो तो उस समय पीपा की अवस्था कम से कम अठारह वर्ष की होती है अर्थात् संवत् १५०० वि० तक स्वामी रामानन्द की स्थिति का अनुमान होना सम्भव है। इस प्रकार स्वामी जी की आयु डेढ़ सौ वर्ष की हो जाती है जिस पर विश्वास करना सहज नहीं है। इसलिए स्वामी जी का जन्म संवत् १३५६ वि० के बाद ही होना चाहिए

स्वामी रामानन्द जी के शिष्य रैदास का जन्म संवत् १५०० वि० के लगभग होना चाहिए; क्योंकि संवत् १५२७ वि० के लगभग उन्होंने 'रैदासी पन्थ' की स्थापना की थी। अगर स्वामी जी का जन्म संवत् १३५६ वि० को प्रामाणिक माना जाय तो रैदास के दीक्षित होने के समय तक स्वामी जी की अवस्था डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक की हो जाती है।

प्रोफेसर रानाडे के अनुसार स्वामी रामानन्द के शिष्य सेन नाई का जन्म संवत् १५०५ वि० में हुआ। सेन के जन्म-काल ही में स्वामी जी की उम्र डेढ़ सौ वर्ष की हो जाती है और सेन के दीक्षित होने तक कुछ और समय का योग होना स्वाभाविक है। इसलिए स्वामी जी के जन्म संवत् १३५६ वि० का खण्डन हो जाता है।

'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' (शिरोमणि गुरुद्वारा संस्करण, पृष्ठ संख्या ४८७) में 'धने' जी का एक पद सङ्कलित है जिससे पता चलता है कि कबीर, रैदास और सेन के बाद धना जाट स्वामी रामानन्द के शिष्य हुए थे। इससे यह स्पष्ट है कि कबीर, रैदास और सेन की काफी प्रसिद्धि धना के दीक्षित होने तक हो गई थी। रैदास और सेन संवत् १५२० और संवत् १५२५ वि० के लगभग क्रमशः स्वामी जी के शिष्य हुए थे। इसलिए संवत् १५२५ वि० के बाद ही धना ने स्वामी जी से दीक्षा ली होगी। अगर स्वामी जी का जन्म संवत् १३५६ को मान्यता दी जाय तो धना के दीक्षित होने तक स्वामी जी पौने दो सौ वर्ष की अवस्था के हो जाते हैं जो सर्वथा अविश्वसनीय है। इसलिए स्वामी जी का जन्म संवत् १३५६ वि० के बहुत बाद ही होना चाहिए।

स्वामी भगवदाचार्य जी भी संवत् १३५६ वि० को स्वामी रामानन्द जी की अप्रामाणिक जन्म तिथि मानते हैं। बड़ौदा की सेण्ट्रल लाइब्रेरी में श्री भगवदाचार्य जी को 'गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया' द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक देखने को मिली जिसमें ८०० वर्षों तक के सन्, संवत्, तिथि, तारीख सब दिए हैं। संवत् १३५६ वि० में जिस मास, तिथि, नक्षत्र, वार आदि की सूचना स्वामी रामानन्द जी के जन्म के सम्बन्ध में प्राचीन लोगों ने दी है, उक्त ग्रन्थ से उसका मिलान नहीं होता है—मेल नहीं खाता है। इसलिए स्वामी रामानन्द का जन्म संवत् १३५६ वि० अप्रामाणिक है। स्वामी जी का जन्म संवत् १३५६ वि० में होने से उनके शिष्यों के साथ सङ्गति भी नहीं बैठती है और नामदेव तथा त्रिलोचन के बाद स्वामी जी का आविर्भाव हुआ था, इसकी भी पुष्टि नहीं होती है। डॉ० भण्डारकर ने नामदेव की स्थिति विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में मानी है। इसलिए स्वामी जी का जन्म संवत् १३५६ वि० के बहुत बाद ही होना सम्भव है। शिष्यों की सङ्गति तथा ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर हम संवत् १४५६ वि० को स्वामी जी का प्रामाणिक जन्म-संवत् मान सकते हैं। पण्डितराज भगवदाचार्य के अनुसार भी स्वामी जी का यह जन्म-संवत् अधिक समीचीन है।[१]

अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं। जब यह प्रामाणिक है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे, तब गुरु से शिष्य की अवस्था निश्चित रूप से कम होनी चाहिए। इसलिए अवस्था में कबीर स्वामी जी से छोटे अवश्य थे। स्वामी रामानन्द के जन्म-संवत् १४५६ वि० के बाद ही कबीर का जन्म होना चाहिए।

ऊपर लिखा जा चुका है कि पीपा का जन्म संवत् १४८२ वि० में निश्चित रूप से हुआ और कबीर पीपा से उम्र में बड़े थे यह भी प्रामाणिक है इसलिए कबीर का जन्म संवत् १४८२

से पूर्व होना चाहिए। इस प्रकार कबीर का जन्म संवत् १४५६ और संवत् १४८२ विक्रमी के बीच पडता है। अगर अवस्था में कबीर पीपा से कम से कम दस वर्ष भी बड़े रहे होंगे तो कबीर का जन्म संवत् १४७२ वि० में होना चाहिए। इस प्रकार अपने गुरु स्वामी रामानन्द से भी कबीर उम्र मे १६ वर्ष के छोटे पड़ते है जो अस्वाभाविक नहीं हैं। डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़्थ्वाल ने भी लिखा है—

"रामानन्द जी के शिष्य होने के समय कबीर निरे बालक न रहे होंगे। बिना विशेष विरक्तावस्था के जागरित हुए न रामानन्द ही किसी मुसलमान को चेला बना सकते थे और न कबीर ही किसी हिन्दू के चेले बनने के लिए उत्सुक हो सकते थे। उस समय कम से कम उनकी अवस्था अठारह वर्ष की होनी चाहिए।"

अभी तक जितने कबीर सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनमें कहीं भी कबीर की जन्मतिथि का उल्लेख नहीं है। कबीरपन्थियों का निम्न दोहा बहुत ही प्रसिद्ध है जो कि कबीर के प्रधान शिष्य और उनकी गद्दी के प्रथम उत्तराधिकारी धर्मदास का रचा हुआ है :—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी (तिथि) प्रगट भए॥

परन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका कि ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार दिन पड़ता है या नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि "कबीरदास का जन्म लोगों ने संवत् १४५५ ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को माना है, परन्तु गणना करने से संवत् १४५५ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् १४५६ निकलता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है 'चौदह सौ पचपन साल गए' अर्थात् उस समय तक संवत् १४५५ बीत गया था"। बाबू साहब के इस मत की पुष्टि डॉ० बड़थ्वाल ने भी की है। परन्तु डॉ० रामकुमार वर्मा ने डॉ० माताप्रसाद गुप्त के मत का समर्थन करते हुए अपने ग्रन्थ 'सन्त कबीर' की पृष्ठ संख्या ४५ (प्रस्तावना) में लिखा है:—"डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने एस० आर० पिल्ले की इण्डियन क्रोनोलॉजी के आधार पर गणना कर यह स्पष्ट किया है कि संवत् १४५५ वि० की ज्येष्ठ पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है।"

इसके अतिरिक्त 'चौदह सौ पचपन साल' के बाद का शब्द 'गए' होगा या 'गिरा' यह भी निश्चित नहीं है, क्योंकि 'कबीर कसौटी' में 'गिरा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। न जाने किस आधार पर बाबू लैहनासिंह ने 'गिरा' शब्द का प्रयोग किया है। 'गए' और 'गिरा' का प्रयोग असन्दिग्ध नहीं है क्योंकि अर्थ की दृष्टि से दोनों शब्दों में विरोधाभास है। 'गए' से जहाँ संवत् १४५६ का आभास होता है, वहाँ गिरा से संवत् १४५५ का तुक मिलता है। 'जेठ सुदी पूरनमासी में 'सुदी' का प्रयोग निरर्थक है। शब्द-विन्यास से यह अनुमान होता है कि उपर्युक्त दोहा सोलहवीं शताब्दी के बहुत बाद की रचना है। इसलिए इस दोहे पर विश्वास करने से ऐतिहासिक तथ्य से तटस्थ रह जाना पड़ता है और इसके अलावे स्वामी रामानन्द के शिष्य होने की सङ्गति भी नहीं बैठती है। इसलिए कबीर का जन्म-संवत १४७२ ही अधिक प्रामाणिक है।

अब कबीर की निधन-तिथि पर विचार करना है ऐतिहासिक ग्रन्थों में

अल्सामी की आइन-ए-अकबरी का .... सन् १५९८ ई० तदनुसार संवत् १६५५ वि० है। इस ग्रन्थ में कबीर का नाम सर्वप्रथम आया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि कबीर का निधन संवत् १६५५ वि० से पूर्व निश्चित रूप से हो चुका था।

प्राचीन पुस्तकों में नाभादास कृत 'भक्तमाल' भक्ति साहित्य का महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में कबीर का जीवनचरित सङ्कलित है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १६४२ वि० है। कबीर संवत् १६४२ वि० से पहले दिवङ्गत हो चुके थे इस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

'जन्मसाखी' से पता चलता है कि बाबर के शासनकाल के पूर्व कबीर दिवङ्गत हो चुके थे। भाई परमानन्द जी ने अपने ग्रन्थ 'कबीर मंशूर' में लिखा है कि "सब जन्मसाखियों में भाई वाले की जन्मसाखी सर्वोत्कृष्ट तथा बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है, इसी जन्मसाखी को सब मानते भी है।" उक्त 'जन्मसाखी' की पृष्ठसंख्या ३९६ में कबीर की चर्चा इस प्रकार आई है :—

"(गुरु नानक ने कहा) सुन बाबर, कलन्दर कबीर ऐसा था जो परमेश्वर के समान था, उससे परमेश्वर में किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं थी।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि बाबर के हिन्दुस्तान के शासक होने से पूर्व कबीर निश्चित रूप से दिवङ्गत हो चुके थे, क्योंकि कबीर को 'परमेश्वर' के समान कहा गया है। वेस्कट साहब ने भी अपने ग्रन्थ 'कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ' में लिखा है कि 'जन्मसाखी में नानक ने बाबर से कहा है कि कबीर मुसलमान जोलहा था।' बाबर के शासनकाल के पूर्व कबीर का निधन निश्चित रूप से होना प्रामाणिक है। बाबर २७ अप्रैल १५२६ ई० में हिन्दुस्तान का बादशाह हुआ और २६ दिसम्बर १५३० ई० में उसकी मृत्यु हुई। इस प्रकार संवत् १५८३ से १५८७ वि० तक बाबर हिन्दुस्तान का बादशाह रहा। इसलिए संवत् १५८३ वि० से पूर्व ही कबीर का दिवङ्गत होना सिद्ध होता है। हो सकता है कि पानीपत के युद्ध के पूर्व ही कबीर का निधन हो चुका हो। पानीपत का युद्ध २१ अप्रैल सन् १५२४ ई० तदनुसार संवत् १५८१ वि० में हुआ था।

वेस्कट के मतानुसार गुरु नानक २७ वर्ष की अवस्था में कबीर से मिले थे। गुरु नानक का जन्म संवत् १५२६ वि० प्रामाणिक है। इसलिए नानक-कबीर-भेंट संवत् १५४३ वि० में हुई होगी। ब्रिग्स के अनुसार कबीर की भेंट सिकन्दर लोदी से भी इसी वर्ष हुई थी। कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे और सिकन्दर लोदी की मृत्यु संवत् १५७४ में हुई। इससे यह पता चलता है कि संवत् १५७४ वि० के बाद और संवत् १५८१ वि० के पूर्व ही किसी समय कबीर का निधन हुआ होगा। इस प्रकार 'संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा'[3] वाली निधन तिथि प्रामाणिक है, क्योंकि इस तिथि के पीछे ऐतिहासिक तथ्य की सङ्गति बैठती है।

डॉक्टर फ्यूहॅर कृत 'मानुमेण्टल ऐंटिक्विटीज आफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज' के अनुसार कबीर का निधन संवत् १५०७ में हुआ क्योंकि नवाब बिजली खाँ पठान ने इस साल कबीर का स्मारक बनवाया था। यह निधन तिथि तर्कसङ्गत नहीं है क्योंकि इसे प्रामाणिक मानने से कबीर का सिकन्दर लोदी का समकालीन होना सिद्ध नहीं होता और न कबीर-नानक भेंट की सङ्गति ही बैठती है। इसके अलावे डॉ० फ्यूहॅर के मत का समर्थन किसी भी ऐतिहासिक आधार से नहीं

होता है। डॉक्टर साहब ने भी अपने अनुमान के समर्थन में किसी भी प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है। हो सकता है कि धर्मदास जी के 'निर्भयज्ञान' को अपने अनुमान का आधार माना हो। नवाब बिजली खाँ ने कबीर का स्मारक बना दिया इस बुनियाद पर ऐतिहासिक प्रमाणों के महल को भूमिसात् नहीं किया जा सकता। सन्तों का स्मारक उनके जीवन काल में भी प्रायः निर्मित होता रहता है, जैसा कि 'स्वामी भगवदाचार्यस्मारक-भवन' अयोध्या में उनके भक्तों द्वारा बनाया गया है जिसका उद्‌घाटन २८ अक्टूबर सन् १९६१ को हुआ। उद्‌घाटन के शुभावसर पर स्वामी जी भी स्वतः अयोध्या में उपस्थित थे। स्वामी जी की अवस्था अस्सी वर्ष की है। कबीर सन्त थे और बिजली खाँ कबीर के अनन्य भक्त थे। श्रद्धा-भाव की प्रेरणा से बिजली खाँ ने कबीर के जीवनकाल ही में स्मारक बना दिया जिसका जीर्णोद्धार संवत् १६२४ वि० में नवाब फिदाई खाँ द्वारा हुआ। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टिकोण से कबीर की निधन-तिथि संवत् १५७५ वि० प्रमाणिक है।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. 'कबीर के गुरु रामानन्द : एक विवेचन' शीर्षक लेखक का लेख, वीणा, इन्दौर (आश्विन सं० २०२०)। २. विशेष जानकारी के लिए लेखक का 'स्वामी रामानन्द का काल-निर्णय' शीर्षक लेख, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में देखें। (सं० २०२० वर्ष ९८—अङ्क १-२)।

३. संवत् पन्द्रह से पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन॥—कबीर जनश्रुति

'रामचन्द्रिका' - नहीं अपितु एक नाट्य-प्रबन्ध

• रामदीन मिश्र

'रामचन्द्रिका का प्रबन्धत्व तथा केशव का उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध[१] में मैंने स्पष्ट किया है कि रामचन्द्रिका के रूप में केशव का उद्देश्य प्रबन्धकाव्य अथवा महाकाव्य की रचना करना नहीं था। किन्तु रामचन्द्रिका पर लिखने वाले आलोचकों ने प्रायः एक स्वर में इसे एक असफल प्रबन्धकाव्य माना है। इस रूप में रामचन्द्रिका की असफलता की घोषणा सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की। उन्होंने इसमें प्रबन्धत्व का अभाव देखा और केशवदास को कवि-हृदय से शून्य बताया। शुक्ल जी के सम्मुख एकमात्र तुलसीदास आदर्श थे और सफल काव्य की माप भी उनके रामचरितमानस का प्रबन्धत्व ही था। इन्हीं कसौटियों पर वे किसी भी काव्य की परख करते थे। इसके अतिरिक्त सफल काव्य में लोकमङ्गल की भावना का होना भी उनकी दृष्टि में अनिवार्य था। रामचन्द्रिका या केशव के काव्य में उन्हें इनमें से कुछ भी न मिला। फलतः बड़ी ही सरलता एवं निर्ममता से उन्होंने अपना निर्णय दिया—"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। . . केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्दक्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गम्भीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। अतः वे मुक्तक रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबन्ध रचना के नहीं। प्रबन्धपटुता उनमें कुछ भी न थी।...प्रबन्धकाव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति।"[२] यह निर्णय देने के पूर्व शुक्ल जी ने न तो केशव की परिस्थिति और परिवेश पर ही विचार किया और न उनके पाठकों पर ही। तुलसी की परिस्थितियाँ और परिवेश प्रायः समकालीन होने पर भी केशव से बिलकुल भिन्न थे। तुलसी का आविर्भाव और विकास भी केशव से बिलकुल भिन्न परिस्थिति में हुआ था। फलतः जीवन के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में भी उतनी ही भिन्नता अनिवार्य थी। तुलसी का बचपन अत्यन्त विकट परिस्थिति में बीता। उन्हें न तो माता-पिता का प्यार मिला और न विकास के लिये सम्यक् परिस्थिति ही। अपनी युवावस्था में तुलसी कथावाचक रह चुके थे, अतः सामान्य जनता की रुचि का उन्हें विशेष ज्ञान था। बाद में जब उन्होंने संसार से वैराग्य ले लिया तो अपने अनुभवों के आधार पर वे समाज को कुछ ऐसी वस्तु देने में समर्थ हुए, जिसके प्रति सामान्य जनता का आकर्षण बहुत अधिक बढ़ा और जो समाज का पथप्रदर्शन करने में समर्थ सिद्ध हुई।

इसके विपरीत केशव प्रारम्भ से ही दरबारी वातावरण में पले। कई पीढ़ियों से उनके

पूर्वज राजपुरोहित का कार्य करते आये थे। केशव को दरबार का पूर्ण ज्ञान था, जीविका के पूर्ण साधन भी उनके पास थे और अपनी काव्य-प्रतिभा के द्वारा उन्होंने पर्याप्त धन भी अर्जित किया था। केशवदास का जीवन चरम विलासिता के बीच बीता था। रसिक वे कैसे थे, इसका प्रमाण तो निम्न दोहा तथा उससे सम्बन्धित किम्बदन्ती द्वारा ही मिल जाता है:—

केसव केसन अस करी जस अरिहूँ न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

अत: यह आवश्यक था कि केशव की मनोवृत्ति तुलसी से भिन्न होती। फलत: केशव का चित्त उन्हीं स्थलों पर अधिक रमा है जो दरबारी परिवेश के अनुकूल है। रामचन्द्रिका में ऐसे स्थलों का ही आधिक्य है। शुक्लजी केशव की इस मनोवृत्ति से अधिक चिढ़े थे। उन्होंने रामचन्द्रिका को पहले प्रबन्धकाव्य माना, फिर उसकी निर्मम आलोचना की। शुक्ल जी की दृष्टि को देखते हुए यह अनिवार्य भी था।

किन्तु बाद के आलोचको ने भी शुक्ल जी का पिष्टपेषण ही किया। यद्यपि इन विद्वानो ने केशव को उनकी अपनी परिस्थितियों और परिवेश में रख कर अध्ययन भी किया, पर रामचन्द्रिका के सम्बन्ध में न तो उनकी दृष्टि बदली और न उनके निर्णय ही बदले। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे सुधी आलोचकों ने भी रामचन्द्रिका को असफल प्रबन्धकाव्य घोषित किया। हाल में डॉ० विजयपाल सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध "केशव और उनका साहित्य" मे 'केशव की प्रबन्ध-पटुता' शीर्षक के अन्तर्गत रामचन्द्रिका को पूर्ण सफल प्रबन्धकाव्य बताया है। किन्तु डॉ० सिंह ने अपने पूर्व के आलोचकों के निर्णयों का कोई तर्कपूर्ण खण्डन नहीं किया है। उनके कथन के पीछे आलोचकों की तर्कपूर्ण और तटस्थ दृष्टि का अभाव है। उनका कथन विशेषत: भावावेश में किया गया जान पड़ता है। शोध-अध्येताओं तथा आलोचकों में जो एक सन्तुलित और निष्पक्ष दृष्टि की अपेक्षा होती है, वह इस स्थल पर हमें नहीं मिलती। उदाहरण के लिए निम्न कतिपय पंक्तियाँ ही अलम् होगी —

"कुछ आलोचकों को संवादों की बहुलता के कारण ही प्रबन्ध धारा में गतिरोध दिखाई पडता है। यह कथन तो ऐसा प्रतीत होता है मानों बिना समझे कह दिया गया हो। क्या स्रोतस्विनी के किनारे पर अवस्थित मनोहर पादप राशि से उसके पय: की पूर्णता में किसी प्रकार की रुकावट आ सकती है? सचाई तो यह है कि सजीव और फड़कते हुए संवादों द्वारा रामचन्द्रिका की प्रबन्ध धारा अपेक्षाकृत मनोरम बन जाती है।

"कुछ आलोचक कहते हैं कि केशवदास जी में कथानक के गम्भीर और मार्मिक स्थलों को पहचानने की क्षमता नही है। इसके उत्तर में केवल हमारा इतना ही निवेदन है कि 'भिन्न, रुचिर्हि लोक:' के आधार पर सभी आलोचकों के लिये मार्मिकता की कोई विशेष कसौटी नही।"[1]

उपर्युक्त कथन को रामचन्द्रिका या केशव के साथ लेखक के रागात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मात्र ही कहा जा सकता है। व्यक्तिनिष्ठता से युक्त आलोचना में तटस्थता या निस्सङ्गता के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है?

वस्तुत रामचन्द्रिका का अध्ययन की दृष्टि से नहीं वरन अन्य दृष्टि से होना चाहिए सम्पूर्ण रामचन्द्रिका या अन्यत्र भी केशव का दृष्टिकोण रामचन्द्रिका के रूप म प्रबन्ध काव्य लिखना था, ऐसा प्रकट नहीं होता। रामचन्द्रिका के आरम्भ मे केशव ने अवश्य कहा है कि अपने पापों से छुटकारा पाने के लिए वाल्मीकि मुनि के आदेश से वे राम-गुण-गान के रूप मे रामचन्द्रिका की रचना कर रहे हैं। यही कारण है कि रामचन्द्रिका में सर्वत्र नही, पर यत्र-तत्र राम में ब्रह्मत्व का आरोप भी दीख पड़ता है। फिर भी रामचन्द्रिका भक्तिपरक ग्रन्थ नही हो पाता। यह केशव की मनोवृत्ति के अनुकूल भी न था।

रामचन्द्रिका में केशव ने जिन ग्रन्थों का आधार लिया है, वे विशेषतः नाटक हैं। प्रारम्भ मे वाल्मीकि मुनि का आदेश पाकर और स्वप्न में दर्शन पाकर भी केशव ने रामचन्द्रिका में रामायण का आधार अत्यल्प ग्रहण किया है। प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका को असफल बताते हुए जो त्रुटियाँ बतायी गई हैं वे हैं—कथा में सम्बन्ध निर्वाह की अनुपस्थिति, प्रबन्धकाव्य के उपयुक्त कथा में विस्तार-सङ्कोच का अभाव, कथा में अनेक स्थलों पर मनमाने परिवर्तन, वर्णन की अधिकता और इनमें आलङ्कारिक चमत्कारों की भरमार, अति संवादात्मकता, कथा के गम्भीर तथा मार्मिक स्थलों का अभाव, दृश्यों की स्थानगत विशेषता का अभाव, छन्दों का अत्यधिक परिवर्तन और सब मिलाकर कथा की लघुता। यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रायः ये सारी त्रुटियाँ रामचन्द्रिका की विशेषताओं के रूप में सिद्ध होंगी और केशव इनके लिए प्रशंसा के अधिकारी होंगे। वस्तुतः रामचन्द्रिका के रूप में केशव ने नाटकों की प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित करना चाहा था। परन्तु उनके सम्मुख कई बाधाएँ थीं और उन पर वे विजय नही पा सके। फिर भी केशव का यह प्रयास स्तुत्य है।

संस्कृत-साहित्य में नाटक की एक सुदीर्घ परम्परा थी। संस्कृत में परिनिष्ठित तथा सशक्त गद्य भी था जिसके अभाव में नाटक, नाटक बन ही नहीं सकता। केशव के पूर्वज तो संस्कृत के विद्वान् थे ही, केशव को स्वय भी संस्कृत का विस्तृत अध्ययन था, यह उनके ग्रन्थों में ही प्रकट हो जाता है। इस सम्बन्ध मे केशव की निम्न उक्ति विचारणीय है :—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषाकवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास॥[1]

केशव ने ऐसे वंश में जन्म ग्रहण किया था जिसमें दास भी संस्कृत ही बोलते थे, पर परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि केशवदास को भाषा का आश्रय लेना पड़ा। इसके लिये उन्हें पर्याप्त पश्चाताप था। केशव को संस्कृत-साहित्य की लगभग सभी विधाओं का गहरा अध्ययन था। साहित्यशास्त्र का अध्ययन तो था ही। ऐसी स्थिति में यदि वे रामचन्द्रिका को प्रबन्धकाव्य के रूप में रचना चाहते तो इतनी त्रुटियों के लिये स्थान न होता। रामकथा प्रसिद्ध कथा थी, वाल्मीकि केशवदास के सम्मुख थे ही, फिर भी यदि उन्होंने कथा में शृङ्खला नहीं रखी, बीच के कतिपय प्रसिद्ध प्रसङ्गों को छोड़ दिया, या परिवर्तित कर दिया तो निश्चय ही अज्ञानवश नहीं, न अक्षमता के कारण, वरन् भली-भाँति समझ-बूझकर ही। उन्होंने रामचन्द्रिका की शैली संवादात्मक रखी है और नाटकों के समान पात्रों के नाम अलग दिये हैं ऐसा करने में उनकी विवशता नहीं उनका

निश्चित उद्देश्य था। वे रामचन्द्रिका को काव्य के रूप में नहीं वरन् नाटक के रूप में ही रखना चाहते थे, पर गद्य के अभाव और अपनी दरबारी मनोवृत्ति के कारण बहुत अधिक सफल नहीं हो सके। वस्तुतः रामचन्द्रिका पर नाटक की दृष्टि से विचार होना चाहिये, न कि प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से।

रामचन्द्रिका के स्पष्ट ही दो भाग हैं। पूर्वार्द्ध में आदि से लेकर रावणवध तथा राम के अयोध्या लौटने की कथा है। रामायण की असली कथा यही है। उत्तरार्द्ध को केशव की अपनी उद्भावना के रूप में देखा जा सकता है। इसमें केवल लव-कुश का प्रसङ्ग पूर्वपरिचित है। इसके अतिरिक्त राम का राजा के रूप में चित्रण है और वह भी एक विलासी राजा के रूप में, जो कभी तो उद्यान में सुन्दरियों के साथ सैर करता है, कभी चौगान खेलता है, और कभी सुन्दरी युवतियों की जलक्रीड़ा में रस लेता है। स्पष्ट ही इन वर्णनों में केशवकालीन दरबार और राजाओं का ही चित्रण है। कुछ ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनमें दान आदि का वर्णन है। वस्तुतः लव-कुश के प्रसङ्ग को छोड़कर उत्तरार्द्ध में न तो काव्य ही है और न अभिनेयता ही। अभिनय के लिये घटनाओं में आरोह-अवरोह, वृत्तियों तथा पात्रों में सङ्घर्ष एवं द्वन्द्व की आवश्यकता होती है। राम के राजा हो जाने के बाद सङ्घर्ष के लिये या घटना-वैचित्र्य के लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है? केवल लव-कुश का प्रसङ्ग सङ्घर्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और उसमें केशव को अत्यधिक सफलता मिलती है। केशव कविशिक्षक थे और कविप्रिया की रचना भी उन्होंने प्रवीणराय पातुरी को काव्याङ्गों की शिक्षा देने के लिये ही की थी। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरार्द्ध के ये सारे वर्णन कविप्रिया में स्थापित केशव के सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष हैं। उदाहरण के लिये उत्तरार्द्ध के अधिकांश वर्णन केशव द्वारा व्यवस्थित सामान्यालङ्कार के अन्तर्गत आते हैं। केशव ने अलङ्कार के दो भेद किये हैं, सामान्य और विशेष, तथा सामान्यालङ्कार के अन्तर्गत वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री का वर्णन अपेक्षित बताया है—

सामान्यालङ्कार को चारि प्रकार प्रकाश।
वर्ण, वर्ण्य, भू राजश्री, भूषण केशवदास॥[१]

इसके साथ ही कविरीति वर्णन में उन्होंने कवियों की वर्णनशैली की तीन विधियाँ बताई हैं—

साँची बात न बरनहीं, झूठी बरननि बानि।
एकनि बरनैं नियम कै, कविमत त्रिविध बखानि॥[१]

इसी प्रकार कविप्रिया में जिन-जिन बातों के सम्बन्ध में केशव ने अपनी मान्यता बताई है, चाहे वे संस्कृत साहित्यशास्त्र से उधार ली हुई ही क्यों न हों, रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में उनके निर्वाह की चेष्टा की है। वर्णन की उपर्युक्त तीनों शैलियों का उपयोग केशव ने किया है और सामान्यालङ्कार के अन्तर्गत आनेवाले प्रायः सभी प्रकार के वर्णनों को भी उन्होंने स्थान दिया है। दोष-वर्णन के अन्तर्गत केशव ने जिन दोषों का वर्णन किया है, ढूँढ़ने पर लगभग सभी रामचन्द्रिका में मिल जाते हैं। केशवदास पण्डित कवि थे तथा अपनी कविता और उसके प्रभाव की ओर से सजग भी थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है

राजत रंच न दोषयुत कविता वनिता मित्र।[7]

अथवा,

विप्र न नेगी कीजिये, मूढ़ न कीजे मित्त।
प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त॥[8]

इतना कहने और अपनी कविता की ओर से पर्याप्त सजग रहने पर भी यदि रामचन्द्रिका के छन्दों में अनेक स्थलों पर अनेक दोष निकल आते हैं तो यही अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः केशव ने जानबूझकर ही इनकी रचना की होगी। विशिष्ट अलङ्कारों के सम्बन्ध में तो केशव की मान्यता प्रसिद्ध ही है। वे अलङ्कारवादी कवि थे और उनके प्रत्येक छन्द में कोई न कोई अलङ्कार है।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपने लक्षण ग्रन्थों में विशेषकर कविप्रिया में, केशव ने काव्य सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की है, प्रच्छन्न रूप से ही सही, रामचन्द्रिका में उसका व्यावहारिक रूप उपस्थित करना भी केशव का एक उद्देश्य था। यद्यपि प्रकट रूप में उन्होंने ऐसा कहीं कहा नहीं है। रामचन्द्रिका का उत्तरार्द्ध इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें वर्णन की प्रधानता है, साथ ही कथा में गति का अभाव है।

किन्तु रामचन्द्रिका के पूर्वार्द्ध में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, केशव का उद्देश्य संस्कृत की नाट्य-परम्परा को हिन्दी में प्रस्तुत करना था, यद्यपि उन्हें इसमें भी सफलता नहीं मिली। गद्य का अभाव उनकी सबसे बड़ी बाधा थी, साथ ही परवर्ती कवियों ने इस प्रकार की रचनाओं को प्रोत्साहन नहीं दिया। रामचन्द्रिका में प्रायः वे सभी तत्त्व मिल जाते हैं जिनकी आवश्यकता एक नाटक में होती है। उसकी संवादात्मक शैली में आलोचकों को जो दोष दिखाई पड़े हैं, या पात्रों के नाम संवाद से अलग रखने में जो उन्हें एक प्रकार से कथा-प्रवाह की धारा को अक्षुण्ण न रखने के कारण केशव की विवशता और असमर्थता दीख पड़ी है, नाटक की दृष्टि से विचार करने पर उन सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है। केशव ने रामकाव्य के स्थान में रामचन्द्रिका की कथा के लिये रामकथा से सम्बद्ध नाटकों का ही अधिक आधार लिया है। साथ ही कथा में जिस और जिस प्रकार के परिवर्तन केशव ने किये हैं, प्रायः सभी का आधार अनर्घराघव, हनुमन्नाटक आदि नाटकों में ही किसी न किसी रूप में मिल जाता है। केशव के संवाद और बहुत से प्रसङ्ग भी इन नाटकों से अनूदित होकर ही आये हैं। ये तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि केशव का ध्यान काव्य की अपेक्षा नाटक पर ही अधिक था और प्रबन्धत्व की अपेक्षा रामचन्द्रिका में नाटकीयता का समावेश ही उन्हें अधिक इष्ट था। इस प्रसङ्ग में निम्न बातों पर विचार करना हमारे लिये अपेक्षित है, जो प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका के लिए दोष सिद्ध हुई हैं—

(क) कथा की लघुता और शृङ्खला का अभाव—रामचन्द्रिका में रामकथा बहुत संक्षेप में गृहीत हुई है। उसका आरम्भ ही विश्वामित्र के आगमन से हुआ है। इसके पूर्व की कथा रामजन्म या इससे सम्बद्ध अन्य घटनाओं का उल्लेख नहीं हुआ है। प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से आरम्भ में ही कथा की इस काट-छाँट में आलोचकों को बहुत बड़ी त्रुटि दीख पड़ी है। केशव ने इस स्थल की मार्मिकता का ध्यान नहीं रखा और वात्सल्य या शिशु चित्रण के अवसर को खो दिया

वस्तुतः ——— वही सफल हो सकता है जिसमें जीवन के नाना व्यापारों का पूर्ण चित्रण हो। प्रबन्ध की सफलता जीवन की सम्पूर्णता में है जब कि मुक्तक का इष्ट क्षणों की मार्मिकता की अभिव्यक्ति है। परन्तु यदि अभिनेयता या नाटकीयता की दृष्टि से हम विचार करें तो इस प्रसङ्ग को छोड़ देने में केशव की सूझ है। वस्तुतः रामकथा मे अपेक्षित नाटकीयता विश्वामित्र के आगमन के पश्चात् ही आती है। वहीं एक ओर तो ऋषि की आज्ञा और दूसरी ओर पुत्र-स्नेह के बीच दशरथ के मन के अन्तर्द्वन्द्व की योजना के लिए स्थान है। इसके पूर्व की कथा का इस दृष्टि से कोई औचित्य नहीं है। अतः यदि केशव ने इसके पूर्व की कथा को छोड़ दिया तो इस दृष्टि से यही आवश्यक था। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भी केशव ने कथा को संक्षिप्त किया है, वहाँ उनकी दृष्टि मे नाटकीय अपेक्षा थी। इस दृष्टि से विचार करने पर केशव की यह त्रुटि वस्तुतः उनकी दूरदर्शिता और सूझ की ही परिचायक सिद्ध होती है।

इसके पूर्व कि हम अन्य आक्षेपों पर विचार करें, हमारे लिए केशव के पूर्व और केशव के समय तक प्रचलित नाट्य-प्रकार और अभिनय-पद्धति पर विचार करना अपेक्षित होगा। संस्कृत-नाटकों में ही सूत्रधार की परम्परा थी। सूत्रधार और नटी सामाजिक को नाटक के विषय से परिचित कराते थे और इस प्रकार नाटक का आरम्भ होता था। आरम्भ में मङ्गलाचरण और अन्त में भरतवाक्य होते थे। अभिनय की पद्धति आज की जैसी नहीं थी। दृश्यों की योजना बहुत कुछ मौखिक ही होती थी। किसी पात्र के द्वारा रङ्गमञ्च पर ही दृश्य का वर्णन करा दिया जाता था और दर्शक उसकी कल्पना कर लेते थे। आज की तरह उस दृश्य की योजना ही नहीं कर दी जाती थी। कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में रात्रि के दृश्य की योजना कण्व के एक शिष्य के मुख से वर्णन कराकर की गई है। स्थान-स्थान पर कथा का सूत्र जोड़ने, कथा के सम्बन्ध मे या पात्रों के सम्बन्ध में विशेष सूचना देने के लिए विशेष पात्रों का ही सहारा लिया जाता था।

संस्कृत नाटक और अभिनय की यह परम्परा केशव के बहुत पूर्व ही छूट गई थी। गद्य नहीं होने के कारण सूत्रधार का कार्य भी कठिन हो गया था। इतना ही नहीं, नाटकों की रचना भी प्रायः बन्द ही हो गई थी। हिन्दी साहित्य के न तो आदिकाल में और न भक्तिकाल में ही किसी नाटक की रचना हुई। जहाँ तक सामान्य जनता की बात है, कतिपय यात्रानाटक, रास अथवा लीलाएँ अवश्य प्रचलित थीं। इन नाटकों, रासों और लीलाओं में रङ्गमञ्च के नाम पर केवल कुछ कपड़े या चटाइयाँ ही बिछी होती थीं। विधिवत् किसी मञ्च का विधान न था। एक मनुष्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उपस्थित होता और वही कथासूत्र को जोड़ता, पात्रों के परिचय देता और दृश्यों के वर्णन करता था। अभिनेय स्थलों पर पद्यों में ही संवाद भी होता था। इस प्रकार की योजना इतनी सादी होती थी कि कहीं भी और कभी भी इसका अभिनय हो सकता था। विभिन्न लीलाओं जैसे रासलीला, रामलीला या कृष्णलीला में भी प्रायः यही पद्धति अपनाई जाती थी। अन्तर यह था कि इन लीलाओं में मञ्च के एक किनारे कुछ लोग बाजे आदि के साथ बैठे होते थे, जो कथा भाग या विभिन्न वर्णनों को गाते जाते थे तथा अभिनेय स्थल अभिनीत होते थे। रामलीला में आज भी यह पद्धति प्रचलित है और इस प्रकार गाये जाने वाले अंश भी कम नहीं होते हैं। प्राचीन ग्रीक नाटकों मे भी 'कोरस' की व्यवस्था थी जो सूत्रधार तथा दृश्यों के निर्देशक होने के साथ ही अभिनेय अंशों के अतिरिक्त अन्य वर्णनों को गाकर दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करते थे

केशवदास ने रामचन्द्रिका में अपने पूर्व की इन परम्पराओं और अपने अनुभवों का पूर्ण उपयोग किया है। जो वर्णन या कथाभाग की विशृङ्खलता प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से खलती है, वही नाटकीय दृष्टि से अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध होती है। रामचन्द्रिका का प्रारम्भ सूत्रधार के द्वारा (जिसका नामोल्लेख नहीं है) बड़े ही नाटकीय ढङ्ग से होता है। प्रारम्भ में सूत्रधार (कवि) विषय का परिचय देता है, फिर रामचन्द्र तथा चारों भाइयों का परिचय देता है। तदनन्तर वह विश्वामित्र के आगमन का वर्णन अत्यन्त ही नाटकीय ढङ्ग से करता है—

गाधिराज को पुत्र साधि सब मित्र शत्रुबल।
दान कृपान विधान वश्य कीन्हों भुवमंडल।
के मन अपने हाथ जीति जग इन्द्रियगण अति।
तपबल याही देह भये क्षत्रिय ते ऋषिपति।
तेहिपुर प्रसिद्ध केशव सुमति काल अतीतागत न गुनि।
तहँ अद्भुतगति पगु धारियो विश्वामित्र पवित्र मुनि ॥

इसके बाद वह विश्वामित्र की राह और अयोध्या की ओर उनके आगमन का वर्णन करता है। इसी क्रम में सरयू नदी आदि का वर्णन भी करता है और अन्त मे अयोध्या में उन्हे पहुँचा भी देता है।

रामकथा के कतिपय प्रसङ्गों को केशव ने रामचन्द्रिका में छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए मन्थरा तथा गुह निषाद का प्रसङ्ग। विचारणीय है कि केशव ने ऐसा क्यों किया ? केशव जैसे विद्वान् और अधीत व्यक्ति के लिए यह कहना कि उन्हें रामकथा का पूर्ण ज्ञान ही न था, अपनी अज्ञानता का प्रचार करना ही है। विचार करने पर यह बात भी स्पष्ट हो जायगी। मन्थरा का प्रसङ्ग नाटकीय दृष्टि से भी उपयुक्त प्रसङ्ग हो सकता था। पर केशव ने उसे भी छोड़ दिया। केशव को संस्कृत-नाटक और नाट्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान था और वे अभिनय के विधि-निषेधो से पूर्ण परिचित थे। मन्थरा जैसी दासी का कैकेयी को चढ़ाना और कैकेयी का उसके साथ वाद-विवाद करना अभिनय की दृष्टि से वर्जित ही था। मन्थरा का स्थान निम्न कोटि के पात्रों मे ही होगा। महारानी कैकेयी के साथ उसकी समता सम्भव न थी। यद्यपि आज की दृष्टि से यही उचित होता, पर संस्कृत-नाट्यशास्त्र की व्यवस्थाओं के अनुसार यह भी वर्जनाओं के अन्तर्गत ही आयेगा। गुह निषाद का प्रसङ्ग काव्य तथा भक्ति की दृष्टि से अवश्य मार्मिक है, किन्तु नाटकीयता की दृष्टि से उसमें कोई आकर्षण नहीं। अतः केशव ने इन प्रसङ्गों को छोड़कर कुछ अनुचित नहीं किया है। इसी क्रम में कतिपय अन्य कथाप्रसङ्गों का उल्लेख भी आवश्यक है जिन्हें केशव ने बहुत थोड़े में कहकर चलता कर दिया है। ऐसे प्रसङ्ग हैं—कैकेयी के वर माँगने का प्रसङ्ग, राम का वन-प्रस्थान, वन के मार्ग में रामादि का चित्रण आदि। कैकेयी के वर माँगने की संक्षिप्तता अवश्य खलती है। केशव ने एक ही छन्द में इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को समाप्त कर दिया है; गोकि यह प्रसङ्ग अत्यन्त ही नाटकीय है। फिर भी इस प्रसङ्ग का थोड़ा विस्तार अपेक्षित होता। वन-प्रस्थान के प्रसङ्ग मे नाटकीय दृष्टि से विचार की अधिक अनिवार्यता नहीं दीख पड़ती। वन-मार्ग में राम का जो वर्णन केशव ने किया है वह नाटकीय दृष्टि से सफल है यदि या ग्रामवधुओं के को

भक्ति से ओत-प्रोत केशव ने नहीं दिखाया तो इसके लिए केशव की दृष्टि, केशव की दरबारी मनोवृत्ति उत्तरदायी हो सकती है पर केशव की रामचन्द्रिका असफल नहीं सिद्ध होती। केशव ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में राम को परमेश्वर के रूप में वर्णन करने की घोषणा की है, और यदि वे उन्हें ठग कहलवाकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करते तो यह उनकी भक्ति की तुच्छता का द्योतक भले हो सकता है, रामचन्द्रिका इससे सदोष सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत इन प्रसङ्गों में केशव की दरबारी दृष्टि का, तत्कालीन मनोवृत्ति तथा स्थिति का आभास हमें मिलता है। अन्ततः कथा की संक्षिप्तता रामचन्द्रिका की अभिनेयता की दृष्टि से अनिवार्य थी। लम्बी कथा नाटक के लिए दोष ही होती है, गुण नहीं। केशव रामचन्द्रिका को अभिनेय बनाना चाहते थे, अतः कथा का संक्षेपण आवश्यक था। अभिनय के समय सूत्रधार और पात्रों के द्वारा कथा की विभिन्न कड़ियाँ भी जुड़ ही जाती हैं। अतः ऊपर से दीख पड़नेवाली कथा की यह विशृङ्खलता प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से ही है, नाटक की दृष्टि से कथा विशृङ्खल नहीं रह जाती।

(ख) अतिशय वर्णनप्रियता तथा दृश्यों के आलङ्कारिक वर्णन—शुक्ल जी ने रामचन्द्रिका मे दृश्यों की स्थानगत विशेषता का अभाव देखा था। वस्तुतः केशव के वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और सरल नहीं हैं। केशव अतिशय वर्णनप्रिय कवि हैं और जहाँ-तहाँ, मौके-बेमौके वे सेना, युद्ध, नदी, वन, पर्वत आदि के आलङ्कारिक वर्णन में जुट जाते हैं। यह उन पर आक्षेप है और इस कारण भी प्रबन्ध-काव्य की रचना में वे सफलता नहीं प्राप्त कर सके। पर नाटक की दृष्टि से विचार करने पर केशव बहुत-कुछ इस आक्षेप से भी मुक्त हो जाते हैं। दृश्य-वर्णन नाटकों की विशेषता रही है और उसका निर्वाह बहुत बाद तक हुआ है। भारतेन्दु के नाटको मे भी इस परम्परा का पालन हम पाते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में गङ्गा का वर्णन इसी प्रकार का वर्णन है। यह सही है कि रामचन्द्रिका में वर्णन की अधिकता है और केशव ने दृश्यों के आलङ्कारिक वर्णन मे बहुत अधिक रस लिया है। वस्तुतः उनका परिवेश और सिद्धान्त ही यही था। उन्होने तो इसकी घोषणा कर ही दी है और उससे प्रायः हिन्दी के सभी विद्वान् परिचित हैं।

रामचन्द्रिका में केशव ने जो भी वर्णन किये हैं, वे या तो सूत्रधार के द्वारा दृश्य-योजना के रूप में रखे गये हैं या स्वतः पात्रों के द्वारा ही किये गये हैं। उदाहरण के लिये विश्वामित्र के राह में जो दृश्य आते हैं, उनका वर्णन सूत्रधार अभिनय के समय करेगा। इसी क्रम में सरयू-वर्णन या बागों का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार पञ्चवटी या दण्डक वन का वर्णन राम, लक्ष्मण तथा सीता के संवाद के रूप में हुआ है और इनका अभिनय अच्छी तरह हो सकता है। इस प्रकार दृश्य-वर्णनों मे ये दो पद्धतियाँ केशव ने अपनाई है और दोनों ही पद्धतियों का नाटकीय दृष्टि से पर्याप्त औचित्य है। एक अन्य प्रकार का वर्णन भी रामचन्द्रिका में मिलता है जो वस्तुतः रङ्गमञ्च-निदेश का कार्य करता है। आजकल नाटककार गद्य में रङ्गमञ्च की योजना का निदेश कर देता है। केशव के पास चूँकि गद्य नहीं था, अतः पद्य में ही उन्होंने मञ्च की सजावट का निदेश भी दिया है। ऐसे स्थल रामचन्द्रिका में बहुत हैं और इन स्थलों में केशव ने बड़ी सफलता और सूझ का परिचय दिया है। विश्वामित्र के पहुँचने पर राजा दशरथ की राजसभा का जो वर्णन केशव ने किया है वह रङ्गमञ्च पर सभा की योजना का निदेश है। इस प्रकार रामचन्द्रिका के बहुत से वर्णन जो प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से दोष माने गये हैं, अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं पर इस सम्बन्ध में एक

और आक्षेप यह है कि जहाँ प्रबन्धकाव्य में सर्गान्त में आगे आनेवाली कथा की सूचना रहती है वहाँ रामचन्द्रिका में प्रकाश के आरम्भ में ही विषय-निर्देश है। नाटकीय दृष्टि से यह योजना और अधिक उपयोगी ही है, कारण सूत्रधार प्रारम्भ में ही आगे आनेवाले विषय का निर्देश इस प्रकार कर देता है। इस प्रकार रामचन्द्रिका का लगभग प्रत्येक प्रकाश आज के नाटकों के दृश्यों का स्थानापन्न है और यह सूचना दृश्य के आरम्भ में दी जानेवाली सूचना है।

(ग) **रामकथा में केशव के द्वारा विभिन्न परिवर्तन**—इस दृष्टि से भी कि केशव ने रामकथा में मनमाना परिवर्तन किया, उनकी पर्याप्त आलोचना हुई है। पर केशव ने जहाँ भी प्रसिद्ध कथा में कुछ परिवर्तन किये हैं, वहाँ उनका कुछ उद्देश्य रहा है। विश्वामित्र को जनकपुर के स्वयंवर-कथा का समाचार एक ब्राह्मण के द्वारा मिलता है। उसी ब्राह्मण के द्वारा केशव जनकपुर में घटित घटनाओं का वर्णन कराते हैं। पर वस्तुतः ये घटनाएँ मञ्च पर अभिनीत होती हैं। इस प्रकार केशव ने कथा के इस परिवर्तन के द्वारा बहुत पहले ही आज के नाटकों में अपनाई जानेवाली मनोवैज्ञानिक पद्धति के उपयोग का परिचय दिया है। गङ्गा के द्वारा भरत को यह कहला देने में भी कि वह राम को न रोकें, चित्रकूट का लम्बा प्रसङ्ग स्वतः समाप्त हो गया है। अतः केशव के द्वारा किये गये इन परिवर्तनों की नाटकीय अपेक्षा है।

(घ) **अतिशय संवादात्मक शैली तथा पात्रों के नाम पद्य से पृथक्**—आलोचकों ने चूँकि रामचन्द्रिका को प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से देखा, अतः यह दोष उन्हें दीख पड़ा। संवाद ही तो नाटक का वह तत्त्व है जो उसे अधिक प्रभावशाली तथा दृश्य बनाता है, अन्यथा मंच अभिनय का तो कोई अर्थ ही न होगा। संवाद की दृष्टि से रामचन्द्रिका कितनी सफल है, इसके लिये कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। स्वयं शुक्लजी ने भी रामचन्द्रिका के संवाद की शक्ति को स्वीकार किया है। नाटक के संवाद में तो पात्रों के नाम पृथक् होते ही हैं, अतः यह रामचन्द्रिका का कोई दोष नहीं। आज भी भारत के पश्चिमी भाग में रामलीला में केशव के संवाद अधिक प्रिय हैं।

(च) **अतिशय छन्द परिवर्तन**—केशव ने रामचन्द्रिका में बहुत अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। इतने अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग देखकर केशव के आलोचकों का यह निर्णय रहा है कि केशव का उद्देश्य पिङ्गल के क्षेत्र में पाण्डित्य प्रदर्शन था। केशव ने लक्षण तो नहीं दिये, पर लगता है जैसे उदाहरणों के माध्यम से ही पिङ्गल की शिक्षा देना या परिचय कराना उनका उद्देश्य था। छन्दों के अतिशय परिवर्तन से भावों के प्रभाव में भी त्रुटि आ जाती है। पर ध्यान से देखने पर हम पाते हैं कि छन्दों के परिवर्तन का भी औचित्य है। यह सही है कि बहुत अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग केशव ने किया है और इससे बहुत कम प्रकार के छन्दों से ही काम चल सकता था। फिर भी इस छन्द परिवर्तन से रामचन्द्रिका की नाटकीयता में अवरोध उत्पन्न नहीं होता बल्कि संवादों में और अधिक गति और सजीवता ही आती है। रामचन्द्रिका के संवादों की सफलता का एक कारण उपयुक्त छन्दों का प्रयोग भी है। भावों के अनुसार छन्द बदलते-चलते है। संवाद अधिक चोट करनेवाले और प्रभविष्णु सिद्ध होते है। वर्णनों में प्रायः एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग हुआ है। विवाह के अवसर पर एक ही छन्द हरिगीतिका प्रयुक्त हुआ है और इसी प्रकार रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध के वर्णनों में छन्दों म बहुत कम परिवतन हुए हैं

सीता-मुख वर्णन में भी एक ही छन्द दण्डक का प्रयोग किया गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि नाटकीयता की दृष्टि से रामचन्द्रिका में छन्दों के इस परिवर्तन से कहीं शिथिलता नहीं आती, न गतिरोध ही उत्पन्न होता है। प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से तो यह दोष है ही,पर रामचन्द्रिका प्रबन्धकाव्य के रूप में लिखी ही नहीं गई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामचन्द्रिका की रचना का उद्देश्य प्रबन्धकाव्य की रचना नहीं था और इस प्रकार यदि वह प्रबन्धकाव्य के रूप में असफल है तो यह स्वाभाविक ही है। किन्तु यदि संस्कृत के आचार्यों द्वारा दिये गये महाकाव्य के लक्षणों को रामचन्द्रिका पर घटित करें, तो केवल छन्दों की व्यवस्था को छोड़कर प्रायः सभी शर्तें रामचन्द्रिका पूरी कर देती है। साथ ही उसका पूर्वार्द्ध तो नाटक की दृष्टि से भी पूर्ण सफल ठहरता है। पर उत्तरार्द्ध में लव-कुश-प्रसङ्ग को छोड़कर शेष में नाटकीयता नहीं आ पाती। इन अंशों का औचित्य तो कविप्रिया में केशव की स्थापनाओं का व्यावहारिक रूप उपस्थित करने में ही दीख पड़ता है। बहुत अधिक प्रकार के छन्दों का, जिनमें एक अक्षर से लेकर ३१-३२ अक्षरों के चरणोंवाले छन्द भी हैं, प्रयोग यह सिद्ध करता है कि केशव छन्दो के क्षेत्र में भी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करना चाहते थे। इस प्रकार रामचन्द्रिका में केशव ने एक से अधिक साहित्यरूपों का इस प्रकार समावेश कर दिया है कि इसे किसी एक वर्ग के अन्तर्गत रखना कठिन है। फिर भी इसका दृश्यरूप ही अधिक प्रधान दीखता है। वस्तुतः रामचन्द्रिका को नाट्य-प्रबन्ध की संज्ञा से अभिहित करना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है और इसी रूप में इसका औचित्य भी है।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. हिन्दुस्तानी, १९६३ के प्रथम अङ्क में प्रकाशित। २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०९-११। ३. केशव और उनका साहित्य, पृ० २९५। ४. कविप्रया, प्रभाव २, छन्द १७। ५. कविप्रिया, पञ्चम प्रभाव, छन्द ३। ६. कविप्रिया, प्रभाव ४, छन्द ४। ७. कविप्रिया, प्रभाव ३, छन्द ५। ८. कविप्रिया, प्रभाव ३, छन्द ६। ९. रामचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश, छन्द—२४।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण में सरकारी कार्यालयों तथा जन-जीवन में हिन्दी का स्थान

• गोपाल राय

हिन्दी एक सङ्घर्षशील भाषा है। संसार की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो जिसे जनमते ही इतना घोर सङ्घर्ष करना पड़ा हो। फिर भी हिन्दी कभी हारी नहीं, कभी उन्मूलित नहीं की जा सकी। दूब की तरह यह अपनी दुर्दम्य जीवनीशक्ति का परिचय देती रही और आज तो भारत के जीवन में यह अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

१८५० ई० तक सरकारी अदालतों तथा अन्य सरकारी कार्यालयों में उर्दू का एकाधिपत्य स्थापित हो चुका था। गदर के बाद हिन्दी-प्रेमियों ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की स्वत्वोपलब्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द', राजा लक्ष्मण सिंह, श्री केशवचन्द्र सेन, प० श्रद्धाराम फुल्लौरी, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने अपने लेखों तथा भाषणों के द्वारा इसे सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप १८६० ई० के बाद हिन्दी का प्रचार तेजी से बढ़ा; पर जहाँ तक सरकारी अदालतों, कार्यालयों और शैक्षणिक संस्थाओं का प्रश्न है, सन् १८७० तक स्थिति मे प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ और हिन्दी, जन सामान्य की भाषा होने पर भी, सरकार तथा सरकारी कर्मचारियों की निरन्तर उपेक्षा का शिकार बनी रही।

'विवेच्य काल (सन् १८७५-१९०२ ई०) में हिन्दी-उर्दू सङ्घर्ष अपनी चरम सीमा पर था। एक तरफ तो भारतेन्दु मण्डल के हिन्दीप्रेमियों ने पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों में स्थान दिलाने का आन्दोलन शुरू किया, दूसरी तरफ उर्दूप्रेमियों की सारी कोशिश इस आन्दोलन को नाकाम कर देने में लगी रही। इस सङ्घर्ष के इतिहास को देखने से हिन्दी की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

सन् १८६८ ई० में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने कचहरियों में नागरी के प्रवेश के लिए असफल प्रयास किया था। विवेच्य अवधि में भी कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रवेश के लिए प्रयत्न किये जाते रहे, पर वहाँ उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का ही बोलबाला बना रहा। सन् १८७०-८० ई० की अवधि में अदालतों में हिन्दी की क्या स्थिति थी, इसका पता एक पाठक के अप्रैल १८७९ के 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित पत्र से चलता है। श्री महावीर प्रसाद नामक सज्जन ने, जो हजारीबाग में विद्यालय उपनिरीक्षक थे, लिखा था—"...और लोग तो यथाशक्ति हिन्दी को कुछ उत्साह भी देते हैं पर कायस्थ वर्ग हिन्दी की उन्नति का नाम ही सुन नाक

भौ सिकोड़ने लगते हैं मानो हिन्दी उनकी सौतेली माँ है और ये ही लोग औरों की अपेक्षा इस देश में प्रायः पढ़े लिखे और सभ्य भी होते हैं पर मातृभाषा हिन्दी के परम शत्रु हैं खासकर इस बिहार प्रान्त के कायस्थ जो उर्दू ही को मातृभाषा और अपने जीवन की सर्वस्व माने बैठे हैं.. इस प्रदेश में केवल यही जाति है जो कचहरियों में हिन्दी का जारी होना नही चाहते क्यों चाहेंगे हिन्दी का नाम तक नही जानते न उरदू का सा मजा इन्हें मिल सकता है उरदू उठ जाय तो गवर्नमेण्ट को अन्धा बनाय स्वदेशी भाइयों का गला रेतने का सुबीता कैसे मिले।"[१]

इस अवधि में कचहरियों में नागरी लिपि के प्रवेश के लिए बराबर प्रयत्न हो रहे थे। सन् १८८१ ई० में बिहार की कचहरियों में नागरी वा कैथी लिपि को प्रवेश मिला। इसी वर्ष मध्यप्रदेश की कचहरियों में भी हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रयोग की अनुमति मिली।[२] पर लगता है, सरकारी अनुमति प्राप्त हो जाने पर भी अमले और वकील मुख्तार हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रयोग में उत्साह नहीं दिखाते थे। उपर्युक्त श्री महाबीर प्रसाद ने अपने एक दूसरे पत्र में लिखा था—"......अभी विहार बन्धु की चेष्टा से नागरी अक्षरों का प्रचार कचहरियों में हो चला था और हिन्दी इस योग्य हो गई थी कि दो चार कदम चल फिर सके तो अब यार लोग रुपये की ३ अठन्नी के आने की जुगत बन्द होते जान भांत भांत की करामात करने से बाज नहीं आते जिसमें हिन्दी के पैर फिर टूट जांय।"[३]

बिहार और मध्यप्रदेश की अदालतों में १८८१ ई० में नागरी अक्षरों और हिन्दी भाषा को प्रवेश मिला और ज्यों-त्यों करके इनका थोड़ा बहुत व्यवहार भी यहाँ की कचहरियों में होने लगा; पर उत्तर प्रदेश में, जो हिन्दी भाषा का प्रमुख क्षेत्र था, विवेच्य अवधि में अदालतों की भाषा उर्दू ही बनी रही। मई १८८२ ई० में बाबू महाबीर प्रसाद ने अपने एक पत्र में लिखा था— "......कचहरियों मे उर्दू अपना दबदबा जमाए हुए है अपने सहोदर पुत्र मुसलमानों के सिवा हिन्दू जो उसके सौतेले पुत्र हैं उन्हें भी ऐसा फँसाय रखा है कि उसी के असंगत प्रेम में बंध ऐसे महानीच निठुर स्वभाव हो गए कि अपनी निज जननी सकल गुण आगरी नागरी.....की ओर नजर उठाय भी अब नहीं देखते।"[४]

अप्रैल १८८२ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में प० बालकृष्ण भट्ट ने पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध मे हिन्दी की दयनीय दशा पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"इस बात को सब लोग मानते है कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू कहीं जियादह हैं और मुसलमानों में भी थोड़े से शहर के रहने वाले पढ़े-लिखे को छोड़कर बाकी सब मुसलमान हिन्दी ही बोलते हैं वरन् दिहातों में बहुत से मुसलमान ऐसे मिलते हैं जो उर्दू, फारसी एक अक्षर नही जानते जो कुछ थोड़ा बहुत गोद-गाद लेते हैं वह सब हिन्दी नहीं तो कैथी में तब न जानिये सरकार ने प्रजा के दुःखदायी होने के लिए यह अनरीति कहा से सीखी जो उर्दू फारसी अक्षर अदालतों में जारी कर रक्खा है।"[५]

अगस्त १८८२ के 'हिन्दी प्रदीप' में प० बालकृष्ण भट्ट ने 'आनरेबिल डब्ल्यू हण्टर साहिब एल० एल० डी०, सी० आई० ई०, शिक्षा कमीशन के सभापति के नाम एक खुला पत्र' (दिनाङ्क २६ अगस्त सन् १८८२ ई०) छापा था, जिसमें उन्होंने अदालतों तथा स्कूलों में हिन्दी को उचित स्थान देने के लिए प्रार्थना की थी। उन्होंने हिन्दी के व्यापक प्रचार का उल्लेख करते हुए लिखा था ब्राह्मण से लेकर चमार तक इसी भाषा को बोलते हैं क्या राजा-रंक

क्या पण्डित क्या मूर्ख सब अपना हिन्दी का बोलते हैं गाँव के लोग जब अपने वकील मुख्तारों के पास आते हैं तो प्रथम अपना वृत्तान्त हिन्दी में कह सुनाते हैं फिर जब उसी भाषा में फारसी अरबी की गढ़न्त गढ़ी जाती है तो फिर वे दीन हीन प्रजागण उसके समझने में असमर्थ हो जाते हैं, जब उनके वकील-मुख्तार हिन्दी भाषा में बतला देते हैं तो उनका जी भर जाता है,यह बात दिन प्रति-दिन देखी जाती है इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी को पढ़ा अनपढ़ा सब समझता है और उर्दू को केवल फारसी अरबी वाले बूझ सकते हैं इसी विचार पर गवर्नमेण्ट भी सबके जनाने के लिए कभी-कभी हिन्दी में उलथा कराके अपना प्रयोजन करती है जब छोटे-छोटे लड़के फारसी की किताबें पढ़ने लगते हैं तो उन्हें फारसी शब्दों का अर्थ इसी हिन्दी शब्दों में बतलाया जाता है तो उनकी समझ मे आता है इसीलिए लड़कों को खालिकबारी किताब पढ़ाई जाती है जिसको बहुत दिन हुए खुसरो सुलतान ने फारसी शब्दों का अर्थ हिन्दी में लिखा है तो भी जो चौदह-पन्द्रह वर्ष तक फारसी-अरबी को नहीं पढ़ते उर्दू ठीक ठीक उनकी समझ में नहीं आती। इसी कारण बहुत से मुसलमान ताजिया के दिनों में हिन्दी का मर्सिया पढ़ते सुनते हैं क्या शहर क्या गाँव सब ठौर मुसलमानों के घर की भी स्त्रियाँ हिन्दी के गीत गाती हैं धर्म सम्बन्धी गीतों में नबी पैगम्बर रसूल का नाम छोड़कर और सब शब्द हिन्दी के रहते हैं और दूसरे प्रकार के गीतों में केवल हिन्दी के रसीले शब्द भरे रहते हैं।.......

"इस पश्चिमोत्तर देश और अवध में सब मिल के ४, ४१, ७०, ११८ मनुष्य हैं उनमें से ५८, २२, ८८६ मुसलमान हैं और शेष हिन्दू कि जिनकी मातृभाषा किसी न किसी प्रकार हिन्दी ही है। रहे मुसलमान सो उनमें भी जितने गाँव के रहने वाले हैं वे तो अवश्य ही हिन्दी बोलते है और समझने को तो कोई ऐसा नहीं है कि हिन्दी को न समझे। बोलने में भी १० मुसलमानों में ९ हिन्दी बोलते हैं कारण यह कि हिन्दी देश की भाषा और उर्दू किताबी भाषा है कि जिसके लिए बहुत समय चाहिये।

.. "हिन्दी के सहज और रोचक होने के कारण आल्हा-ऊदल की लड़ाई का कड़खा जब ढोल बजाय के गाया जाता है तब सुन्ने वालों की भीड़ से जगह नहीं मिलती यही गति पादरियों की है कि हिन्दी भाषा में उपदेश करने के कारण एक बड़ी भीड़ उनके पास इकट्ठी हो जाती है और उनकी पुस्तक हाथों-हाथ बिक जाती है और हमारी सरकार विद्या रूपी अमृत कुण्ड को अरबी-फारसी के कठिन शब्द रूपी वज्र केवाड़ से ऐसा बन्द कर रक्खा है कि जिससे सर्वसाधारण प्रजा मूर्ख और निरक्षर होती जाती है। इस बात के ध्यान को छोड़ कोई-कोई बड़े लोग थोड़े से अरबी-फारसी के पक्षवालों के कहने से संदेह में पड़े हैं कि कदाचित् हिन्दुस्तानियों की भाषा हिन्दी के सिवाय और ही हो।

"श्रीमान् ग्रिफिथ साहब ने अपनी सन् १८७७ वा १८७८ की रिपोर्ट में यह बात खोलकर लिख दिया है कि इस देश की भाषा हिन्दी है और अवध के इन्सपेक्टर श्रीमान् नेसफील्ड साहब ने अवध में विद्या के न फैलने का कारण यही लिखा है कि वहाँ के लोगों की भाषा (हिन्दी) में शिक्षा न दी जाकर उर्दू में पढ़ाई होती है जिस कारण से लोग अपने बालकों को स्कूल कम भेजते हैं।

"स्त्री शिक्षा जो कि जातीय शिक्षा का एक बड़ा भारी अंग है कभी उर्दू के द्वारा हो सकेगी

यह सर्वथा असम्भव है हमारे देश की स्त्रियाँ कभी उर्दू भाषा के पढ़ने में प्रीति करें यह विचारना ही व्यर्थ है। इस विषय में एक यही बड़ा भारी प्रमाण है कि स्त्रियों के पढ़ने के लिये जो पुस्तके हिन्दी और उर्दू भाषा में सर विलियम मेयोर साहब ने छपवाई थी, उनमें हिन्दी पुस्तकें उर्दू पुस्तको से बहुत ही अधिक बिकीं और कई बार छप चुकी हैं।"[६]

अपने इस पत्र में भट्ट जी ने सरकार से प्रार्थना की थी कि हिन्दी जैसी जनभाषा और नागरी जैसी जनलिपि को स्कूलों और कचहरियों में उचित महत्त्व प्रदान किया जाए।

सन् १८८२ में 'मित्रविलास' के सम्पादक प० गोपीनाथ ने लाहौर के रईसों की ओर से शिक्षा आयोग में उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए एक स्मरण-पत्र (मेमोरियल) भिजवाने का प्रयत्न किया था। प० बालकृष्ण भट्ट ने मार्च १८८२ के 'हिन्दी प्रदीप' मे प० गोपीनाथ को इस कार्य के लिए धन्यवाद देते हुए उत्तर प्रदेश के नागरिकों को भी इस प्रकार का प्रयत्न करने के लिए उत्साहित किया था।[७] उत्तर प्रदेश के अन्य हिन्दी-हितैषी भी अदालतों में नागरी लिपि के प्रयोग के लिए सरकार के पास स्मरण-पत्र (मेमोरियल) भेजने का विचार कर रहे थे।

फलतः इसी वर्ष स्मरण-पत्र भेजने का निश्चय किया गया जिसकी अन्तिम तिथि ३० नवम्बर १८८२ रखी गयी। अक्टूबर १८८२ के 'हिन्दी प्रदीप' में श्री राधाचरण गोस्वामी ने एक विज्ञापन निकाला था, जिसमें लोगों से निवेदन किया गया था कि वे अदालतों में हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों के प्रचलन के लिए अधिकाधिक संख्या में मुद्रित मेमोरियल पर हस्ताक्षर करके भेजें। अनेक हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी की संस्थाएँ इस कार्य में सलग्न थीं। अलीगढ़ की 'भाषावर्द्धिनी सभा' बहुत उत्साह से हस्ताक्षर सङ्कलन का कार्य कर रही थी।[८]

सन् १८८२ ई० में ही हजारों लोगों द्वारा हस्ताक्षरित स्मरण-पत्र जिसमें पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालतो में नागरी लिपि जारी करने की माँग की गयी थी, 'हण्टर आयोग' के समक्ष प्रस्तुत किया गया। पर सर सैयद अमहद खाँ ने, जिनकी बात सरकार में ज्यादा सुनी जाती थी और जो आयोग के प्रभावशाली सदस्य थे, आयोग को समझा दिया कि यह मामला शिक्षा आयोग से सम्बद्ध नहीं है, बल्कि एक राजनैतिक मामला है। इस पर आयोग को विचार करने का अधिकार नहीं है।[९]

फलतः हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के दावे को अस्वीकार कर दिया गया।[१०] फरवरी १८८४ के 'हिन्दी प्रदीप' में प० बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दीभाषियों से अपील की कि वे अब महारानी विक्टोरिया के पास अपनी प्रार्थना भेजें और यदि वहाँ भी सफलता न मिले तो रूस, जर्मनी तथा फ्रान्स के राजाओं से इस सम्बन्ध में निवेदन किया जाए।[११]

सितम्बर १८८५ के 'हिन्दी प्रदीप' में प० बालकृष्ण भट्ट ने 'म्युनिसिपलिटी का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की जिसमें म्युनिसिपैलिटी के कार्यालयों में फ़ारसी अक्षरों के स्थान पर नागरी अक्षरों के प्रयोग की अपील की गयी थी।[१२] 'हिन्दी प्रदीप' के ही अक्टूबर १८८५ के अङ्क में 'प्रेरित पत्र' शीर्षक स्तम्भ में एक पाठक ने उर्दू के स्थान पर नागराक्षरों के प्रयोग का समर्थन किया था।[१३] तत्पश्चात् अगस्त १८८८ के हिन्दी प्रदीप' मे प० बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित हिन्दी का अपमान' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित

हुआ था, जिसमें अंगरेजी शासन द्वारा की जाने वाली हिन्दी की उपेक्षा पर प्रकाश डाला गया था।[१४]

अदालतों में नागरी लिपि-प्रयोग सम्बन्धी जनता की निरन्तर बर्द्धमान माँग की बहुत दिनों तक उपेक्षा करना सरकार के लिए भी कठिन था। बिहार तथा मध्यप्रदेश की अदालतों में नागरी-प्रयोग की अनुमति सन् १८८१ ई० में ही प्राप्त हो गयी थी। सम्भलपुर और रीवां की अदालतों में क्रमशः सन् १८९४ में और सन् १८९५ ई० में नागरी लिपि का प्रवेश हुआ। मध्यप्रदेश के बहुत से देशी राज्यों मे नागरी के प्रचार के लिए प्रयत्न किये जा रहे थे। सन् १८९९ के कुछ पूर्व इलाहाबाद प्रान्त के बरावाँधिपति ने अपने राज्य की अदालतों में नागरी-प्रयोग का आदेश दिया।[१५] पर संयुक्त प्रान्त की सरकारी अदालतों में अभी उर्दू का ही एक छत्र आधिपत्य था। एक तरफ संयुक्त प्रान्त के जन-नेता, हिन्दी-लेखक तथा हिन्दी प्रेमी अदालतों में नागरी के प्रवेश के लिए निरन्तर आन्दोलन कर रहे थे, सरकार के पास एक प्रतिनिधि मण्डल के बाद दूसरा प्रतिनिधि मण्डल, एक स्मरण-पत्र के बाद दूसरा स्मरण-पत्र, लगातार भेजा जा रहा था, दूसरी तरफ मुसलमान नेता इस आन्दोलन को विफल सिद्ध करने में जी जान से लगे हुए थे। मुसलमानों का ब्रिटिश सरकार का समर्थन प्राप्त था ही। १८९१ ई० में सरकार की तरफ से यह आदेश जारी किया गया कि हाईकोर्ट की परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए उर्दू पढ़ने-लिखने की योग्यता अनिवार्य है। इस सरकारी आदेश की आलोचना करते हुए पं० बालकृष्ण भट्ट ने अगस्त १८९१ के 'हिन्दी प्रदीप' में 'कमजोर हिन्दी की कमर तोड़ देने की एक नई तदबीर' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की जिसमें उन्होंने लिखा "हाल के पश्चिमोत्तर के गवर्नमेण्ट गजट में एक नया नियम छपा है कि जब तक निश्चय न हो जाय कि यह अच्छी तरह उर्दू पढ़ लिख सकता है तब तक हाईकोर्ट के इम्तिहान में शरीक न किया जाय। ...यह नियम विशेषकर हिन्दी की कमर तोड़ देने को किया गया है अब हिन्दी या संस्कृत स्कूलों में और भी कोई क्यों पढ़ेगा —इस समय यदि कोई हिन्दू हाईकोर्ट का जज होता तो इस नियम को कभी न बनने देता।"[१६]

'हिन्दी प्रदीप' नागरी आन्दोलन का एक तरह से मुख्य पत्र था। पं० बालकृष्ण भट्ट जो 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे, सदा अदालतों में नागरी प्रवेश सम्बन्धी अपीलें प्रकाशित किया करते थे। इन अपीलों से नागरी-आन्दोलन की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। जनवरी-अप्रैल १८९६ ई० के अङ्क में उन्होंने 'हिन्दी की पुकार' शीर्षक एक अपील प्रकाशित की थी, जिसमें यह दिखाते हुए कि हिन्दी ही इस देश की भाषा है, अदालतों में नागरी के प्रयोग की माँग की थी। दिसम्बर १८९७ के 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी ने फिर एक अपील प्रकाशित की, जिसका शीर्षक था, 'हिन्दी के दिन भी कभी बहुरेंगे।' इस प्रार्थना-पत्र में भट्ट जी ने लिखा था—"बहुत दिनों तक बिहार और मध्य-प्रदेश में रहकर अपने निज के अनुभव से लाट साहब[१७] जान गये होंगे कि बिहार और मध्यप्रदेश की अदालतों में हिन्दी अक्षर प्रचलित रहने से सरकारी कामों में कोई त्रुटि न हुई वरन् सब काम आसानी से होता रहा—हम अपना और हिन्दी का भी बड़ा सौभाग्य मानते है कि जहाँ वे गये वहाँ हिन्दी इनके साथ रही तो हिन्दी के इस नित्य सम्बन्ध को उक्त श्रीमान् क्यों अपने से अलग कर रहे हैं। ...हिन्दी अक्षर अदालतों में जारी होने से बड़ा कल्याण तो यह देख पड़ता है कि ललाट लिपि से विधना के अक्षर समान शिकस्ता उर्दू अदालतों से उठा दी जाय तो अमलों

के चङ्गुल से प्रजा का जी छूटे और गवर्नमेण्ट के शुद्ध न्याय में बट्टा न लगे। कई बार की देखी बात है कि दिहातों में एक साधारण सम्मन के आने पर भी लोगों में तहलका फैल जाता है और लोग घर पर उसे पढ़ाते फिरते हैं और फिर भी बहुधा मतलब साफ नहीं होता।...हम जो सबसे पीछे हटे हुए हैं उसका कारण एक यह भी है कि हमारे अक्षर और हमारी भाषा यहाँ की अदालतों में स्थान नही पाये हुए हैं।"[१८]

इसी समय के लगभग अदालतों में नागरी अक्षर का प्रयोग आरम्भ करने के लिए एक प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेजा गया। पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा कुछ कायस्थ कर्मचारियों ने, जैसा भट्ट जी ने लिखा है, इसका विरोध किया। इस प्रार्थना-पत्र तथा इसके विरोध की सूचना प० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी अक्षरो की दरखास्त पर क्या किया गया' शीर्षक टिप्पणी में, जो 'हिन्दी प्रदीप' के मई-जून १८९८ ई० के अङ्क में प्रकाशित हुई थी, निम्नलिखित रूप में दी थी—

"अदालतों में नागरी अक्षरों के जारी करने की जो दरखास्त श्रीमान छोटे लाट साहब को दी गयी थी उसका परिणाम अबतक कुछ न प्रकट हुआ...तीसरी या चौथी बार है कि गवर्नमेण्ट के सामने यह मामला पेश किया गया है जिस गौरव और यत्न से अबकी बार यह पेश किया गया ऐसा पहले नहीं किया गया था—इस बारे में जो कुछ लिखापढ़ी अब तक 'पायोनियर' मे छपी है उससे प्रकट है कि पढ़े-लिखे मुसलमान उसके सब तरह विरुद्ध हैं—कायस्थों में भी जो देश और समाज के हित-अनहित को अच्छी तरह समझते हैं अवश्य इसके अनुकूल है—किन्तु अमले लाला भाई इसके प्रतिकूल भी हैं इसलिए कि वे समझते हैं कि नागरी अक्षर जारी होने से हमारी हानि है—पर यह उनकी उलटी समझ मात्र है ये लोग तो यही चाहेंगे कि अदालती कारवाइयों की लिखापढी मे अजनबीपन जरूर रहे। अदालत की लिखापढ़ी जो साफ और सीधी सरल भाषा में रहेगी तो उन्हें फिर कौन पूछेगा—दूसरे यह की पढ़े लिखे हिन्दुओं का उर्दू-फारसी से दुनियावी कामों मे जाहिरा कौन सा नुकसान हुआ है जो नागरी के लिए यत्न करें और नागरी न प्रचलित होने से पछतावा मन में लावें—...हानि तो इसमें साधारण प्रजा की है जो सरकारी नौकर नहीं है और न सरकारी नौकरी से जीविका करना चाहते है—जिस भाषा को आम रियाया नहीं समझती उसमे अदालतों की कार्रवाई उन गरीब किसान या दिहात के रहनेवालों के माथे बिसरती है।"[१९]

सन् १८९८ तक अदालतों में ही नहीं, म्युनिसिपल या लोकल बोर्ड में भी उर्दू ही कामकाज की भाषा थी। भट्ट जी ने मई-जून १८९८ के 'हिन्दी प्रदीप' में 'म्युनिसिपल का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने यह माँग की थी कि म्युनिसिपल या लोकल बोर्ड में उर्दू अक्षरों के स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रयोग अपेक्षित है।[२०]

सं० १९५० वि० (सन् १८९३) में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना हुई। यह सभा मुख्यत: नागरी प्रचार के उद्देश्य से ही स्थापित की गयी थी। सन् १८९५ ई० में जब पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध के गवर्नर (छोटे लाट) का आगमन काशी में हुआ तो सभा की ओर से उन्हे अदालतों में नागरी लिपि का प्रचार करने के लिए एक आवेदन-पत्र दिया गया।[२१] सन् १८९८ ई० के आरम्भ में सभा के तत्त्वावधान में एक तगड़ा डेपुटेशन प्रान्तीय गवर्नर की सेवा में भेजा गया, जिसमें प० मदनमोहन मालवीय सर सुन्दरलाल राजा माँडा राजा आवागढ़ जैसे प्रभावशाली

व्यक्ति थे। इस डेपुटेशन के अध्यक्ष अयोध्यानरेश महाराजा प्रतापनारायण सिंह थे। डेपुटेशन ने हजारों हस्ताक्षरों से युक्त एक स्मरण-पत्र भी सरकार की सेवा में प्रेषित किया।[२२] पर सरकार ने इस पर तुरन्त कोई निर्णय न किया। पश्चिमोत्तर प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर एण्टोनी मैकडॉनेल अदलतों में हिन्दी जारी करने के समर्थक थे, पर अंगरेज सरकार मुसलमानों को, राजनैतिक कारणों से, अप्रसन्न करना नहीं चाहती थी। इधर हिन्दी प्रेमी से निरन्तर अदालतों में नागरी के प्रयोग की मांग उठ रही थी। मई १८९९ के 'हिन्दी प्रदीप' में प० बालकृष्ण भट्ट ने 'श्रीमान् छोटे लाट साहब नागरी जारी होने की आज्ञा देने में क्यो देर कर रहे हैं' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने लिखा—"आज १४ महीने के ऊपर हो गये श्रीमान् छोटे लाट की सेवा में पश्चिमोत्तर और अवध की ओर से अदालतों में नागरी प्रचलित करने के लिए एक डिपुटेशन भेजा गया जिस पर श्रीमान के उत्तर का एक टुकड़ा यह है—"हमारी प्राइमरी शिक्षा तालीम इब्तदाई के इन्तिजाम के बदौलत हिन्दी पढ-लिख सकने लायक आदमियों की गिन्ती दिन-दिन बढ़ रही है हिन्दी पढ़ लिखे लायक लोगों की गिन्ती बढ़ने के साथ सरकारी दफ्तरों में केवल फारसी अक्षरों के ही जारी रहने से राजा-प्रजा के आपस के साथ व्यवहार में बाधा पड़ेगी और इस तरह की बाधायें देश को हानिकारक है।" ऐसी ऐसी कई एक बातें हमारे विचारवान लाट साहब ने नागरी के अनुकूल कही जिसे सुन नागरी हितैषियों को बहुत कुछ आशा बंधी।

"प्रभुवर ने यह भी कहा कि "मेरा सिद्धान्त यह है कि मैं भी यह समझता हूं कि सरकारी कागजों में नागरी अक्षरों के अधिक प्रचार से फायदा होगा समय भी परिवर्तन के पक्ष में है पर मैं कोई ऐसा जरूरी या मुनासिब सबब नहीं देखता कि क्यों ऐसी जल्दी की जाय—क्यों न सोच विचार उन लोगों के हित और मन के भावों पर जो इस परिवर्तन के प्रतिकूल है उचित उपाय कर इस काम को करें—मुसलमान लोग जैसा ख्याल है इस रद्दोबदल के विरोधी होंगे"।[२३]

इससे स्पष्ट है कि अंगरेज सरकार हिन्दुओं की न्यायपूर्ण मांग की तुलना में मुसलमानों की प्रसन्नता को अधिक महत्त्व देती थी। अदालतों में नागरी प्रयोग के सम्बन्ध में निर्णय करने में विलम्ब का यही कारण था।

अन्ततः १८ अप्रैल सन् १९०० में संयुक्त प्रान्त के गवर्नर ने यह आदेश प्रचारित किया कि यदि कोई व्यक्ति दीवानी या फौजदारी अदालतों में आवेदनपत्र या शिकायत नागरी अक्षरों में लिखकर देना चाहता है तो वह अस्वीकार नहीं की जायगी।[२४] इस प्रकार अन्ततः नागरी-आन्दोलन की विजय हुई।

पर इस आदेश का जैसा प्रभाव हिन्दी के प्रसार पर पड़ना चाहिए था वैसा न पड़ा। कचहरियों में काम करने वाले अमले जिनमें अधिकांश मुसलमान और कायस्थ थे, उर्दू के पक्षपाती थे, अतः नागरी-प्रयोग की अनुमति मिल जाने पर भी ये फ़ारसी अक्षरों का ही प्रयोग करते थे तथा नागरी लिपि में आवेदनपत्र देने वालों को निरुत्साहित करते थे। इस स्थिति की सूचना तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों तथा भाषणों से मिलती है। 'मर्यादा' के जून १९१२ के अङ्क में प्रकाशित 'नागरी का प्रचार' शीर्षक टिप्पणी में यह सूचना दी गयी थी कि "१८ एप्रिल सन १९०० को यह आज्ञा प्रचार की थी कि यदि कोई किसी प्रकार की अर्जी या

शिकायत दीवानी या फौजदारी कचहरियों में नागरी अक्षरों में लिखकर दे तो वह ले ली जायगी इस आज्ञा के अनुसार हाईकोर्ट में तथा जिले की अनेक छोटी और बड़ी कचहरियों में हज़ारों दरखास्तें दाखिल होती आयी हैं। परन्तु शोक की बात है कि कहीं-कहीं कोई हाकिम और अमले कभी-कभी नागरी में लिखी अर्जी या दर्खास्तों के लेने में सङ्कोच करते हैं और कहीं-कहीं नागरी के दर्खास्त के साथ वे उर्दू का तर्जुमा माँगते हैं। उनकी यह कार्रवाई गवर्नमेंट की आज्ञा के बिल्कुल विरुद्ध है।"[२५]

उपर्युक्त विवरणों से पता चलता है कि विवेच्य अवधि में सरकारी कार्यालयों और अदालतों में हिन्दी का स्थान नगण्य था। इस स्थिति का कुछ पता सन् १८८४ ई० के 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित 'मृत हिन्दी को जीवनदान मिलने का क्या उपाय है' शीर्षक टिप्पणी से भी चलता है। इस टिप्पणी के कुछ महत्वपूर्ण अंश उद्धृत किये जा रहे हैं—

"इन दिनों हमारे देश के लोग तीन हिस्सों में बँटे हुए हैं—पूर्णशिक्षित, शिक्षित, अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित। इनमें पूर्ण शिक्षित वे हैं जो बड़े से बड़ा इम्तिहान पास कर पूर्ण प्रज्ञ अथवा पूर्ण विद्वान, फजीलत की पगड़ी बाँधे इल्म के जोर से भरे हुए अपने दाहिने-बायें ऊपर-नीचे चारो दिशा में उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते सब समय अंगरेजी ही अंगरेजी पुकार रहे हैं, उनका परम पुरुषार्थ उनकी योग्यता का सर्वस्व. . . .इसी में है कि हिन्दुस्तानीपन की बू हमसे किसी प्रकार दूर हो. . . .अब दूसरी श्रेणी के लोगों को लीजिए. . . .तृतीयांश इनमें के मौलवी साहब को अपना महामान्य बनाये बैठे हैं, सभ्य समाज में शस्ता उर्दू के मुकाबिले हिन्दी के भद्दे शब्द मुँह से निकल जाना मानो प्रायश्चित्त के भागी होना है इनके द्वारा हिन्दी का आगार बढ़े सो तो होना नहीं, क्योंकि इन बेचारों में उतनी योग्यता कहाँ जो वंगभाषा के समान अंगरेजी तथा अन्य भाषाओं के सद्ग्रन्थ और सुप्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता और लेखकों के लेख का अनुवाद कर सकें. . . .अब अशिक्षितों या अर्ध शिक्षितों की तीसरी श्रेणी को लीजिए जिनमें सबके सब मुड़िया अक्षर महाजनी के दोस्त रामागती वाले हैं. . . .धन ऐसे लोगों के पास बहुत है, फजूलखर्ची में चाहे सब का सब फूँक बैठे, पर उस धन से कहीं कभी हिन्दी का कुछ उपकार साधन हो कभी सम्भव नहीं. . . .अस्तु इन तीनो कोटि के मनुष्यों से निराश हो अब कोरे पण्डितों को लीजिए. . . .इन पण्डितों का यह हाल है कि दो लड़ाकू मेढ़ों की तरह शुष्कवाद में कहिये वादी का दिमाग चाट डालें, पर लिखने को कहिये तो एक पंक्ति भी शुद्ध न लिख सकेंगे, वरन् हिन्दी का लिखना-पढ़ना अपनी अप्रतिष्ठा मानते हैं. अब बचे हमारे कायस्थ भाई जिनमें अनादि काल से कुछ न कुछ विद्या का सम्पर्क चला आया है; पर बाल्य अवस्था ही से यवनी उर्दू-फारसी के अनुशीलन से इनकी समाज की समाज महाम्लेच्छ हो गई, इनसे हिन्दी का उपकार कब होना है. . . दश वर्ष से 'कायस्थ समाचार' निकलता है तथा उसीके ढग पर हाल में 'खत्री हितकारी' निकलने लगा है, परन्तु दोनों उर्दू में, उन्हें हिन्दी में करने की चेष्टा आजतक किसी ने न किया. . . .अस्तु इधर से भी हमें नैराश्य है—कचहरियों में इसका प्रवेश होकर यह राजभाषा की जाय कभी मुमकिन नहीं। चाहे आप हजार वर्ष तक सिर पटकते रहिये—तब इस मृत हिन्दी के पुनरुज्जीवन की कौन आशा है—केवल इतनी ही कि हम लोग जो हिन्दी के लेखक बनने का अभिमान रखते हैं बेहयाई से अपना शुष्क रुधिर चुसाय चुसाय चाहे इसे जीवित रक्खें तो यह प्राण होने पर भी जीती रहेगी"[२६]

न्दी की दयनीय दशा और सरकार द्वारा की जानेवाली उसकी उ
द्य भी 'हिन्दी प्रदीप' में छपे थे। जनवरी १८८४ के 'हिन्दी प्र
शीर्षक पद्य प्रकाशित हुआ था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित

सुनो कोऊ हिन्दी हू की टेर।
दीन हीन अति दीन दुखित मन भ्रमति दैव के फेर।
गली गली ठुकराति अनादृत धरें बोझ सिर ढेर॥
कौड़िहू कोउ कदर करत नहिं देत न धीरज हेर॥
जिनके करगत भाग्य हिन्द को जिनके करगत न्याय॥
..............................॥

क्टूबर सन् १८८४ के 'हिन्दी प्रदीप' में श्रीधर पाठक रचित दो
हिन्दी की दयनीय स्थिति का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया थ
याँ द्रष्टव्य है—

हिन्दी का अब तो कोई कदरदां रहा नहीं।
बाइस यही है उसका छतया जरा नहीं॥१॥
कायथ हैं जितने मुल्क में पढ़ते हैं फारसी।
हिन्दी का नाम लेना भी उनको रवा नहीं॥२॥
शास्तर के रटने वालों को हिन्दी से काम क्या।
भाषा की पोथी पढ़ने से बनता गधा नहीं॥३॥
सब सेठ साहूकारों को पढ़ना हराम है।
नौकर नहीं है होना मुसीबत जदा नहीं॥४॥
अंग्रेजी पढ़े बाबू को हिन्दी से क्या गरज।
इंगलिश की बराबर तो किसी में मजा नहीं॥५॥
रजवाड़ों का उर्दू ही से चलता है कारोबार।
हिन्दी को दें रिवाज क्यों सिर तो बुखा नहीं॥६॥
सरकार में नहीं है जब इसकी कदर कहीं।
ऐ यारो हिन्दी का पढ़ना बजा नहीं॥७॥
इस मुल्क मगरबी व शुमाली के दर्मियान।
लोगों में इत्तिफाक या एका जरा नहीं॥८॥
गाँवों के रहने वालों की हिन्दी जबान है।
शायक गो उसके पढ़ने का उनके सिवा नहीं॥९॥
दिक्कत हजारों सहते हैं उर्दू से ये गरीब।
लेकिन मरज की जानते कुछ भी दवा नहीं॥१०॥
अफसोस सद् अफसोस कि हिन्दू ये बेशुमार।
उर्दू के बद फरेब से करते गिला नहीं। ११।

'हिन्दी प्रदीप' के इसी अङ्क में श्रीधर पाठक लिखित 'हिन्दुस्तान की चन्द भाषाओं की समालोचना' शीर्षक एक व्यंग्य शब्दचित्र प्रकाशित हुआ था। इस समालोचना से हिन्दी, उर्दू या फ़ारसी और अंग्रेज़ी की तुलनात्मक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है:—

"हिन्दी—हिन्दुओं की जबान बेजान। उर्दू से कटाये कान। कमर टूटी हुई लाठी पुरानी हाथ मे बेमदद बेआका। मुसीबत जदा। जगह जगह मारी फिरती है।

उर्दू—शुतर बेमहाल। गर्दन पर लम्बे अयाल। नीम हिन्दू नीम मुसलमान जरा जरा कुस्तान काइथों की प्यारी रैयत की जाल की हत्यारी बडा रुतबा बड़ा जोर। सारे जहान में पड़ा शोर। शाइस्तगी की नाक दुम दड़ाक उड़ावे हिन्दुस्तान की खाक।

फारसी—तमीज व शऊरियत की आरसी। काजी व मुल्लाओं की रोजी। मुसल्मानों की फीरोजी। कायथों की हकीकी जबान। जौहरे हिन्दुस्तान। पुरलुत्फ किस्से। जी लोट पोट हो जिस्से। गुलिस्ताने इश्क। बोस्ताने मुश्क। "अहा खालिक चिहा करदी बला अन्दर बला कर दी।"

अगरेजी—बाबू लोगों की जबान। जहान कदरदान सिवलिजेशन की माँ। बलन्द रुतबा। बगालियों को फरोग। नदिहिन्दों की अकल को दरोग। बहबूदी हिन्दुस्तान। पूरा करे दिल के अर्मान।"[२९]

दिसम्बर १८८४ के 'हिन्दी प्रदीप' में भी एक गज़ल प्रकाशित है जिसका शीर्षक है "नाचना बी उर्दू का बीच हिन्दुस्तान के और बयान करना अहवाल अपना साथ दिलचस्प तान के"। इस गजल में हिन्दी की दुरवस्था और उर्दू का बोलबाला दिखाया गया है। बीबी उर्दू गाती है।

हिन्दू की हिमाकत से मेरा बस नहीं चलता।
कायथ व मुसलमानों पर दिलोजा से मरी हूँ॥[३०]

इन साक्ष्यों से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि विवेच्य अवधि (१८७५–८९) में अदालतों और सरकारी कार्यालयों में हिन्दी और नागरी लिपि का प्रयोग प्रायः नहीं होता था। १८८१ ई० मे बिहार और मध्य प्रदेश की कचहरियों मे नागरी लिपि के प्रयोग की अनुमति मिली, पर सरकारी अमलों के, जिनमें मुसलमानों और कायस्थों की बहुलता थी, अननुकूल रहने के कारण हिन्दी और नागरी लिपि का विशेष कल्याण न हो सका। उर्दू भाषा तो बिहार की अदालतो मे बनी ही रही, नागरी के स्थान पर कर्मचारियों ने कैथी अक्षरों का प्रचार शुरू कर दिया।

उधर पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध की अदालतों में उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का ही एकाधिपत्य बना रहा। हिन्दी प्रेमियों ने अदालतों में, नागरी लिपि के प्रवेश के लिए बहुत उद्योग किये, पत्र-पत्रिकाओं में आन्दोलन किये गये, सरकार के पास स्मरण-पत्र भेजे गये, पर कोई फल नहीं निकला। ब्रिटिश सरकार राजनीतिक उद्देश्यों से मुसलमानों को खुश रखना चाहती थी और मुसलमान हिन्दी-विरोधी थे। फलतः हिन्दीवालों की माँग सरकार द्वारा ठुकरा दी गयी और फ़ारसी लिपि में लिखित उर्दू ही अदालतों और निम्नस्तरीय सरकारी काम-काज की भाषा बनी रही। फिर भी हिन्दी व्यापक जन-समाज की भाषा थी। अतः कठोर से कठोर सरकारी

उपेक्षा भी इसे समूल नष्ट न कर सकी। देवकीनन्दन खत्री जैसे उपन्यासकारों ने हिन्दी की इस शक्ति को पहचाना और सिद्ध कर दिया कि हिन्दी को आगे बढ़ने के लिए सरकारी बैसाखी की आवश्यकता नहीं।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८७९। २. पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, १८९८ ई०, पृ० १२५-२७। ३. प्रेषित पत्र, हिन्दी प्रदीप, मार्च १८८०। ४. वही, मई १८८२। ५. पश्चिमोत्तर और अवध में हिन्दी की हीन दशा, वही, अप्रैल १८८२। ६. वही, अगस्त १८८२। ७. वही, मार्च १८८२। ८. वही, अक्टूबर १८८२। ९. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ८९। १०. हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८८४। ११. हण्टर स्तोत्र, हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८८४। १२. हिन्दी प्रदीप, सितम्बर १८८५। १३. वही, अक्टूबर १८८५। १४. वही, अगस्त १८८८। १५. शिवचरण सिंह: 'क्या सम्भव है कि इन प्रान्तों में नागरी का प्रचार हो,' वही, फरवरी १८९९। १६. वही, अगस्त १८९१। १७. सर एण्टोनी मेकडॉनेल। १८. हिन्दी प्रदीप, नवम्बर-दिसम्बर १८९७। १९. वही, मई-जून १८९८ ई०। २०. वही। २१. खड़ीबोली का आन्दोलन, पृ० ९२। २२. वही, पृ० ८२। २३. वही, मई १८९९। २४. नागरी का प्रचार, मर्यादा, जून १९१२। २५. वही, पृ० १५९। २६. 'मृत हिन्दी को जीवन दान मिलने का क्या उपाय है', (हिन्दुस्तान से) हिन्दी प्रदीप, अगस्त १८८४ से उद्धृत। २७. वही, जनवरी १८८४। २८. वही, अक्टूबर १८८४। २९. वही, ३०. वही, दिसम्बर १८८४।

लोकगीतों में पुनरावृत्ति : कारण और क्रम

• विमलेशकान्ति वर्मा

लोकगीतों की महत्ता उनकी सङ्गीतात्मकता में है और यही कारण है कि विश्व के किसी भी कोने के तथा किसी भी जाति के लोकगीतों में भावों के सहज प्रवाह तथा मार्मिकता के साथ-साथ सङ्गीतपक्ष एक महत्त्वपूर्ण अंश है। अनेक लोकगीत तो ऐसे हैं जिनमें केवल सङ्गीतात्मकता का ही सौन्दर्य है; लय, ताल और धुन में ही उनकी महत्ता और सार्थकता है, भावों का उनमें इतना महत्त्व नहीं है। कारण स्पष्ट है। लोकगायक के पास भावों की अधिकता होती है और शब्दों की कमी; इसीलिए वह इन गीतों में कलाबाजियाँ नहीं दिखा पाता और केवल विभिन्न सुरों ही द्वारा अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाने में समर्थ होता है। जिन आदिवासियों तक आज भी सभ्यता की किरणें नहीं पहुँची है, उनके लोकगीतों में सङ्गीतात्मकता की स्थिति तो विविध रूपों में देखी जा सकती है, किन्तु उनमें भावों का माधुर्य होते हुए भी भावों की विविधता नहीं है।

लोक-सङ्गीत शास्त्रीय सङ्गीत की आधारशिला है। लोक-सङ्गीत के ही सुबोध तथा सरल रूप को सङ्गीतज्ञों ने परिष्कृत कर शास्त्रीय सङ्गीत का रूप दिया है। शास्त्रीय सङ्गीत का मूलाधार अति सरल है। "जिस प्रकार किसी भी वास्तुकला का प्रारम्भ मात्र चतुर्भुज से होता है और वही चतुर्भुज का आकार बाद में एक विशाल इमारत बन जाती है और फिर उसमें शिल्पी विविध प्रकार की नक्काशी तथा पच्चीकारी कर उसे और सुन्दर रूप देता है, उसी प्रकार शास्त्रीय सङ्गीत के मूल में भी वह सरल लोकसङ्गीत ही विद्यमान है जिसमें मुख्य रूप से पुनरावृत्ति, लय और ताल का साधारण रूप था।"[1] पुनरावृत्ति लोक-सङ्गीत का एक आधार तत्त्व है।

पुनरावृत्ति से हमारा तात्पर्य उन अक्षरों, शब्दों, अर्द्धपंक्तियों तथा पंक्तियों की एक से अधिक बार की आवृत्ति से है जिनका प्रयोग लोकगायक भाव-सौन्दर्य, भाव-संवर्द्धन, भाव-स्पष्टता तथा रोचकता के लिए इच्छानुसार करता है। लोकसङ्गीत में पुनरावृत्ति एक प्रमुख तत्त्व है और अनेक लोकगीत तो ऐसे हैं जिनमें से पुनरावृत्तियों को यदि हटा दिया जाय तो सारी कविता ही परिमाण में आधी रह जाए और यदि पुनरावृत्ति तद्वत रहे तो लोकगीतों का सौन्दर्य द्विगुणित हो तथा भाव-प्रवर्द्धन के साथ लोकगीतों का प्रभाव भी गम्भीरतर हो। मुण्डा गीतों के एक अन्वेषक ने मुण्डा गीतों की इस प्रवृत्ति की ओर सङ्केत करते हुए लिखा है—"मुण्डा गीतों की प्रत्येक पंक्ति बड़ी सुन्दरता के साथ दुहराई जाती है जो गीतों के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती है। अगर इस

पुनरावृत्ति को हटा दिया जाए तो सारी मुण्डा कविता परिमाण में आधी रह जाए और सौन्दर्य में उतना भी रोप न रहे।"[२]

पुनरावृत्ति के कारण

पुनरावृत्ति प्रवृत्ति लोकगीतों में इतनी व्यापक क्यों है? यह प्रवृत्ति चाहे अफ्रीका के लोकगीत हो, चाहे अमेरिका, इंग्लैंड, भारत तथा अन्य किसी देश के लोकगीत हों, सभी में समान रूप से मिलती है। इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में ऐसे कुछ कारण अवश्य हैं जो देशकाल की सीमा लाँघ कर सार्वदेशीय हो गये हैं और जिनका सम्बन्ध लोकगायक, लोकगीत तथा लोकमानस तीनों से घनिष्ठ रूप में है। लोकगीतों में पुनरावृत्ति के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं—

(क) शब्द-भण्डार की कमी

लोकगायक के पास भावों की कमी नहीं, किन्तु शब्द-भण्डार की कमी अवश्य है। उसके पास छोटा शब्द-भण्डार है जिसके द्वारा उसे अपने अनन्त भावों की अभिव्यक्ति करनी रहती है तथा अपने सुख-दुख को, अपने हृदय की आशाओं और व्यथाओं को दूसरों तक पहुँचाना रहता है। यही कारण है कि उसे थोड़े ही शब्दों को बार-बार विभिन्न सुरों और लयों में दुहराकर अपनी बात दूसरों तक पहुँचानी होती है। इसी अल्प शब्द-भण्डार के कारण उसे प्रतीकों का भी सहारा लेना पड़ता है और इसी कारण लोककाव्य की भाषा कभी-कभी अटपटी सी प्रतीत होने लगती है। शब्द-भण्डार की इसी कमी के कारण लोकगीतों के शब्द सामान्य अर्थ के साथ-साथ दूरार्थ भी रखते हैं और पाठक तथा श्रोता को रसपान करने के लिए उन सीमित शब्दों की अभिव्यञ्जना को दूर तक हृदयङ्गम भी करना पड़ता है। लोकगायक को उत्तराधिकार के रूप में सङ्गीत-तत्त्व मिला है; क्योंकि यह मानव की सहजात प्रवृत्ति आवेग से सम्बन्धित है। इसीलिए आवेग-प्रधान लोकमानस द्वारा जिस लोकगीत की रचना होती है उसमें स्वरों की प्रधानता रहती है और स्वरों का ही महत्त्व भाषा से अधिक हो जाता है। भाषा विकास का रूप है, इसीलिए लोकगायक या लोकगीतकार को भाषातत्त्व उत्तराधिकार में उतना प्राप्त नहीं हुआ जितना स्वरतत्त्व या सङ्गीत-तत्त्व। भाषातत्त्व अधिक प्राप्त न होने के कारण उसका शब्द-भण्डार सीमित रहा और दूसरी ओर सङ्गीतात्मकता बढ़ी और इस प्रकार अल्प शब्द-भण्डार तथा सङ्गीतात्मकता के कारण लोकगीतों में पुनरावृत्ति प्रवृत्ति को बल मिला। लोकगीतों में पुनरावृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण शब्द-भण्डार की कमी है।

(ख) सामूहिक गान में सरलता

लोकगीतों की यह सामान्य प्रवृत्ति रही है कि वे अकेले नहीं गाए जाते। वे या तो किसी व्यक्ति के साथ बैठकर गाए जाते हैं या एक समूह की अपेक्षा रखते हैं। यही कारण है कि लोकगीतों में प्रायः सम्बोधनात्मक शब्द मिलते हैं, प्रश्नोत्तर शैली मिलती है, तथा शब्दों या शब्द समूहों की लगातार एक क्रम से आवृत्ति मिलती है। सामूहिक रूप से गाए जानेवाले लोकगीतों में निम्नलिखित दो स्थितियाँ होती हैं

१. दो व्यक्तियों द्वारा मिलकर गाए जानेवाले गीत—अनेक लोकगीत ऐसे हैं जो दो व्यक्तियों द्वारा मिलकर गाए जाते हैं। एक व्यक्ति गीत की एक पंक्ति कहता है और दूसरा व्यक्ति उस गीत की दूसरी पंक्ति। इस प्रकार गीत के अन्त तक यही क्रम चलता रहता है। ऐसे दो व्यक्तियों द्वारा मिलकर गाए जानेवाले गीतों में पुनरावृत्ति की दृष्टि से यह अवधेय है कि प्राय प्रत्येक गायक द्वारा दुहराई जानेवाली पंक्तियों के अन्तिम शब्द या अक्षर प्राय: एक से होते हैं, जिनके माध्यम से गायक को ज्ञात होता है कि गीत का एक चरण समाप्त हो गया है और उसे अब दूसरी पंक्ति दोहराने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस पुनरावृत्ति के कारण ही गीत में लय विक्षेप नहीं होता और गायक अपने क्रम के विषय में निश्चित रहता है। इससे गाने में सरलता होती है।

दो व्यक्तियों द्वारा गाए जानेवाले लोकगीतों को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है——

(अ) दो व्यक्तियों द्वारा गाये जानेवाले वे गीत जिनकी प्रत्येक पंक्ति के अन्त मे एक ही शब्द की पुनरावृत्ति गीत के अन्त तक होती रहती है। इस शैली का एक गीत अवलोकनार्थ प्रस्तुत है जिसमें 'रे करँवदा' की प्रारम्भ से अन्त तक पुनरावृत्ति है।

पाये भल बाये रंग लाल रे करँवदा। नाही ओस जेस दूओ गाल रे करँवदा।
ओठ लखि बिम्ल प्रबाल रे करँवदा। कुनरु गिरल खसि हार रे करँवदा।
देखि देखि नैनन के हाल रे करँवदा। कँवल बुड़ल बिच हार रे करँवदा।
लखि अंटखेलिन की चाल रे करँवदा। लजि लजि भजलै मराल रे करँवदा।
निरखत भुजन बिसाल रे करँवदा। कीच बीच घुसल मृणाल रे करँवदा।
देखि देखि ठोड़िया के ढाल रे करँवदा। पकि चुइ परल रसाल रे करँवदा।
लखि कुच कठिन कमाल रे करँवदा। दाड़िम हू भेयल हलाल रे करँवदा।
ससि पर आयल जयाल रे करँवदा। लखि भल चमकत भाल रे करँवदा।[३]

(ब) दो व्यक्तियों द्वारा गाए जानेवाले वे गीत जिनमें एक व्यक्ति गीत गाता है तथा दूसरा व्यक्ति प्रत्येक गीत की पंक्ति के बाद केवल गीत की टेक दोहराता जाता है। होली मे गाए जानेवाले अनेक गीत इसी शैली के हैं। उदाहरणार्थ होली के अवसर पर गाया जानेवाला एक गीत नीचे प्रस्तुत है जिसमें 'हहा ! हरि होरी मैं' गीत की टेक रूप में प्रयुक्त पंक्ति है और प्रत्येक गीत की पंक्ति के बाद इसकी पुनरावृत्ति होती है—

बिनती सुन लीजिए मोहन मीत सुजान, हहा ! हरि होरी मैं।
रसिक रसीले प्रान पिय जिय जन गुनिये आन, हहा ! हरि होरी मैं।
चल दल लसित द्रुमावली लतिका कुसुमित कुंज, हहा ! हरि होरी मैं।
मदन महीपति सैन सम अलि अवलिन को गुंज, हहा ! हरि होरी मैं।
बरस दिनन पर पाइयत भागिनि यह त्यौहार, हहा ! हरि होरी मैं।
मदमाते युव युवति जन करत केलि व्यवहार, हहा ! हरि होरी मैं।[४]

२ समूह द्वारा गाए जानेवाले गीत—लोकगीतों में अधिकांश लोकगीत ऐसे हैं

जिनके गायन के लिए एक समूह की अपेक्षा होती है और जो अकेले गाए ही नहीं जाते। यह सामूहिक गीत यदि अकेले गाये जाएँ तो इनमें वह सौन्दर्य एवं स्वर-माधुर्य नहीं आ पाता जो समूह द्वारा गाये जाने पर आता है। समूह द्वारा गाये जाने वाले इन गीतों में एक व्यक्ति समूह-गीत की पंक्तियाँ कहता है और समूह केवल टेक दोहराता जाता है; यथा—

जमुना तीर खड़े होली खेलत नन्द के लाल। टेक।
इत ते श्याम उड़ावत केसर, रोरी रुचिर गुलाल।
उत पिचकारी भरि भरि डारत मारत हैं ब्रजबाल।
जमुना तीर खड़े होली खेलत नन्द के लाल। टेक।

बाजत झांझ मृदङ्ग डफ मञ्जीरा करताल।
भरे मदन मद सब ब्रजबासी गावत तान रसाल।
जमुना तीर खड़े होली खेलत नन्द के लाल। टेक।

इतने में प्यारी प्रीतम सङ्ग कियो अजब यह ख्याल।
चपला सी चौंधी दै मलि गई लाल गुलालन गाल।
जमुना तीर खड़े होली खेलत नन्द के लाल। टेक।[५]

(ग) अन्तहीन परिगणन

संस्कार-गीतों में पुनरावृत्ति का प्रमुख कारण लोकमानस की अन्तहीन परिगणन प्रवृत्ति है। संस्कार-गीतों में अन्तहीन परिगणन के कारण पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ गई है कि पूरे गीतों में केवल कुछ ही शब्दों का हेर-फेर है। सोहर, बन्ना, घोड़ी, ज्योनार, भाँवर आदि इसी प्रकार के गीत हैं जिनमें केवल एकाध शब्द जो प्रायः नामवाची हैं, का ही प्रत्येक पंक्ति में परिवर्तन होता है अन्यथा सम्पूर्ण गीत में कोई भी ऐसा शब्द नहीं जिसकी पूर्ण गीत तक पुनरावृत्ति न हुई हो। उदाहरण के लिए भाँवर सम्बन्धी एक गीत प्रस्तुत है जिसका यदि विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होगा कि इस गीत में केवल संख्यावाचक शब्दों का ही परिवर्तन है अन्यथा आद्यन्त प्रथम पंक्ति की ही पुनरावृत्ति हुई है। बुन्देलखण्ड में गाया जानेवाला निम्नलिखित भाँवर गीत यहाँ द्रष्टव्य है—

प्यारी सीता जी की परतीं भाँवरें जू।
पहली भाँवर बेटी जब परी, बेटी अजहूँ हमारी जू।
दूजी भाँवर बेटी जब परी, बेटी अजहूँ हमारी जू।
तीजी भाँवर बेटी जब परी, बेटी अजहूँ हमारी जू।
चौथी भाँवर बेटी जब परी, बेटी अजहूँ हमारी जू।
पाँचई भाँवर बेटी जब परी, बेटी अजहूँ हमारी जू।
छठई भाँवर बेटी जब परी, बेटी अजहूँ हमारी जू

सातईं भाँवर बेटी जब परी बेटी भई पराई जू
माय बाबुल जुर मिल हरदी ल्याय जू।
बेटी के हाथे पीरी करके धर दये सजन जू के हाथ जू।[६]

(घ) प्रश्नोत्तर शैली

प्रश्नोत्तर शैलीवाले लोकगीतों में प्रायः प्रथम पंक्ति में प्रश्न होता है और दूसरी पंक्ति में प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रथम पंक्ति के उत्तरार्द्ध की पुनरावृत्ति कर दी जाती है। प्रश्नोत्तर शैलीवाले लोकगीतों में कभी-कभी तो लगातार प्रश्न पूछे जाते हैं जिनसे प्रश्नवाची शब्दों की आवृत्ति होती है तथा कभी-कभी प्रथमार्द्ध में प्रश्न कर उत्तरार्द्ध में उत्तर दिया जाता है जिससे प्रश्न के उत्तरार्द्ध भाग की पुनरावृत्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ एक छत्तीसगढ़ी लोकगीत की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कौन तोरे करिहौ रामै रसोई ?
कौन करे जेवनार ?
कौन तोरे करिहै पलङ्ग बिछौना ?
कौन जोहे तेरो बाट ?
दाई करिहै रामै रसोई।
बहिनी करे जेवनार।
सुलखी चेरिया पलङ्ग बिछैहैं।
औ मुरली जोहै मेरो बाट।[७]

उपर्युक्त उदाहरण प्रश्नोत्तर शैली सम्बन्धी लोकगीत का है जिसमें चार प्रश्न पूछे गए हैं और बाद में चारों प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। प्रथमार्द्ध में प्रश्नवाची 'कौन' शब्द की चारों पंक्तियों में लगातार आवृत्ति हुई है। दूसरे आधे में 'रामै रसोई', 'करे जेवनार' 'पलङ्ग बिछौना' तथा 'बाट' की एक क्रम से आवृत्ति हुई है। इसी प्रकार प्रश्नोत्तर शैली में अनेक लोकगीत प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें प्रश्नोत्तर पद्धति के कारण ही पुनरावृत्ति का अनुसरण हुआ है। कहीं-कहीं तो एक ही प्रश्न कई बार पूछा गया है और उसका उत्तर दिया गया है जिसके कारण पुनरावृत्ति हुई है।

(ङ) भावबोधन में स्पष्टता

लोकगायकों का कहना है कि यदि एक ही अंश की बार-बार पुनरावृत्ति की जाए तो भाव अधिक स्पष्ट होते हैं और श्रोता उन भावों को आसानी से हृदयङ्गम कर लेता है। पुनरावृत्ति से भाव भी स्पष्ट होता है और उसका प्रभाव भी गम्भीरतर होता है। यही कारण है कि 'टेक' जिसमें सम्पूर्ण पद का मूलभाव केन्द्रित रहता है, बार-बार दुहराया जाता है। पुनरावृत्ति से भावबोधन में होती है इसकी पुष्टि ने बालकों के

गीतों से तुलना करके भी की है। बालकों को जब गीत सिखाए जाते हैं तो उनमें नए शब्द अत्यल्प मात्रा में रहते हैं तथा कुछ ही शब्दों की पुनरावृत्ति बार-बार होती है जिससे बालक उन्हें आसानी से समझ लेता है। शिशु-गीत चाहे जिस देश या प्रदेश के हों उनमें पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति बड़ी व्यापक होती है। लोकगीतों के प्रथम चरण की तथा पद के टेक की पुनरावृत्ति में भावबोधन स्पष्टता ही मूल कारण है।

(च) स्मरण रखने में सहजता

गीतों को स्मरण रखने के लिए भी पुनरावृत्ति होती है। लोक का सम्पूर्ण साहित्य लोक के कण्ठ में ही जीवित रहता है। शिष्ट साहित्य के समान न तो वह लिपिबद्ध होता है और न लोकगायक जब कोई गीत गाता है या लोकवर्ग की कोई बुढ़िया गाई कहानी सुनाने बैठती है तो पुस्तक खोलती है। उसका तो सारा का सारा साहित्य कण्ठ में ही विराजता है तथा स्मरण के माध्यम से पीढ़ी दर पीढ़ी चलता जाता है। इसीलिए वह जीवित साहित्य है और कभी मृत नहीं होता। गीत भी स्मरण ही रखे जाते हैं; अतः गीतों को स्मरण रखने योग्य बनाने के लिए लोक-मानस ने अनेक ऐसे सूत्र बनाए हैं जिनसे वह सरलता से स्मरण रखा जा सकता है। उन्हीं में से पुनरावृत्ति भी एक तत्त्व है। पुनरावृत्ति के कारण गायक को अनेक नए शब्द स्मरण नहीं रखने पड़ते। वह बीच-बीच में एक दो नए शब्द रखता है तथा शेष की पुनरावृत्ति करता जाता है। पुनरावृत्ति के मूल में लोकगीतों को स्मरण रखने की भावना भी एक प्रमुख कारण है।

पुनरावृत्ति क्रम

पुनरावृत्ति के कारणों पर विचार करने के उपरान्त उनके क्रम अथवा प्रकारों का विवेचन भी आवश्यक है। लोकगीत लोकमानस की सहज उपज है। "लोकमानस निर्विकार होता है, उसके पास न कोई आदर्श है, न शास्त्र, न नियम। उसकी स्फूर्ति में व्यक्ति और व्यक्तित्व का कोई अर्थ नहीं।" इसीलिए पुनरावृत्ति के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित नियम नहीं। किसी लोकगीत में क्रम मिलता है, किसी में यह क्रम निश्चित करना अति कठिन हो जाता है। पुनरावृत्ति की यह क्रमगत विशृङ्खलता केवल भारतीय लोकगीतों में ही नहीं मिलती वरन् विदेशी लोकगीतों में भी मिलती है और वे भी प्रायः क्रम विमुक्त हैं। यद्यपि लोकगीतों में पुनरावृत्ति-क्रम-निर्धारण कठिन है, फिर भी मोटे रूप में लोकगीतों में पुनरावृत्ति के क्रम का निर्देश किया जा सकता है। अनेक लोकगीत ऐसे हैं जिनमें पुनरावृत्ति का एक विशेष क्रम है और इस क्रम का उन गीतों में पूर्ण निर्वाह भी हुआ है। इन्हें लोकगीतों में पुनरावृत्ति का सामान्य क्रम कह सकते हैं। यह पुनरावृत्ति-क्रम केवल हिन्दी लोकगीतों की ही विशेषता हो ऐसी बात नहीं है वरन् हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के लोकगीतों में भी तथा विदेशी लोकगीतों तक में यह पुनरावृत्ति-क्रम देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यहाँ उदाहरणस्वरूप भारतीय लोकगीतों के ही अंश उद्धृत किये जायेंगे

त्ति के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं फिर इनके विभद और उप
के निम्नलिखित मुख्य रूप हैं—

: पुनरावृत्ति

प्रत्येक पंक्ति के आरम्भ में अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा,

ए भोर रे भइलें भिनुसार, चिरइया एक बोलेले मिरग बन चूंगेले,
ए भोरे खेतवन हर लेकें हरवहवा त बहुवर जाँते।
ए जाइ रे जगावहु कौन बाबा जासु दुहावन,
ए नाहीं भोरे धेनु न गाभिन सब मोरे ऊसर।
ए बुधवा न आवेला बँहिगवा त मठवन नारि बहे।[८]

प्रत्येक पंक्ति के आरम्भ व अन्त में अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा,

जै बृषभानु नन्दिनी राधे मोहन प्रान पियारी।
जै श्री रसिक कुँवर नँदनन्दन सुन्दर गिरिवर धारी।
जै श्री नायिका जै जै कीरति कुल उजियारी।
जै वृन्दावन चारु चन्द्रमा कोटि मदन मद हारी।
जै ब्रज तरुन तरनि चूड़ामनि सखियन मैं सकुमारी।
जयति गोपकुल सीस मुकुटमनि नित्य बिहार बिहारी।
जयति बसन्त जयति वृन्दावन जयति खेल सुखकारी।
जय अद्भुत जस गावत शुक मुनि हरीचन्द बलिहारी।[९]

प्रत्येक पंक्ति के अन्त में अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा,

प्यारी लागत तिहारी छबि प्यारी प्यारी ना।
गोरे गालन पै लोटत लट कारी कारी ना।
मुस्करानि मन हरै मोहनी डारी डारी ना।
मनहु प्रेमघन बरसै तोपै वारी वारी ना।[१०]

प्रति दूसरी पंक्ति के आरम्भ में अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा,

रुनझुन खोलऽना केवरिया, हम बिदेसवा जइबो ना।
जो मोरे सइयाँ तू बिदेसवा जइबऽहो, तू बिदेसवा जइबऽहो,
हमरा भइया के बोलाइदऽ, हम जाईबि नइहरवा ना।
जो तुहू धनिया नइहरवा जइबू हो, नइहरवा जइबू हो,
जेतना लागल बा रुपइया, ओतना देके जइहऽना।
जो मोरे सैंयाँ तुहूँ लेबऽ अब रुपइया, तुहूँ लेबऽ अब रुपइया,
अइसन बाबा घरवा रहलों, ओइसन कइ के देहू ना[११]

(५) प्रति दूसरी पंक्ति के आरम्भ और अन्त में अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा

गारी देन जोग नहिं कबहुँ समझि परौ तुम प्यारे।
सब सदगुन सो भरे पुरे हो तुम सारे के सारे।
लहियत नहिं उपमा सुखमा तुव घर की जात बिचारे।
सब दिन तुम सतकार्यो सब विधि पति उदारता प्यारे।
झूठ नाहिं रतिहू आवति जे आय आपके द्वारे।
सौ सौ मग सत्कार सदा लहि पीटत सुजस नगारे।
गिन बिबुध सो जग में तुम वन्दित जाहु बिठारे।
सुखदायक गुनवन सदा प्रेमघन रस बरसावन वारे।[१२]

(६) प्रति दूसरी पंक्ति के अन्त में अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा,

झूलैं नवल लला संग नवेली ललना।
ताक झाँक औ झुकनि में छुटत छलना।
झोंका लहि अकुलाय प्यारी अंगन दुराय।
डरी जाय जाय अंचल कहूँ ते टलना।[१३]

(७) प्रति अर्द्ध पंक्ति के अन्त में अक्षर की पुनरावृत्ति यथा,

आए सखी सावनवा रे सैंया छाए परदेस।
अस बेदरदी बालम रे, नाहीं पठवें सन्देस।
उमड़े अब तो जोबनवा रे, नाहीं बालापन को लेस।
हेरवैं पिया प्रेमघन रे, धरि जोगिनिया के भेस।[१४]

(८) प्रति दूसरी अर्द्ध पंक्ति के अन्त मे अक्षर की पुनरावृत्ति। यथा,

मानः कि न मानः, हम तो जाबै नैहरवा,
कजरी के दिन नगिचान बा, जिया ललचान बा ना।
छोड़ि ससुरारि, आइल बाटीं सब सखियाँ,
छोटका बहनोयो मेहमान बा, मिलन मिलान बा ना।[१५]

ख—शब्दों की पुनरावृत्ति

(१) प्रत्येक पंक्ति के आरम्भ में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा,

आरे कथि केरि ककही कथीय केरा तेल।
आरे कथि का मचियवा हो बेटी झारेलु लामी केस।
आरे सोने के री ककही नरियल केरा तेल।
आरे सोने क मचियवा हो रामा झारी लामी केस।
आरे रोवेली माइ रे धिया भीजेला रे पटुक।
आरे चुप होखु चुप ए बालका चुप होखुरे।[१६]

प्रति पंक्ति के आरम्भ और अन्त में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा

बन्ना दादी पूछे हँसि हँसि रे बना।
बन्ना कइसन हथन तोर ददिया सास रे बना।
बन्ना हमर ददिया सास जइसन दूध रे बना।
बन्ना छप्पन रंग खइली ससुरार रे बना।
बन्ना एलना बड़इया मति करु रे बना।
बन्ना खट्टा दही अइसन तोर सास रे बना।
बन्ना खीर भात खयलउ ससुरारि रे बना।[13]

प्रत्येक पंक्ति के अन्त में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा,

बेटी के दादा सौदागर रे टोनमा।
हथिया चढ़ल जोग बेचसि रे टोनमा।
बेटा के बाप भड़ुअवा रे टोनमा।
गदहा चढ़ल जोग खरीदसि रे टोनमा।[14]

प्रति दूसरी पंक्ति के आरम्भ में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा,

भुइयाँ गिरे नँदलाला, गोपाल लाल भुइयाँ गिरे।
काहे के छुरी से नार कटवलू, अब काहे के झारि नहलवलू।
सोने के छुरी से नार कटवलू, रूपे के झारी नहलवलू।
काहे के पलना में लाल सुतवलू, काहे के डोरी डलवलू।
सोने के पलना में लाल सुतवलू, रेसम के डोरी डोलवलू।
काहे के कटोरा में दूध भरवलू, अब काहे के सितुए पिलवलू।
सोने के कटोरी में दूध भरवलू, अब रूपे के सितुए पिलवलू।[15]

प्रति दूसरी पंक्ति के अन्त में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा,

हरि मोर गइले उतरि बनि जरिया मोर नायका रे।
हमके दे गइले लछन देवर, चतुर बने जाइबि हो।
तोहरी चुनरिया भउजी हमरी चदरिया मोर नायका रे।
दुनो जना सोइन पलंगिया, चतुर बने जाइबि हो।
हँसत खेलत देवरा बड़ नीक लागे मोर नायका रे।
दिन दिन देहिया मोर गरुआइलि चतुर बने जाइबि हो।
बारहो बरिस पर हरि मोर अइले, मोर नायका रे।
"एहु में ललकिनि कइसे आयल चतुर बने जाइबि हो[16]

(६) प्रति दूसरी पंक्ति के आरम्भ और अन्त में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा

नाग जी घड़ी दोये घुड़ला थाम रे।
बैरी घूंघट री देंया करूँ नाग जी।
नाग जी, तावड़ियों पापी पड़े,
बैरी घायल कर दी तावड़े ओ नाग जी।
नाग जी मन लोभी, मन लालची रे,
बैरी मन चंचल मन चोर अरे नाग जी।
नाग जी मन मते न चलिये रे,
बैरी पलक पलक मन ओ नाग जी।
नाग जी तड़क तड़क मत तोड़ रे,
बैरी कतवारी रे तार ज्यों नाग जी।[२१]

(७) प्रति दूसरी अर्द्ध पंक्ति के अन्त में शब्द की पुनरावृत्ति। यथा,

कहाँ पायो कँगना, कहाँ पायो मोतिया
　कहाँ पायो रे दिल लगना,
　दिल लगनाबलमुआ कहाँ पायो रे।

हाट पायो मोतिया, बजार पायो कँगना
　सेजा पायो रे दिल लगना,
　दिल लगना बलमुआ सेजा पायो रे।

टूटि जइहइँ कँगना, चिटिक जइहइँ मोतिया,
　रिसाइ जइहँइ रे दिल लगना,
　दिल लगना बलमुआ रिसाइ जइहइँ रे।[२२]

ग—अर्द्ध पंक्ति की पुनरावृत्ति

(१) प्रति पंक्ति के आरम्भ में अर्द्ध पंक्ति की पुनरावृत्ति। यथा,

बेला फूले आधी रात गजरा मैं के के गरे डारौं।
जो गजरा ससुर गरे डारौं, तौ सासुई दुख होय।
जो गजरा जेठ गरे डारौं, जिठनी का दुख होय।
जो गजरा देवर गरे डारौं, देवरनिया का दुख होय।
जो गजरा भाख्व गरे डारौं, सौतिनिया का दुख होय।[२३]

(२) प्रति दूसरी पंक्ति के आरम्भ में अर्द्ध पंक्ति की पुनरावृत्ति। यथा

एक तऽ मैं बारी भोरी, दोसरे पिआ का चोरी,
कि आहो मोरे रामा, तिसरे बिरह के देहिया मातल ए राम।
फूल लोढ़े गइलीं बागी, चुनरी मोर अटकेली,
कि आहो मोरे रामा, पिया बिना केहूना छोड़ावेला ए राम।
सिंकिया से बोरि बोरि कइलीं हाँ कजरवा हो,
कि आहो मोरे रामा, टपकत लोरवा चोलिया भीजेला हो राम।
एक दिन चढ़ली बारी पिया के अटरिया हो,
कि आहो मोरे रामा, मनवा में करेली विचार नु ए राम।[२४]

(३) प्रति दूसरी पंक्ति के अन्त में अर्द्ध पंक्ति की पुनरावृत्ति। यथा,

सारी धानी मोल मँगावऽ, कुरती करौंदिया रँगवावऽ।
चुनिके हमके पहिरावऽ, मोरे बाँके बलमा।
रोजै पिया प्रेमघन आवऽ, झूठे प्रेम जाल फैलावऽ,
झाँसे में सावन बितावऽ, मोरे बाँके बलमा।[२५]

ूर्ण पंक्ति की पुनरावृत्ति

पूर्ण पंक्ति की पुनरावृत्ति लोकगीतों में टेक के रूप में होती है। इस टेक की ग
ा मूल भाव निहित रहता है तथा यह पंक्ति गीतों में प्रति पंक्ति के बाद, कहीं
ों के बाद तथा कहीं तीन पंक्तियों के बाद दोहराई जाती है। लोकगीतों को गे
ाय बनाने के लिए ही टेक रूप में इन पंक्तियों की आवृत्ति होती है। पूर्ण पंक्ति
ृत्ति के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना क्रम-निरूपण के लिए आवश्यक है।

(१) प्रति पंक्ति के बाद पुनरावृत्ति। यथा,

बाबा निमिया के पेड़ जिनि काटेउ निमिया चिरइया बसेर।
बलैया लेउँ बीरन।
बाबा बिटिया जिनि कोउ दुख देइ बिटिया चिरइया की नाईं।
बलैया लेउँ बीरन।
सबेरे चिड़िया उड़ि उड़ि जइहइँ रहि जइहैं निमया अकेलि।
बलैया लेउँ बीरन।
सबेरे बिटिया जइहइँ ससुरारि रहि जइहइँ माई अकेलि।
बलैया लेउँ बीरन।[२६]

(२) प्रति दूसरी पक्ति के बाद पुनरावर्त्ति यथा

जोबन तोरे कारणै, छोड़े माई बाप।
सात्तन छोड़ी सात की, हिरणा बरगी नार॥
मेरा बावला मल्हौर॥

रतन कटोरी घी जले, चूल्हे जले कसार।
घूंघट में गोरी जले, जो हिणे मरद की नार॥
मेरा बावला मल्हौर॥

लीला लेंदू लील का, ले दूं पेले पात।
सीसा फोड़ूं बाट पै, जो चलूं तुम्हारे साथ॥
मेरा बावला मल्हौर।[१४]

उपर्युक्त पुनरावृत्ति प्रकारों के अतिरिक्त भी लोकगीतों में अनेक पुनरावृत्ति का क्रम प्राप्त है जिन्हें इन्हीं वर्गों के उपवर्गों में रक्खा जा सकता है। लोकगायक गीतों में अपनी इच्छानुसार पुनरावृत्ति के अनेक प्रयोग करता है और इस प्रकार यदि विभेदों में उप-विभेद किए जायँ और लोकगीतों में पुनरावृत्ति के क्रमों का सूक्ष्म वर्गीकरण किया जाय तो पुनरावृत्ति के अनन्त भेद हो सकते हैं। पुनरावृत्ति के इन भेदों और विभेदों के कुल कितने प्रकार भारतीय लोकगीतों में प्राप्त हैं इसका पूर्ण निरूपण असम्भव है। कहीं-कहीं तो लोकगीतों में पुनरावृत्ति का यह क्रम इतना संश्लिष्ट हो जाता है कि उसका विवेचन तथा अनुसन्धान करना कठिन हो जाता है।

पुनरावृत्ति लोकगीतों की एक सार्वभौम विशेषता है। ऊपर पुनरावृत्ति के कारण और क्रम का विवेचन किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि लोकमानस, लोकगायक और लोकगीत के लिए पुनरावृत्ति का कितना महत्त्व है और इस प्रवृत्ति का वह क्यों और कैसे उपयोग करता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि पुनरावृत्ति के कितने स्वरूप हो सकते हैं तथा कितने कारणों से पुनरावृत्ति लोकगीतों में होती है, इसका निश्चित सङ्केत नहीं किया जा सकता, क्योंकि किस पुनरावृत्ति की पृष्ठभूमि में लोक-मानस की कौन सी प्रवृत्ति काम करती है इसका निरूपण नहीं हो सकता।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. ह्वाट वी हियर इन म्यूजिकः फाल्कनर ए० एस०, पृ० २७-२८। २. बाँसुरी बज रहीः जगदीश त्रिगुणायत, पृ० ४८-४९। ३. प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ५१३। ४. वही, पृ० ६११। ५. वही, पृ० ६२६। ६. उत्तर प्रदेश के लोकगीत, पृ० १३०। ७. धीरे बहो गंगाः देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ० ३४-३५। ८. उत्तर प्रदेश के लोकगीत, पृ० ९। ९. भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ३९३। १० प्रेमघन सर्वस्व, भाग १ पृ० ४८८

११. उत्तर प्रदेश के लोकगीत, पृ० १४। १२. प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ४५७। १३. वही, पृ० ४९२। १४. वही, पृ० ४९०। १५. वही, पृ० ५२१। १६. भोजपुरी ग्रामगीतः सं० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १९५। १७. मगही संस्कार गीतः सं० विश्वनाथप्रसाद, पृ० १५४। १८. वही, पृ० १५४-१५५। १९. वही, पृ० ७०। २०. भोजपुरी ग्रामगीतः सं० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० २९७। २१. धीरे बहो गंगा : देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ० २३-२४। २२. उत्तर प्रदेश के लोकगीत, पृ० ४५। २३. बेला फूले आधी रात : देवेन्द्र सत्यार्थी। २४. उत्तर प्रदेश के लोकगीत, पृ० १७। २५. प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० ४९२। २६. उत्तर प्रदेश के लोकगीत, पृ० ४६। २७ वही, पृ० ११२।

मध्यकालीन वैष्णव कीर्तनो का काव्यमूल्य

योगेन्द्र सिंह

‘कीर्तन’ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत ‘कीर्त + ल्युट्’[1] से मानी जाती है। ‘कीर्त’ धातु का प्रयोग प्रशसा, गुणकथन, कथन एवं वर्णन करना के अर्थ में होने के कारण कीर्तन शब्द का वास्तविक अर्थ इसी सन्दर्भ में आता है। ‘कीर्तन’ शब्द का रामायणीय प्रयोग इसी अर्थ का सूचक है।[2] ‘महाभारत’ के शान्तिपर्व में नारायणी उपाख्यान के प्रकरण में इस ‘कीर्तन’ शब्द का प्रयोग ‘नाम-स्मरण’ के अर्थ में मिलता है।[3] ‘श्रीमद्भगवतगीता’ में यह ‘कीर्तन’ शब्द श्रद्धापूर्वक नाम एवं गुणकथन दोनों सन्दर्भों में प्राप्त है।[4] यहीं ‘कीर्तन’ के समानान्तर ‘भजन’ शब्द का भी प्रयोग प्राप्त है। ‘शाण्डिल्य भक्तिसूत्र’ में ‘कीर्तन’ से भगवान् के प्रति अनुराग उत्पन्न होने की बात कही गई है तथा ‘कीर्तन या भजन’ के अन्तर्गत नामश्रवण, नामकथन, नामस्मरण एवं नामवन्दन को रखा गया है। यहाँ ‘स्मरण-कीर्तन’ को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है।[5] ‘नारदभक्तिसूत्र’ के अन्तर्गत ‘लोक समाज’ में ‘कीर्तन’ के प्रतिष्ठित होने की चर्चा मिलती है।[6] ‘भगवद्भक्तिरसायन’ में ‘कीर्तन’ शब्द की प्राचीनता की ओर सङ्केत करते हुए इसे वैदिक स्तुति का पर्यायवाची माना है।[7] इसका समर्थन ‘विष्णुसहस्रनाम’ उत्तरार्द्ध के उस कथन से होता है जहाँ ‘ऋग्वेद’ के दशम मण्डल में आए स्तोताओं को ‘कीर्तनकार’ कहा गया है। श्री गुरुमरुत्पुरु ने ‘नारायणीय’ ग्रन्थ में कीर्तनकार, कवि तथा स्तोता की समानरूप से स्तुति की है।[8] ‘मेदिनी कोश’ में ‘न कीर्तनै : अलङ्कृता’[9] का प्रयोग मिलता है। ‘कीर्तन’ शब्द के साथ आरम्भ से ही कलात्मक मनोनिवेश का सम्बन्ध जुड़ा हुआ मिलता है। किन्तु कीर्तन के वैष्णवी प्रयोग में इस अर्थ का सम्भवतः कोई सहयोग नहीं है। मूलतः भक्ति के विकास के साथ-साथ इस शब्द का भी अपना अर्थ विस्तार होता गया। यद्यपि ‘कीर्तन’ के विषय में अभी तक कोई सैद्धान्तिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया है, फिर भी शताब्दियों से इसकी विकसित परम्परा एवं प्रवृत्तियाँ वैष्णव एवं वैष्णवेतर धार्मिक सम्प्रदायों के साथ आगे बढ़ती रही हैं। वैदिक परम्परा की उपासना, प्रणव उच्चारण, माहात्म्यकथन, यजन-पद्धति, सामूहिक धार्मिक गोष्ठी और नामकथन आदि की सम्मिलित क्रियाओं के अवशेष कीर्तन में देखे जा सकते है। मध्यकाल में ‘स्तोत्र साहित्य’ के निर्माण का श्रेय इसी कीर्तन परम्परा को है। इस परम्परा में सैकड़ों ‘नाम एवं गुण कथन’ विषयक स्तोत्र विभिन्न भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों की निधि है। हमारा प्रयोजन ‘नाम कीर्तन’ से नहीं है। यद्यपि वैष्णव भक्ति-परम्परा के आरम्भ काल में यह नाम-कीर्तन ही प्रमुख रहा है किन्तु परवर्ती हिन्दी भक्ति-काव्य-काल तक यह नामकीर्तन गौण हो

गया तथा इसके स्थान पर गुण या लीला कीर्तन को प्रमुखता मिली। इस कीर्तन को शिव शर्मा सूरि ने अपने ग्रन्थ 'वासुदेव रसानन्द' में 'रूप कीर्तन या अवतार कीर्तन' भी कहा है। इसी सन्दर्भ मे कहा गया है कि "रसिक भक्तों ने कामपूरक तथा वात्सल्य के आधेय गुण से पूर्ण ब्रह्म का अनेक रूपों मे गान कीर्तन के माध्यम से किया है। यहाँ कीर्तनकारों में रसिकता की अपेक्षा प्रगट की गई है।"[१०] अर्थ-विस्तार के कारण कीर्तन एक ओर भक्ति के नवधासाधनों में सम्मिलित होकर वैष्णवों की साधनापद्धति का अङ्ग बना दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप से लीलागान का साध्य तत्त्व। भागवत तथा विष्णु-पुराण में इस गुण-कीर्तन को भक्ति का सर्वस्व स्वीकार किया गया है।[११] भागवत, प्रथम स्कन्ध के प्रथम, द्वितीय, सप्तम् एवं अष्टम् अध्यायों में कीर्तन की महत्ता विविध भाँति से गाई गई है। 'भागवत' द्वारा अनुमोदित एवं आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित विशिष्ट सामुदायिक कीर्तन प्रायः वैष्णव भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में मिलते हैं। वर्षोत्सव, दैनिक सेवा-विधान एव विभिन्न पर्वो से सम्बन्धित कीर्तन वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायो मे प्रतिष्ठित हुए। व्यावहारिक सेवा के बीच कीर्तन की तत्कालीन मान्यता ने इन कवियों को बाध्य किया कि वे इसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करले। इस प्रकार हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने सेवापद्धतियों एवं 'भागवत्' की भक्ति विषयक मान्यताओं को अपनी काव्य-प्रतिभा के बीच समेट लिया। यही कारण है कि उनका काव्य निसर्गतः 'कीर्तन' का पर्यायवाची बन गया। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर 'चोरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' 'भक्तमाल' और 'भक्तनामावली' आदि ग्रन्थों में इन्हें 'मूर्धन्य कवि एवं कीर्तनिया' दोनो की संज्ञा साथ-साथ दी गई है।

हिन्दी वैष्णव परम्परा के कई कीर्तन संग्रह उपलब्ध हैं। 'वृहत्कीर्तन सागर', 'कीर्तन सागर' 'कीर्तन सागर सार संग्रह' 'कीर्तन प्रणाली के पद' आदि इस परम्परा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। सम्पूर्ण कीर्तनों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागो में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. आचार्य, गुरु एवं धाम विषयक कीर्तन।

२. विभिन्न पर्वो एवं उत्सवों सम्बन्धी कीर्तन।

३. नित्य सेवा या लीला सम्बन्धी कीर्तन।

आचार्य, गुरु एवं धाम विषयक कीर्तन अत्यल्प हैं। इनसे कही अधिक संख्या पर्व, उत्सव या समय सम्बन्धी पदों की है। पर्वो तथा उत्सवों में जन्माष्टमी, मङ्गलादर्शन, दशहरा, अन्नकूट की बधाई, पवित्रा, राधाष्टमी, वसन्तपञ्चमी, कुञ्ज एकादशी, वामनजयन्ती, दान एकादशी (श्री राधा जी की बाल-लीला) डोलकोत्सव, गनगौर, अक्षततृतीया, गङ्गादशमी, हरियारी अमावस्या और ठकुरानी तीज आदि आते हैं। ऋतु विषयक अर्थात् वर्षा, शरद्, वसन्त आदि से सम्बन्धित कीर्तन भी इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। लीला सम्बन्धी पदों की संख्या सबसे अधिक है। यह लीला अष्टकालिक सेवा के साथ कृष्णजन्म से लेकर मथुरा-गमन तक मिलती है। 'गोपी विरह' को भी लीला-कीर्तनों में समाविष्ट कर लिया गया है।

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों के कीर्तन आराध्य के नाम और गुणकथन तक ही सीमित नही हैं। कीर्तन का सामान्य अर्थ भागवत प्रशंसा एवं भजन भी इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में कहा गया 'कीर्तनिया' शब्द मात्र इसी अर्थ का सूचक नहीं है। वे कीतनिया इसलिए थे कि अष्टयाम् ऋतुचर्या के सेवाभाव से इष्टदेव का लीलागान

करते थे अष्टयाम के वर्ण्यविषय के सन्दर्भ मे इनकी इस प्रवृत्ति का विश्लेषण सहजता से किया जा सकता है। अष्टयाम कीर्तन का वर्ण्यविषय इस प्रकार है—अनुराग, खण्डिताभाव, जगाना, दधिमन्थन, बालरूप सुन्दरता, वेशभूषा, बालक्रीडा, चौगान, चकडोरी, गोचारण, गोदोहन माखनचोरी, पालना, घैया, आरोगन, छाक, गोटेरन, वत्सलीला, कृष्णरूप, गोपीदशा, मुरली रूप, माधुरी, ग्वालबाल सहित वन से आगमन, वात्सल्य भाव से यशोदा को बुलाना, अनुराग, निकुञ्ज-लीला तथा आरती। अष्टयाम की यह सेवा पद्धति राधावल्लभी तथा निम्बार्क सम्प्रदाय में किञ्चित् परिवर्तित मिलती है।

यदि भक्ति के समस्त नवधा साधनों का वर्गीकरण करें तो वे क्रमश: शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार के अङ्ग होंगे। दूसरे शब्दो मे 'इष्टदेव कीर्तन' वाचिक व्यापार है। इस प्रकार इष्टदेव के नाम या गुण-कथन से सम्बन्धित वाणी-व्यापार कीर्तन है। काव्य 'क' या 'कु' धातु से निष्पन्न होने के कारण स्वत: वाणी-व्यापार है। इस स्तर पर काव्य एवं कीर्तन प्राय समानार्थी है। किन्तु, काव्य को न तो सामान्य वाणी-व्यापार कहा जा सकता है और न कीर्तन को मात्र गुणकथन ही। काव्य रसात्मक अनुभूति का यदि भावकथन है तो कीर्तन, धर्म की उस रसात्मक अनुभूति का वाणी-विधान है, जिसे आचार्य शुक्ल ने भक्ति की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से कीर्तन की आन्तरिक प्रेरणा का रसात्मक होना अनिवार्य सा प्रतीत होता है।

कीर्तन और काव्य एक नहीं है। काव्य के विस्तृत विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत कीर्तन का परिसीमन हो सकता है। जीवनगत धार्मिक आस्थाओं, एवं समाज की तात्त्विक रुचियों में कीर्तन को अभिव्यक्ति का शैलीगत मूल्य समझा जा सकता है। इसलिए, यदि काव्य की सीमा में कीर्तन अन्तर्निष्ठ होता है तो कोई आपत्तिकर बात नहीं हो सकती। किन्तु, इसके लिए पहली शर्त है कि वह काव्यमूल्यों का समर्थन करे। इस काव्यरुचि का उपयोग एवं समर्थन हिन्दी के वैष्णवभक्त कवियों ने कीर्तन के माध्यम से किस प्रकार किया है, यही हमारा विवेच्य प्रश्न है।

कीर्तन के वर्ण्यविषय सम्पूर्णत: कृष्णलीला के विषय हैं, अत: 'कीर्तन' के लिए 'लीला-गान' शब्द का प्रयोग निस्सङ्कोच किया जा सकता है। चूंकि लीला के रूप में वैष्णवभक्त कवियों ने जो कुछ कहा है, उसे कीर्तन के अन्तर्गत सरलतापूर्वक समाविष्ट किया जा सकता है, अत: इनका कीर्तन लीलागान का ही पर्याय है। इस लीलागान का काव्यमूल्य की दृष्टि से मूल्याङ्कन करने के लिए दो दृष्टियाँ अपेक्षित हैं—प्रथम, सौन्दर्यमूल्य तथा द्वितीय, रसमूल्य। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में निर्दिष्ट रसमूल्य के आधार पर इनके काव्य का मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है। रस पद्धति की सङ्कीर्ण भारतीय परम्परा में भक्ति विषयक भावों को रसाभास या सामान्य भाव की श्रेणी में रखा गया है। यही नहीं, आलम्बन, उद्दीपन, सञ्चारी आदि के सङ्कीर्ण क्षेत्र में भक्तिकाव्य की सीमाएँ सर्वथा नहीं आ पातीं। इस दृष्टि से सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करने वाले रूपनियोजन की विविध विधाएँ एवं क्रिया तथा व्यवहार-तत्त्व के अनेकानेक सङ्घटनों का उपयोग इस सन्दर्भ में अनिवार्य प्रतीत होता है।

रूप तत्त्वों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन कीर्तनकारों की अनुभूति सर्वथा सौन्दर्य-परक एवं आनन्दात्मक रही है। रूपनियोजन सामान्य परम्परा से सम्बद्ध होता हुआ अनुभूति एवं प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा मौलिक है 'राधा और कृष्ण' 'रूप रस सागर' के पर्याय रूप मे

प्रयुक्त विभिन्न रमणीक विधाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक कीर्तनकार रूपतत्त्व की विविधता, एकरूपता, सङ्गति, संयम, वैविध्य, वैवर्ण्य, वैचित्र्य, कोमलता, और वर्णप्रदीप्ति आदि रूप-सङ्घटक तत्त्वों का नियोजन करने की ओर सजग मिलता है। विषय-चयन का रूप-सङ्घटन से विशेष सम्बन्ध मिलता है। बाल, युवा, पौगण्ड, मध्यावस्था आदि के अनेक मोहक तथा विलास-चेष्टाओं से सम्बद्ध रूप अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। ये कीर्तनकाल रूपतत्त्व की विभिन्न विशिष्टताओं के उपयोग के प्रति सतत सचेष्ट से ज्ञात होते हैं। इन कीर्तनों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये यहाँ रम से गए हैं। रम जाने की यही प्रवृत्ति काव्यरुचि है जो पदों को कीर्तन की श्रेणी से उठाकर काव्य-सीमा में रख देती है।

सौन्दर्यवृत्ति को उद्‌बुद्ध करने वाले क्रिया-व्यापार की दृष्टि से इन पदों का अनुशीलन करना अत्यधिक जटिल कार्य है। क्रिया-व्यापारों का प्रयोग रूपतत्त्व को सुगठित करने एवं उसे सौन्दर्यबोध का प्रत्यय बनाने के लिए किया गया है। इस स्तर पर यह व्यवहार पक्ष अलङ्कृत एव वस्तु की स्वभावनिष्ठा से अधिक सम्बद्ध है। भावबोध के स्तर पर यह सौन्दर्यमूलक क्रिया-व्यापार यहा अधिक प्राप्त है। विभिन्न क्रिया-व्यापारों को अनुभूति के स्तर पर लाकर वर्णित करने की अपूर्व कुशलता इन कवियों में मिलती है। छोटे-से-छोटे क्रिया-व्यापार की सुगठित रेखाओं से पुष्ट रूपतत्त्व इन कीर्तनों में बार-बार अभिव्यक्त हुआ है। इन क्रियाओं का सम्बन्ध कृष्णलीला से है। इनके अनुसार यह लीला स्वतः आनन्द है। इस दृष्टि से लीलागत सम्पूर्ण चेष्टावृत्ति आनन्दमूलक चेतना के परिवेश में प्रगट हुई है। यही कारण है कि कृष्णलीला का प्रत्येक पक्ष सौन्दर्यमूलक होकर आनन्दमूलक है और आनन्दमूलक होने के कारण काव्य है।

दास्यादि भावों से पृथक् यहाँ कीर्तन का केन्द्रबिन्दु 'आनन्द तत्त्व' है। इन कीर्तनकारों ने कृष्ण, कृष्ण की लीला एवं तत्सम्बन्धी आत्मरति—तीनों को आनन्दमय स्वीकार किया है। इस प्रकार रूप एवं प्रेमासक्ति के आवेश में प्रणीत कीर्तनों का मूलभाव 'आनन्द' है। काव्यकला के सौन्दर्यवादी समीक्षकों की दृष्टि में 'आनन्द' काव्य का उच्चतम प्रतिमान है। उदात्तता, नैतिकता, स्नेह एवं प्रेम के द्रावक तथा उपयोगी भावों के स्थान पर सौन्दर्यवृत्ति को यहाँ सर्वाधिक महत्त्व मिला है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उनकी साधना का सर्वोच्च प्रत्यय 'आनन्द' अभिव्यक्तिगत मूल्य होने के कारण काव्य का उच्चतम मूल्य है। किन्तु यहीं, यह प्रश्न उठ सकता है कि साधना-गत 'आनन्दमूल्य' क्या काव्यगत 'आनन्दमूल्य' ही है या उससे भिन्न ? विवाद में न पड़कर इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि अभिव्यक्ति का मूल्य होने पर साधनागत 'आनन्दानुभूति' वैष्णव कीर्तनों में काव्यमूल्य है। फिर भी इतना सत्य अवश्य है कि दोनों की प्रक्रियाओं में प्रवृत्तिगत अन्तर है।

यदि वैष्णव कीर्तनों की सौन्दर्यवृत्ति की व्याख्या की जाय तो इसके तीन क्रम स्पष्ट दीख पड़ेंगे। प्रथम अवस्था में कवि एक निश्चितरूप विधान की ओर आकृष्ट होता है। दूसरी स्थिति में वह अपने भाव संवेगों को जाग्रत करके रूपबोध को भावप्रवण बनाता है। रूपबोध की इस भावप्रवणता से उसके अपने एकात्मीकरण को बल मिलता है। निष्कर्षतः ऊर्ध्वचेता कवि की तरह ये कीर्तनकार सहज ही निरन्तर रूपबोध से सौन्दर्यबोध की ओर अग्रसरित होते रहते हैं। तीसरी वृत्ति इन कीर्तनकारों की यह है कि अपने प्रत्येक कीर्तन में वे साङ्केतिक या स्पष्ट रूप से प्रसङ्ग

तथा व्यवहार की सूचना देते चलते हैं इस प्रकार प्र भ एवं दोनों प्रवृत्तियों का साथ-साथ व्यवहार यहाँ प्राप्त होता है।

ये वैष्णव कीर्तन प्राय: विषयपरक हैं। किन्तु इन तीन दृष्टियों से प्रभावित होने के कारण इनकी वस्तुपरकता विषयपरकता में खो जाती है। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा दी गई काव्य की सिद्धावस्था की संज्ञा इन कीर्तनों पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। मूलत ये कीर्तन काव्य की गीतिविधा के ही प्रारूप हैं। यही कारण है कि सौन्दर्यवृत्ति के ये पोषक अङ्ग गीतितत्त्व के प्राण माने जाते हैं। इस दृष्टि से वैष्णव कीर्तनों को 'आनन्दभाव' पर केन्द्रित एवं सौन्दर्यवृत्ति से चालित मधुरतम गीतिकाव्य की संज्ञा दी जाती है।

सौन्दर्यशास्त्र के आधुनिक समीक्षकों का विचार है कि सौन्दर्यानुभूति अत्यधिक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। इस स्तर पर कवि मनुष्य के क्रियाशील संवेगों को जाग्रत करके मन के चेतन पक्ष को उसी की ओर सचेष्ट करता है। संवेगों की यह जागृति विषयों के अत्यधिक प्रभावशाली प्रत्यक्षों पर आधारित है। यही कारण है कि विभिन्न वर्णों की समता, विरोध, एकरूपता, सघनता और प्रदीप्ति आदि की ओर अनायास आकर्षण हो उठता है। हिन्दी के वैष्णवभक्त आचार्यों एवं कीर्तनकारों ने इससे सम्बन्धित सौन्दर्यवृत्ति को अधिक सजग बनाने के लिए कतिपय व्यावहारिक उपकरणों का आश्रय लिया। कृष्ण की लीलानुरूप विभिन्न वेशभूषा, भक्तों में गोपी भाव का आरोप, इससे सम्बन्धित अलङ्कृति, सङ्गीत के विभिन्न उपकरण–मृदङ्ग, मुरज, सारङ्गी, वीणा, पखावज, डफ, बाँसुरी, तत्सम्बन्धी विभिन्न राग-रागिनियाँ आदि यहाँ सहज भाव में उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है सामूहिक गायन की। इसके फलस्वरूप कृष्णलीला के एक विषय का बार-बार प्रयोग पिष्टपेषण न रहकर एक ही विषय में सामूहिक मन को रमा देने की प्रवृत्ति का पोषक हो गया। दूसरी व्यावहारिक बात यह कि ये कवि मानव मन के सहज आनन्दपरक स्वभाव से पूर्णत: परिचित थे। रूपबोध एवं क्रिया-व्यापार की आकर्षक से आकर्षक लीला चाहे वह वासनात्मक ही क्यों न हो इनके कीर्तन का विषय अवश्य बनी है। तत्कालीन जन-जीवन एवं धार्मिक वातावरण को अत्यधिक सचेष्टता से आकर्षित करने के लिए वैष्णव आचार्यों ने उत्तर मध्यकाल में कीर्तन की अनिवार्यता सिद्ध की थी। ऐसी स्थिति में सांसारिकता से निवृत्त होने के लिए इसी सांसारिकता के प्रभावशाली से प्रभावशाली विषयों तथा भावों का आधार इन कीर्तनकारों ने लिया था। लीला के इन्हीं आकर्षक प्रत्यक्षों से सौन्दर्यवृत्ति के उज्ज्वलतम मूल्यों को बल मिला है।

वैष्णव भक्ति-साहित्य के इन कीर्तनों को रस की कसौटी पर कसा जा सकता है। यदि एक क्षण के लिए भक्तिरस को काव्यरस के अन्तर्गत रखकर इन कीर्तनों का वर्गीकरण किया जाय तो इनमें शान्त एवं दास्य विषयक पदों की संख्या बहुत कम तथा सख्य, वात्सल्य एवं प्रीतिभक्ति रस सम्बन्धी पद अधिक प्राप्त होते हैं। लीला की दृष्टि से भक्त कवियों के लिए शान्त एवं दास्य का विशेष महत्त्व नहीं है। यही नहीं, यदि लीला को एक रूपक मान लिया जाय तो भरत मुनि की भाँति शान्त रस को उससे पृथक् रखना पड़ेगा क्योंकि शान्त—चित्तवृत्ति का शमत्व है और लीला उसका उद्बोधन। भक्ति-काव्य में प्राप्त दास्य-भाव का सम्बन्ध दैन्य, विगर्हणा, हीनता, भय, सांसारिक नश्वरता, मायिक सङ्कटों का अभास आदि भावों से है। भाव की दृष्टि से इस

प्रकार इन्हे विशेष महत्त्व नही दिया जा सकता निश्चितरूप से वष्णव कीतनो के तान माव सख्य, वात्सल्य एवं मधुर अत्यधिक सबल हैं। इन तीनों भावों का मूलाधार 'राग' है। यदि 'अष्टयाम' के सम्पूर्ण पदों का वर्गीकरण करें तो सख्य विषयक पद अल्प, उससे अधिक वात्सल्यभाव विषयक एवं सबसे अधिक मधुरभक्ति विषयक पद प्राप्त होते हैं। मध्यकालिक शास्त्रीय युग के काव्यों की मूलप्रवृत्ति रागात्मकता है। काव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में इसी रागात्मकता को रमणीयता, रसात्मकता आदि शब्दों से उत्तरमध्यकालीन शास्त्रकारों ने पुकारा है। यही रागात्मकता वैष्णव भक्ति काव्य की मूलचेतना है। मधुर रस के रूप में इन कवियों ने काव्य के सबसे उच्चगुण का गान किया है। इसीलिए हम इन्हें मात्र कीर्तनकार न कहकर काव्यकार मानते हे।

इन कीर्तनों में प्राप्त भावो को रसशास्त्री काव्य सीमा के अन्तर्गत ही रखते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सख्या ८ से लेकर ११ तक बढ़ती गई है। शान्त को नवाँ तथा वात्सल्य एव लौल्य रसों को एकादश संख्या पूर्ण करते हैं। १५ वीं शती के आसपास भक्तिरस की गणना काव्य के साथ होने लगी थी। वात्सल्य रस की स्पष्ट मान्यता का उल्लेख सर्वप्रथम साहित्यदर्पणकार 'अथ मुनीन्द्र सम्मतो वात्सल्य :' कह कर करता है। किन्तु मुनीन्द्र का उल्लेख सम्प्रति किसी अन्य स्थल पर अप्राप्य है। सख्यभाव को स्नेह के रूप में स्वीकार करके काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ में इसे 'लौल्य रस' की संज्ञा दी गई है। संस्कृत काव्यशास्त्र की अन्तिम परम्परा के आचार्य अभिनवगुप्त, भोजदेव, भानुदत्त, हेमचन्द्र आदि वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति के रसत्व के विषय में सन्देह करते है, किन्तु ये इन्हें भाव की कोटि में अवश्य रखते हैं। किन्तु क्या भाव काव्यमूल्य नहीं हैं ? हैं....निश्चित रूप से है, किन्तु रस की भाँति उत्कट नही। ये काव्यमूल्यों के अन्तर्गत अनिवार्य रूप मे समाहित हैं। इस दृष्टि से भी कीर्तनों के भाव वात्सल्य, सख्य एवं मधुर से प्रत्यक्ष सम्बद्ध होने के कारण काव्य-मूल्यों की श्रेणी में रखे जा सकते है। काव्य के नवरस जिन्हें भक्तों ने लौकिक रस की संज्ञा दी है, इन कीर्तनों के सौन्दर्य विधायक तत्त्व हैं।

निष्कर्षत: राग भाव से सम्पुष्ट प्रीतिभक्तिरस इन कीर्तनों का प्राण है। इसी मधुर भाव को काव्य एवं भक्ति का प्राण माना गया है। वैष्णव भक्तों की मधुर रस की उपासना उच्चकोटि की काव्यसाधना है क्योंकि भारतीय काव्य का अन्तिम मूल्य आनन्द इनका भी सर्वोच्च मूल्य है। कीर्तन के द्वारा इसी मधुर रस का गान इन भजनानन्दियों का उद्देश्य था।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. Sanskrit Dictionary—P. K. Karvey, G. G. Gode, K. 280/119। २. वाल्मीकि रामायण, ५।३।१४, गीताप्रेस, गोरखपुर। ३. 'कृष्णः संकीर्तयन मूल्यः संसारान्मुच्यते यथा'—महाभारत, शान्तिपर्व। ४. 'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रता'—गीता ९।१४, २९ आदि। ५. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, द्वितीय आह्निक; सूत्र स० ५७, ७४,७६। ६. नारद्भक्तिसूत्र मन्त्र स० ३७। ७. भगवद्भक्ति रसायन, पृ० १०० की पादटिप्पणी तथा पृष्ठ १०१ ८. नारायणीय, श्लोक स० ५, ६। ९. मेदिनी—K २८०—११९ १०. वासुदेव रसानन्द, पृ० २७५-७९। ११. भागवत, १।५।८-११, ७।५।२३-२४, १०।१।४०; विष्णु-पुराण १।१।२० २।६ ४३ आदि

अक्षर | • कैलाशचन्द्र भाटिया

'अक्षर' शब्द संस्कृत में कई अर्थों में प्रयुक्त होता था। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' में इसकी कई व्युत्पत्तियाँ दी हैं :—

अथ किमिदमक्षरमिति
अक्षरं न क्षरं विद्यात्।
न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्।[1]

इस प्रकार 'अक्षर' का अर्थ हुआ 'जो घटता नहीं उसको अक्षर समझा जाय।' जिसका उच्चारण हम करते हैं वह ध्वनि यद्यपि विनाशी है तो भी उस ध्वनि के द्वारा सूचित किया जाने वाला स्फोट रूप अक्षर नित्य अर्थात् अविनाशी ही है। उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियों के मूल में दो धातुएँ हैं :—

√क्षि
> दोनों से ही 'अक्षर' का अविनाशी अर्थ सिद्ध होता है।
√क्षर

अश्नोतर्वा सरोऽक्षरम्

'अश्' धातु में 'सर' प्रत्यय लगाने से अक्षर सिद्ध होता है जिसका अर्थ है 'जो व्याप्त करता है वह'।

यास्क[2] ने अक्षर की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं :—

क्षरं नी क्षरति न क्षीयते—वस्वोऽक्ष इति वा

पहली व्युत्पत्ति—अ+ √क्षर्

दूसरी व्युत्पत्ति—अक्ष+र

यास्क तथा अन्य प्राचीन वैयाकरणों के इन विचारों पर टिप्पणी देते हुए डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने लिखा है :—

"प्रतीत होता है कि तब भी दो दृष्टिकोणों से 'अक्षर' की कल्पना की जा रही थी। पहला दृष्टिकोण निषेधात्मक था, अर्थात् वाक्य-प्रवाह का वह अंश जिसका क्षरण नहीं होता। कतिपय आधुनिक विचारकों का भी यही मत है कि श्रोता को प्राय: अक्षर ही अधिक सुनाई देते हैं।.... वैदिक स्वर-प्रक्रिया से निषेधात्मक अर्थ का समर्थन नहीं होता; इसीलिए यास्क के दूसरे निर्वचन पर विचार करना पड़ता है। एक दूसरे निर्वचन में अक्षर का मूलभूत 'अक्ष' बताया गया है अर्थात्

धुरी जो रथचक्र का आधार है भाषण प्रवाह का आधार होने पर इसे अक्षर कहा गया है।[३]

अक्षर का अर्थ जो तोड़ा या खण्डित न किया जा सके, प्रचलित होने के कारण पहले 'भाषा या 'वाक्' के लिए अक्षर का प्रयोग किया जाता था, तत्पश्चात् शब्द के लिए स्थिर हुआ।

वर्ण को अखण्ड मानकर उसके लिए भी अक्षर का प्रयोग किया जाने लगा। सामान्य लोगों में आज भी यही अर्थ प्रचलित है और इसी आधार पर इन वर्णों के प्रतीक लिपि चिह्नों के लिए 'अक्षर' का प्रयोग किया जाने लगा।

आगे जब शब्द के भी टुकड़े किये गये तो अक्षर अंग्रेजी शब्द 'सिलेबिल्' के अर्थ में सीमित हो गया। ऋक्, वाजसनेयी, तैत्तिरीय आदि प्रातिशाख्यों में तथा शिक्षाग्रन्थों में 'अक्षर' का यही अर्थ है जिस पर विचार किया जायेगा।

'अक्षर' का यही भाव अंग्रेजी शब्द 'सिलेबिल्' (Syllable) के मूल ग्रीक शब्द Sullabe में है जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :—

Sullabe = Syl × lambano (take)

जिसका अर्थ हुआ 'एक में बँधा हुआ या रखा हुआ'।[४]

संस्कृत 'अक्षर' तथा ग्रीक में 'सिलबे' के मूल अर्थ चाहे भिन्न हों पर उन अर्थों में भाव-ऐक्य मिलता है। आगे चलकर प्रातिशाख्यों ने जो 'अक्षर' की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, ग्रीक के 'सिलबे' के बहुत निकट हैं। ग्रीक शब्द ही यूरोप की भाषाओं में परिवर्तित रूप में व्याप्त है, फ्रेञ्च में Syllebe तथा जर्मन में Silbe है।

'अक्षर' की परिभाषा

'अक्षर' के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट विवेचन प्राचीन शास्त्रों में से ऋक्प्रातिशाख्य[५] मे किया गया है।

'अक्षर'—कोरा स्वर, स्वर तथा व्यञ्जन, अनुस्वार के साथ स्वर या व्यञ्जन तथा अनु-स्वार के साथ स्वर रूप में हो सकता है।

प्रथम व्यञ्जन के आगे के स्वर और अन्त्य व्यञ्जन का सम्बन्ध पूर्व स्वर से होता है।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य[६] तथा वाजसनेयी प्रातिशाख्य[७] दोनों ही ग्रन्थों में अक्षर के निर्माण मे स्वर के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए स्वर को ही अक्षर कहा गया है:—"स्वरोऽक्षरम्"

प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अक्षर उस एक ध्वनि या ध्वनि समुदाय (वर्ण या वर्ण समूह) को कह सकते हैं जो एक आघात या झटके में बोला जाता है और जिसमें एक स्वर या स्वरवत् व्यञ्जन रहता है। उसी स्वर के पूर्वाङ्ग या पराङ्ग बनकर अनेक व्यञ्जन रह सकते हैं। अक्षर में स्वर ही प्रमुख होता है और एक प्रकार से यही अक्षर का मेरुदण्ड है। स्वर ही अक्षर-स्पन्दन को घोषित करता है। अक्षर से स्वर को न तो पृथक् ही किया जा सकता है और न बिना स्वर या स्वरवत् के अक्षर का निर्माण ही सम्भव

है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा स्वर को अक्षर का आवश्यक तत्त्व मानते हुए नारद शिक्षा से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि व्यञ्जन किसी भी भाषा में मोतियों के तुल्य हैं जबकि स्वर उस धागे के तुल्य हैं जिनमें मोती पिरोये जाते हैं।[८] स्वर तो स्वयं शासन करता है (स्वयं राजते)। 'नारद शिक्षा' में स्वर को शक्ति-सम्पन्न सम्राट और व्यञ्जन को निर्बल राजा के तुल्य माना है।

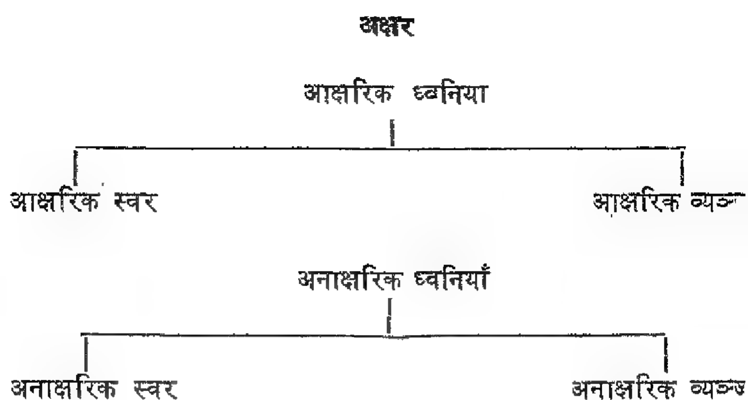
प्राचीन शास्त्रों में 'स्वर' का इतना अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है कि व्यञ्जन को स्वर के आधीन बना दिया गया है। 'त्रिभाष्यरत्न' में तो यहाँ तक कह डाला गया है कि व्यञ्जन अपने आप में खड़ा भी नहीं हो सकता, यथा—'**व्यञ्जनम् केवलम् अवस्थातुं न शक्नोति किम् तु सापेक्षम् स्वरः तु निरपेक्षः**'। अक्षर में व्यञ्जन का क्या स्थान है इस पर पृथक् से विचार किया जायेगा। यहाँ तो यही विवेच्य है कि 'अक्षर' के साथ स्वर का योग इतना अधिक बढ़ गया है कि अक्षर स्वर का पर्यायवाची ही बन गया और सम्भवतः इसी आधार पर स्वर के दो भेद किये गये—१—समानाक्षर २—सन्ध्यक्षर

'अक्षर' में स्वर का महत्त्व ट्रुबसकोय, ग्रेम्स[९] ने भी उसी प्रकार स्वीकार किया है जैसा हमारे यहाँ शिक्षा-ग्रन्थो में किया गया है।

यह निर्विवाद है कि अक्षर के निर्माण में 'स्वर' का अत्यधिक महत्त्व है, पर दोनों को पर्यायवाची समझकर जिस शब्द में जितने स्वर हों उतने ही अक्षर मानना एक बड़ी भूल है। जिन भाषाओं में सन्ध्यक्षर स्वर[१०] का महत्त्वपूर्ण स्थान है वहाँ यह सिद्धान्त असफल सिद्ध होगा। साथ ही कुछ भाषाओं में व्यञ्जन भी अक्षर के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में 'स्वर ही अक्षर है' सिद्धान्त पुराना पड़ जाता है।

संसार की अनेक भाषाओं में अक्षर के निर्माण में व्यञ्जन का महत्त्वपूर्ण योग है। व्यञ्जन भी अक्षराधार या शीर्ष रूप में मिलते है। हमारे यहाँ ही संस्कृत की ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ऐसी व्यञ्जन ध्वनियाँ हैं जिनका आक्षरिक महत्त्व है। यही कारण है कि उनको स्वरों में सम्मिलित किया जाता है। आज इन ध्वनियों को स्वरवत् उच्चारण करने में हम असमर्थ है। अँग्रेजी में[११] ।ल्। तथा ।न्। का आक्षरिक महत्त्व है। जापानी में[१२] ।स्। आक्षरिक है। अफ्रीकी भाषाओं में[१३] भी अनेक व्यञ्जन इस कोटि में आते हैं। चेक भाषा[१४] में तो स्वर शून्य पूरे वाक्य भी है। चेक भाषा में ।र्। ध्वनि आक्षरिक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि 'अक्षर' के निर्माण में बहुधा स्वर और कभी-कभी व्यञ्जन सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि स्वर भी व्यञ्जनवत् प्रयुक्त हो सकते हैं और व्यञ्जन का भी स्वरवत् प्रयोग किया जा सकता है या वे ध्वनियाँ जो 'अक्षर' का शीर्ष बना सकें आक्षरिक है और जो इनसे इतर है वे अनाक्षरिक हैं। अमेरिकन भाषाशास्त्री पाइक[१५] ने आक्षरिक (Syllabic) तथा अनाक्षरिक (Non-Syllabic) शब्दावली का ही प्रयोग किया है। आक्षरिक ध्वनियाँ स्वर तथा व्यञ्जन दोनों हो सकती हैं और अनाक्षरिक ध्वनियाँ भी स्वर तथा व्यञ्जन दोनों हो सकती हैं



इसी तथ्य को एक और स्थान पर पाइक महोदय ने रेखाचित्र से इस प्र किया है :—

ध्वनियाँ

प्रायः आक्षरिक

विरल

बहुशः आक्षरिक

स्वल्पाक्षरिक

स्वर

व्यञ्जन

स्पर्श

केन्द्रीय मुखरित

नासिक्य तथा पार्श्विक मुखरित

मुखरित

अमु

ध्वनियाँ

'अक्षर' के विवेचन के साथ स्टेट्सन महोदय का नाम अनायास ही याद आ स्टेट्सन महोदय ने अनेक यान्त्रिक प्रयोगों से इस समस्या पर गहराई से अध्ययन किया विचार से 'अक्षर एक गत्यात्मक इकाई है।'[15] अक्षर एक गति-मात्र है जिसकी ग मांसपेशियों का श्वास-स्पन्दन ही है जिसके द्वारा फेफड़ों में वायु-सङ्कोचन होता है। वायु-उत्प्रेषण से अक्षर का निर्माण होता है। इस प्रकार अक्षर हवा के उस एक झटके उत्पन्न ध्वनि-समूह या ध्वनि-इकाई है जो वक्ष की मांसपेशियों के सङ्कोचन से फेफ निकलती है। इसी कारण इसे श्वास-स्पन्दन से उदभूत कहा जाता है। इस रूप में अ की तीन सीढ़ियाँ हैं १ २ आक्षरिक स्पन्द ३ अन्त

अक्षर' मे स्वर का महत्त्व स्टेट्सन भी स्वीकार करते हैं व्यञ्जन तो किसी अक्षर को मुक्त या निरोधित अथवा दोनों करने की विशिष्ट क्षमता रखते हैं।

स्टेट्सन महोदय ने भाषा में 'अक्षर' का वही महत्त्व स्वीकार किया है जो सङ्गीत में तान का और नृत्य में पग-सञ्चालन का है।[१७]

हेफ़नर महोदय[१८] आक्षरिक तथा अनाक्षरिक ध्वनियों को स्वीकार करते हुए 'अक्षर' के निर्माण में सस्वनता का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। शब्द मे जो भाग सबसे अधिक सस्वन होता है वही अक्षर का आधार है, उदाहरणार्थ 'रेट्' शब्द लिया जा सकता है जिसका आरम्भ [र्] ध्वनि से होता है और श्वास-स्पन्द [एँ] के उच्चारण में स्पन्दित होता है और अन्त में [ट्] ध्वनि से निरोधित हुआ है। अधिक सस्वन होने के कारण ही स्वर [एँ] आक्षरिक है।

हेफ़नर महोदय[१९] ने अक्षर का आधार सस्वनता (Prominence) मानते हुए अल्पतम सस्वनता से उच्चतम सस्वनता वाली ध्वनियों को (फ्लेचर, मीवर्ज, यस्पर्सन आदि के प्रयोगों के आधार पर) इस प्रकार कोटिबद्ध किया है :—

अल्पतम सस्वन	अघोष स्पर्श तथा सङ्घर्षी		प्, त्, क्, फ्, स्, ह्
अल्पतर सस्वन	सघोष स्पर्श तथा सङ्घर्षी		ब्, ड्, ग्, व्, ज्, ज
अल्प सस्वन	नासिक्य		म्, न्, ङ
	पार्श्विक		ल्
व्यञ्जनों की ओर से उच्चतम सस्वन		लुण्ठित	र्
स्वरों की ओर से निम्नतम सस्वन			उ, इ
अधिक सस्वन			ओ, ए
अत्यधिक सस्वन			आ, एँ, ऑ

इनमें से सर्वाधिक सस्वन [आ] स्वर है।

हॉकट[२०] महोदय ने अक्षर में 'शीर्ष' पर बल दिया है। आक्षरिक ध्वनि ही 'शीर्ष' बना सकती है। 'शीर्ष' से पूर्व और पर गह्वर होते हैं। पूर्व गह्वर को हॉकट ने Onset (आनसेट) और पर गह्वर को Coda (कोडा) नाम दिया है। उदाहरणार्थ, हैट् शब्द में [ह्] आनसेट है, [ए] शीर्ष है और [ट्] कोडा है।[२१]

'शीर्ष' का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए हॉकट ने इसके निर्माण में चार तत्त्व स्वीकार किये हैं:—

१—स्वर

२—तान या सुर

३—स्वर तथा बलाघात

४—स्वर तथा मात्रा

जैकोब्सन महोदय[२२] ने भी अक्षर में स्वर का महत्त्व माना है। एक अक्षर से स्वर न हट सकता है और न दो बार आ सकता है

प्रो० मेन्जरेथ महोदय का कथन था कि नीचे का जबड़ा हर अक्षर में एक बार हिलता है। पर उनका यह सिद्धान्त मान्य नही ठहरा।

फ्रेञ्च विद्वान् सास्यूर[२३] ने भी अक्षर के सम्बन्ध में मुँह के खुलने और बन्द होने के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसने अधिक या कम मुँह खुलने के आधार पर ध्वनियों के छह वर्ग बनाये है। २,३,४ प्रकार से मुँह खुलने वाले ध्वनिग्राम क्रमशः नासिक्य, लुण्ठित पार्श्विक तथा अर्द्धस्वर दोनों ओर जा सकते हैं अर्थात् आक्षरिक भी हो सकते हैं और अनाक्षरिक भी। उसने अक्षर का आधार सस्वनता माननेवालों पर करारी चोट की है। उसका मत है कि [इ] और [उ] जो बहुत अधिक सस्वन है क्या हमेशा 'अक्षर' बनाने में समर्थ होते हैं? और फिर सस्वनता का अन्त कहाँ, जबकि सङ्घर्षी अघोष ध्वनि [स] भी आक्षरिक है, जैसे 'प्स्ट्' में।

प्रो० फ़र्थ[२४] ने अक्षर को एक 'स्पन्दन' माना है और प्रो० ग्लीसन[२५] भी सम्पूर्ण वाग्धारा को स्पन्दनमय मानते हुए लिखते हैं:—

"Speech is, therefore, marked by a Series of short pulses produced by the motion of the intercostal muscles. These pulses are the phonetic syllables."

अक्षर का विशेष गुण-धर्म इसकी प्रतीति (प्रामिनेंस) है।[२६] प्रतीति पर कोनर[२७] महोदय ने बल दिया है। अक्षर का 'शीर्ष' जिन तत्त्वों से अधिक प्रमुख बन जाता है वे हैं सस्वनता, मात्रा, बलाघात और सुर। इनमें से कोई तत्त्व अकेला ही मुखरता प्रदान कर सकता है, पर एकाधिक भी हो सकते हैं और उसी अनुपात से मुखरता बढ़ती जाती है। इनसे ही 'शीर्ष' की प्रतीति होती है और 'शीर्ष' से इतर कोटियाँ गौण रह जाती है। 'शीर्ष' के इन तत्त्वों की ओर डेनियल जोन्स[२८] ने ध्यान आकर्षित किया है।

अक्षर में 'बल का प्रभाव' ब्लूमफ़ील्ड[२९] महोदय ने भी स्वीकार किया है।

अब तक प्राप्त विभिन्न परिभाषाओं में एक समानता है। जहाँ भारतीय मनीषी अक्षर मे 'स्वर' को प्रधानता देते हैं वहाँ पाश्चात्य विद्वान् अक्षर-रचना में 'शीर्ष' या शिखर अथवा चोटी (Peak, crest, nucleus) को महत्त्व देते हैं। श्रवण-गुण की दृष्टि से शीर्ष ध्वनि आक्षरिक होती है और अपनी पड़ोसी ध्वनियों से अधिक मुखर हो जाती है।

हागन महोदय[३०] ने अक्षर के सम्बन्ध में अब तक किये गये कार्य का सूक्ष्म पर्यालोचन करते हुए एक विचारशील निबन्ध प्रस्तुत किया है। उन्होंने भाषा-मनीषियों के अक्षर सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है:—'दैहिक दृष्टि से जो हृत्स्पन्दन (चेस्ट पल्स) है वही ध्वन्यात्मक दृष्टि से सस्वनता है।' उनके मत से 'पुनरावर्तक ध्वनिग्रामीय अनुक्रमो की लघुतम इकाई ही अक्षर है।'

अलवर निक्विस्ट[३१] ने बड़े स्पष्ट शब्दों में अक्षर पर तीन दृष्टियों से विचार किया है:—

१. उच्चारण की दृष्टि से—बहुत कुछ स्टेट्सन तथा हेफ़नर के विचारों के अनुकूल।

२. ध्वन्यात्मक दृष्टि से—तीव्रता, शीर्ष तथा ध्वनिग्रामों में पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित।

३ [illegible] दृष्टि से—श्रोता वास्तविक रूप से शब्द को जितने खण्डों में सुनता है

"केन्द्रक रूप स्वर इकाई से युक्त ध्वनिग्रामों के संयोजन का वह न्यूनतम साँचा अक्षर है जो पूर्वा पर किसी एक व्यञ्जन ध्वनि अथवा स्वीकृति व्यञ्जन गुच्छों से युक्त हो" परिभाषा ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य विवेचन का समन्वय है और यह केन्द्रक ही किसी परिभाषा में शीर्ष (Peak) है, किसी में चोटी (Crest) और किसी मे शिखर (Culmination) है।

सन्दर्भ-सङ्केत:—

१. पतञ्जलि: व्याकरण महाभाष्य, १।१।२। २. Siddheshwar Verma: The Etymologies of Yaska, Page 33.। ३. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा: अक्षर, भाषा, सितम्बर १९६२, पृ० ६२। ४. Liddell and Scotts: Greek English Lexicon, Oxford, page 642.

५. सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्। ८,३२।
व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्यं तु पूर्वभाक्। ८,३३।
विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। ८,३४।
संयोगादिश्च वैवं च। ८,३५।
सहक्रम्यः परक्रमे क्रमेण सहक्रम्यो वर्णः पूर्वमक्षरं वा भजते परक्रमे सति। ८,३६। गुर्वक्षरम्। ८,३७। लघु ह्रस्वं न चेत्संयोग उत्तरः। ८,३८। अनुस्वारश्च। ८,३९। संयोगं विद्याद्व्यञ्जनसङ्गमम्। ८,४०। गुरु दीर्घम्। ८,४१। गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्। ८,४२। लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम्। ८,४३। लघीयो व्यञ्जनावृते। ८,४४।
—ऋक् प्रातिशाख्य, सं० मङ्गलदेव शास्त्री, सन् १९३१, पृ० ४९३-४९४।

६. अथर्ववेद—प्रातिशाख्य ९३। ७. वाजसनेयी प्रातिशाख्य १,९९, वी० पी० शर्मा (मद्रास विश्वविद्यालय, सन् १९३४), पृ० ३८।

८. "Consonants are like pearls in a necklace but the thread which supports them is the Vowel."—Dr. Siddheswar Verma: Critical Studies in the Phonetic observations of Indian Grammarians

९. Thus a vowel is phonologicallly defined by the fact that it forms a syllable or the nucleus of a syllable--a criterian for which western antiquity provides parallel indeed the statement of Tribhasratna is almost exactly duplicated by that of Dionysius Thrax: W.S. Allen, Phonetics in Ancient India (1953) Page 80.

१०. अंग्रेजी में सन्ध्यक्षर स्वरों की बहुलता है। सन्ध्यक्षर स्वर दो स्वरों के योग से बनता है जिनमें से एक ही स्वर आक्षरिक होता है, दूसरा नहीं। यही समस्या हिन्दी के साथ भी है, अतः 'जितने स्वर हों उतने अक्षर' यह सिद्धान्त अब मान्य नहीं।

११ डनियल जोन्स एन आफ इगलिश फोनेटिक नि० १०१ सन १९५६ प० २४ १२ डा० सिद्वश्वर वर्मा क्रिटिकल स्टडीज इन फोनेटिक आब्जर्वेशन्ज आफ इण्डियन ग्रामेरियन्ज, १९२९, पृष्ठ ५५। १३. प्रो० गोलोकबिहारी धलः ध्वनि-विज्ञान, सन् १९५८, पृष्ठ २०९। १४. डॉ० भोलानाथ तिवारीः भाषा-विज्ञान, सन् १९६१, पृष्ठ ३६४। १५. पाइक: फ़ोनेटिक्स, सन् १९५८, पृष्ठ १४४।

१६. "Syllable is a motor unit."—R. H. Stetson, Moter Phonetics,

१७. Ibid. p. 8.। १८. हेफ़नर, आर० एम० एस०, जनरल फ़ोनेटिक्स, १९५२, पृष्ठ ७२-७३। १९. वही, पृष्ठ ७२-७४। २०. यही विचार केनयन का है।

२१. "Peak is the nucleus of the syllable and that any other syllable element present in one or another instance is a satellite."

—Hockett, C. F.: A Manual of Phonology, 1955, Page 56, 2.2.1.2. Syllable and juncture

२२. Jakobson, R : Fundamentals of Language, 1956, Page 20। २३. Saussure, F. D. : Course in General Linguistics, 1960, pp. 57-59। २४. Firth, J. R.: Sounds and Prosodies, T.P.S. 1948, pp. 128-152। २५. Gleason, H. A. : An Introduction to Descriptive Linguistics, 1961, Page 256।

२६. डॉ० सिद्धेश्वर वर्माः अक्षर, भाषा, हिन्दी निदेशालय, दिल्ली।

"इस प्रतीति के अंश स्वराघात, बलाघात और मात्रा हैं। उसके निरन्तर आरोह-अवरोह के कारण अक्षर एक संश्लेषात्मक तरल (सिंथेटिक फ्लूइड) का आकार रखता है। प्रतीति-भेद इन्हीं अंशों में हुआ करते हैं।"

२७. O' Conner: Vowel: Consonant and Syllable, Word, 1953, pp. 103-122। २८. Daniel Jones: An outline of English Phonetics, 1956, Rule 209, 211, 215 & 218.। २९. Bloomfield: Language, 1956, Page 125। ३०. Einar Haugen: The Syllable in Linguistic Description F.R.J., 1956, pp. 216। ३१. Alvar Nyquist: A note on the Syllable, Le Maitre Phonetique, July-Dec. 1962, pp. 27-28.

कोश विज्ञान : एक परिचय

• अचलानन्द जखमोला

अर्थ और परिभाषा

'कोश' शब्द देवनागरी लिपि में दो प्रकार[1] से लिखा जाता है—कोष (मूर्धन्य 'ष' से) यथा, 'उर्दू-हिन्दी कोष' या 'डिंगल कोष' और कोश (तालव्य 'श' से) उदाहरण के लिए, 'हिन्दी साहित्य कोश' या 'बृहत् हिन्दी कोश'। प्राचीन संस्कृत कोशों में 'ष' वर्ण की प्रधानता होते हुए भी आधुनिक विद्वान् शब्द कोश (डिक्शनरी) के लिये 'कोश' और खजाना (ट्रैजर) के लिए 'कोष' का ही प्रयोग अधिक उचित मानते हैं। कुछ विद्वान् इन दोनों रूपों के अर्थों में भी प्रभेद करते हैं। उनके मतानुसार विशेष अर्थों में मूर्धन्य 'ष' और अन्य अर्थों में 'श' प्रयुक्त किया जाना चाहिए। पुन: कहीं 'कोष' को केवल पुंलिङ्ग और 'कोश' को तीनों लिङ्गों में व्यवहृत बताया गया है परन्तु इस प्रकार के प्रभेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

संस्कृत कोश 'शब्द कल्पद्रुम' में इस शब्द के दोनों रूपों की व्युत्पत्तियां इस प्रकार दी गई हैं:—

कोश:—पुं० कुश्यते संश्लिष्यते। कुश् संश्लेषणे+घञ् कर्तरि चेति अधिकरणादौ घञ्[2]।

कोष:—पुं० क्ली० कुष्यते आकृष्यन्ते फलपुष्पोत्पादक मधमधरागादयो यस्मिन्। कुष् ग निष्कर्षे+घञ् कर्तरि चेति अधिकरणे घञ्।[3]

यह शब्द दोनों रूपों में अनेकानेक अर्थों में प्रयुक्त होता है—कलिका, म्यान, बल, समुदाय, जातिकोष[4], भण्डार[5], शोपान[6], दिव्यम्[7], योनि, शिखा, पानपात्रचषक[8], धनजालि[9], अण्ड, आवास-गृह, शरीर, पुस्तकागार[10], खान से निकाला गया ताजा सोना या चाँदी[11], आवरण विशेष[12], बीजकोष[13], मुकुल[14], शपथ, ग्रहों सम्बन्धी एक दिन विशेष, लिङ्ग[15], परिवार[16], अण्डा, घाव पर बाँधने की एक पट्टी, रेशम का कोया, मद्यपात्र, दिव्य पात्र या एक ऐसा पात्र जिसका प्रयोग प्राचीनकाल में दो राजाओं के बीच सन्धि स्थिर करने में होता था[17], अर्थ-समूह[18], शब्दादि संग्रह[19] इत्यादि। वेदान्ती लोग मनुष्य में पाँच कोषों की कल्पना किया करते हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय।[20]

उपर्युक्त समस्त गौण प्रयोगों के अतिरिक्त 'कोश' शब्द का सर्व प्रचलित प्रसङ्ग एवं अभिधेय अर्थ है—वह ग्रन्थ जिसमें अर्थ वा पर्याय सहित शब्द एकत्र किये गये हों। उसका अतिव्यापक, सर्वप्रसिद्ध, लोकप्रिय एवं मूलभूत लक्षण 'शब्दों का संग्रह',[21] करना है। शब्द अनेक प्रकार के होते हैं और उनको भिन्न भिन्न दृष्टियों से और शैलियों पर संग्रहीत किया जाता है अतएव कोश मुख्यत

एक वर्गवाची शब्द[२२] है। परन्तु सामान्य अर्थों में कोश का तात्पर्य शब्दों के एक ऐसे संग्रह से है जिसमें उनके (शब्दों के) प्रचलित एवं शुद्ध रूप तथा अर्थ और व्याख्याएँ दी हुई हों।

कोश की ही भाँति 'कोशकार' भी दोनो रूपों में लिखा जाता है। 'शब्द कल्पद्रुम' में दोनो रूपों की व्युत्पत्ति सामान्यतः एक ही प्रकार से दी गई है।[२३] इसका अर्थ इक्षु, ऊख या कुसियार विशेष भी होता है।[२४] यह गुरु, शीत, रक्त, पित्त तथा क्षयनाशक है।[२५] कोशकार मूल व मध्य मे मधुर होता है।[२६] यह एक प्रकार का कीड़ा भी होता है जिसकी आकृति तथा कर्म रेशमी कीडे के ही सदृश होता है।[२७] यह एक जनपद विशेष भी था जहाँ पहले तन्तुकीट उत्पन्न होते थे।[२८] यह 'कोषकार' भूमि असम राज्य के उत्तर में स्थित चीन देश जैसी अनुमित होती है। टॉलेमी ने 'सेरिके' नाम से इसी भूभाग को अभिहित किया है। रामायण में भी उत्तरवर्ती जनपदो मे 'कोषकार' जनपद का उल्लेख[२९] मिलता है। परन्तु ये सभी प्रयोग गौण तथा अप्रचलित हैं। बहुप्रचलित, मुख्य तथा मूलभूत रूप से अर्थ सहित (या रहित) शब्दों का संग्रह करनेवाला या अभिधानकर्त्ता ही कोशकार है—'कोषं अर्थ सहित शब्द संयोजन रूपं ग्रन्थ विशेष करोति।'

कोश एवं शब्द का सम्बन्ध शरीर तथा आत्मा का सा है। अतएव शब्द के जन्म, विकास परिवर्तन वा परिवर्द्धन के साथ ही कोश के मूलभूत उपादान एवं सामान्य लक्षण विषयक धारणाएँ भी समय की अवधि के साथ-साथ परिवर्तित होती गई। अद्यावधि कोश में शब्द-संग्रह ही नहीं, उनका सम्यक् वर्ण-विन्यास, अर्थ, प्रयोग, पर्याय आदि[३०] का देना भी आवश्यक माना गया है।

'कोश' शब्द अंग्रेजी के 'डिक्शनरी' शब्द का समानार्थी है। 'डिक्शनरी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जॉन गारलैण्ड[३१] द्वारा सन् १२२५ ई०में 'शब्दों की एक सूची' (डिक्सनैरियस>डिक्शनरी) अर्थ में लैटिन शब्दों को कण्ठाग्र करने के लिए निर्मित एक पाण्डुलिपि के शीर्षक के लिए किया गया था जिसमें शब्द अकारादिक्रम में संयोजित न होकर वर्गानुसारी पद्धति में सङ्कलित थे।[३२] अंग्रेजी भाषा का दूसरा शब्द 'लेक्सिकन' भी 'डिक्शनरी' का ही पर्याय है[३३], यद्यपि बहुत से विद्वान् 'लेक्सिकन' को मृत भाषाओं यथा, पुरानी ग्रीक, हेब्रू या अरबी आदि का कोश कहना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।[३४]

संस्कृत तथा उसी के अनुकरण पर हिन्दी में 'कोश' के लिए नाममाला, माला, शब्दमाला, शब्दरत्नमाला, शब्दसिन्धु, शब्दार्णव, शब्दरत्नसमुच्चय, निघण्टु, अभिधानसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, वर्णरत्नाकर इत्यादि नाम व्यवहृत हुए हैं। फ़ारसी का 'लुग़त' शब्द भी कोश का ही द्योतक है। अंग्रेजी में 'डिक्शनरी' तथा 'लेक्सिकन' के अतिरिक्त ortus या hortus (वाटिका, यथा wynkyn de worde द्वारा रचित ortus vocabularium), promptorium (भाण्डार, यथा Galfridus Grammaticus द्वारा रचित promptorium Parvulorium, सन् १४४० ई०) और Alvearic (मधुमक्खी का छत्ता, जैसे John Baret द्वारा निर्मित Alvearie, सन् १५७३ ई०) शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

कोशों के कार्य

आधुनिक काल मे कोशो का कार्य केवल शब्द-संग्रह तक ही सीमित न रहकर प्राविधिक

एव अन्य इतर विषयो तक भी बढ गया है[३५] कोशो की वण्य विपय सम्बन्धी धारणाएं कालान्तर मे परिवर्द्धित होती गई मूल रूप से शब्दो का संग्रह मात्र तक उद्देश्य रखनेवाले कोशो का विषय क्षेत्र बढ़ता गया। शब्दों की उसी या किसी अन्य भाषा में व्याख्याएँ देना[३६] तो अत्यन्त आवश्यक कार्य माना ही गया, वर्तमान कोशों में किसी भाषा या उसके अङ्ग विशेष के भिन्न-भिन्न शब्दो का वर्णक्रम, उच्चारण, अर्थ, प्रयोग, निरुक्ति और व्याकरणिक रूपो का भी यथासम्भव निर्देश रहता है। विस्तृत कोशों में शब्द सम्बन्धी सूचना साहित्यिक उद्धरणों द्वारा भी पुष्ट की जाती है।[३७] मूल रूप से कोश 'शब्दावली का निर्माता'[३८] है परन्तु यथास्थान शब्दों से सम्बद्ध अनेकानेक सूचनाएँ भी इसमे संग्रहीत होती हैं। एक आदर्श कोश में उपर्युक्त तत्त्व ही नहीं, भाषा का इतिहास, शब्दो के पर्याय, संक्षिप्त रूप, विदेशी मुहावरे, गद्य या काव्य में प्रचलित प्रसिद्ध व्यक्तित्व, वेतार के तार सम्बन्धी चिह्न, नापतौल की तालिका, प्रत्यय और उपसर्गों का संग्रह, सामान्य बोलचाल या लेखों में मान्य व्यक्तियों को सम्बोधित करने की पद्धतियाँ, वर्तनी की कठिनाइयाँ[३९], जीवनी-कोश, भौगोलिक कोश, विशिष्ट चिह्न एवं सङ्केत, देश-विदेश का संविधान, तथा व्यापार और वाणिज्य विषयक शब्दावली[४०] का भी सङ्कलन रहता है। कोशों के विषय सम्बन्धी इस विस्तार के कारण लाक्षणिक अर्थों में 'ज्ञान के भण्डार'[४१] को 'कोश' नाम से अभिहित किया जाता है।

शब्दों की संग्रह-प्रणाली में भी कालान्तर में अनेकानेक परिवर्तन आते गये। अद्यावधि कोश मूलतः 'सन्दर्भ-ग्रन्थ'[४२] माने जाते हैं; अतएव इनमें सङ्कलित शब्दों को आसानी से ढूँढने के लिए[४३] अकारादि क्रम या किसी अन्य सुनिश्चित पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है।[४४] कुछ विद्वानो के मत के अनुसार कोशों को सन्दर्भ-ग्रन्थ बनाने के लिए अकारादि क्रम के अतिरिक्त अन्य कोई भी पद्धति सहनीय नहीं,[४५] फिर भी कोश विशेषों में अर्थ की उपयोगिता को देखते हुए वर्गात्मक शैली मे भी कोशों में शब्दों का सङ्कलन किया जाता है। समस्त भारतीय प्राचीन कोश प्रायः इसी पद्धति पर निर्मित हैं। यही नहीं, सुमेरियन और चीनी निश्चायक और वर्गीकर्त्ता की बात छोड भी दें, तो भारतीय क्षेत्र में ग्रीक भाषा में पॉलेक्स का कोश, पुरानी अंग्रेजी में एलाफ्रिक की शब्दावली, लैटिन पुरानी उच्च जर्मन में 'हेनरिसी सुमेरियन,' लैटिन कानिस में कोह्लोनियन शब्दावली इसी प्रकार के कोश हैं। वर्तमानकालीन प्रमुख यूरोपीय भाषाओं मे सादृश्मलक (एनॉलाजिकल), वैश्लेषिक (एनॉलिटिकल), सैद्धान्तिक (आइडियालॉजिकल), रीत्यात्मक (मेथाडिकल), सांश्लेषिक (सिन्थेटिक), विषयाङ्गी (टॉपिकल) एवं सर्वाधिक अनुकरण किया जाने वाला रॉजेट का 'थेसारस' विषयानुक्रम में वर्गीकृत है।[४६] अतएव दोषपूर्ण होते हुए भी यह पद्धति पूर्णतः बहिष्कृत करने योग्य नही है।[४७]

कोशों के प्रकार

विस्तृत अर्थों में यदि 'कोश' का तात्पर्य मुख्यतया अभिदेश या सन्दर्भ-ग्रन्थ से माना जाय तो कोशों के अनेक भेदोपभेद किये जा सकते हैं। 'निघण्टु' में वैदिक शब्दावली मात्र दी हुई है जिनकी व्याख्या यास्ककृत 'निरुक्त' में हुई। पाश्चात्य विद्वान् 'निघण्टु' शब्द को केवल वैदिक कोश का पर्याय मानते आये हैं[४८] परन्तु 'निघण्टु' शब्द परवर्ती कोशकारो द्वारा अपने कोशों के लिए प्रयुक्त हुआ है

और वैद्यक शब्दों के कोशों के लिये तो प्रायः 'निघण्टु' नाम ही दिया गया। 'नामकोश' (नेमेक्लेचर) में नामवाचक शब्दों अर्थात् जातिवाचक संज्ञाओं की ही प्रधानता रहती है। ऐसे कोशों में विशिष्ट नामों के अन्यान्य पर्यायवाची व उसी अर्थ या भाव के बोधक शब्दों का सङ्कलन एक स्थान पर रहता है। आजकल के नामकोशों में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।[४९] 'पर्यायिकी' (सिनॉनिमी) में एक-दूसरे के पर्याय माने जाने वाले शब्दों में अर्थ व प्रयोग सम्बन्धी पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर की विवेचना, शब्द का उचित-अनुचित प्रयोग तथा आवश्यकतानुसार विपर्याय भी निर्देशित कर दिये जाते हैं।[५०] किसी विषय से सम्बन्धित शब्दों का सीमित संख्या में व्याख्या रहित या आंशिक व्याख्या वाला क्षेत्र-विशेष में प्रयुक्त शब्दों का क्रमबद्ध सङ्कलन 'शब्दावली' (वाकेबुलेरी) कहलाता है।[५१] किसी कोश, लेखक, विभाषा या कला के आंशिक अङ्ग के कठिन, विदेशी, असाधारण, पारिभाषिक वा गत प्रयोग शब्दों की व्याख्या-सूची को 'शब्दार्थी' (ग्लॉसेरी) कहते हैं।[५२] 'शब्दार्थी' को 'व्याख्यात्मक शब्दावली' भी कहा जा सकता है।[५३]

किसी कृति या ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अपने पूर्वस्थान को इङ्गित करते हुए अकारादिक्रम नियोजन को 'अनुसूची' (इण्डेक्स) कहते हैं। प्रतिष्ठित रचनाओं में प्रयुक्त विदेशी शब्दों का पाठकों की भाषा में अकारादिक्रम से अनुवाद भी 'अनुसूची' में ही किया जाता है। यदि प्रत्येक शब्द के उसी शब्द युक्त मुहावरों को प्रसङ्गों में जोड़ा गया हो तो वह 'कॉनकॉर्डेन्स' कहलाता है।[५४] 'जीवनी कोश' में विभिन्न देशीय व्यक्तियों के व्यवसाय, चरित्र आदि वास्तविक, काल्पनिक, सामान्य एवं विशिष्ट दृष्टिकोण से अङ्कित होते हैं। भूगोलशास्त्र कोश 'भौगोलिकी' (गजेटियर) कहलाता है।[५५] इसमें समस्त विश्व, महाद्वीप, विशिष्ट देश, भूखण्ड, कस्बे, गाँव, गगनचुम्बी अट्टालिका, मठ, नगर, पर्वत तथा नदियों के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातें निर्देशित की जाती हैं। उन्नत देशों की सरकारें ऐसी 'भौगोलिकी' स्वयं निर्मित करवाती हैं जिनमें प्रत्येक नगर या बस्ती का प्राचीन इतिहास और उसके निवासियों, उद्योग-धन्धों आदि का विवेचन या परिचय रहता है। दर्शन, विज्ञान, गणित-शास्त्र, प्राकृतिक इतिहास, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिविज्ञान रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, धातुविज्ञान, भवननिर्माण कला, रङ्गसाजी, सङ्गीत, भैषज, शल्यचिकित्सा तथा शरीरविज्ञान, राजनीति, कूटनीति, विधि तथा सामाजिकशास्त्र, कृषि, ग्रामीण अर्थशास्त्र और बागबानी, वाणिज्य, समुद्री विज्ञान, घुड़साजी, युद्धकला और मशीन इत्यादि विषयों के विभिन्न कोश वर्तमान समय में निर्मित हो चुके हैं। प्राचीनकालीन विषयों इतिहास और घटनाक्रम, तिथि, वंशक्रम, कूटनीति-शास्त्र, संक्षेपीकरण, रसीद और यहाँ तक कि दूषित पदार्थों के मिश्रण जैसे विषयों तक के भी कोश अद्यावधि निर्मित हो चुके है।[५६] धातुकोश, मुहावराकोश, कहावतों तथा लोकोक्तियों जैसे विषयों के कोश, विभिन्न लेखक और कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के कोश—यथा 'प्रसाद कोश', 'तुलसी कोश', एवं 'सूर कोश'—भी निर्मित हो चुके हैं।

'पदावली' (फ्रेजियॉलाजी) किसी विशिष्ट वैज्ञानिक विषय के पारिभाषिक शब्दों तथा पदों की सूची होती है. जिसमें आवश्यकतानसार व्याख्याएँ भी दी जा सकती हैं; उदाहरणार्थ

* पदावली

कोश एवं विश्वकोश

'विश्वकोश' (एनसाइक्लोपीडिया) में विश्व के समस्त मुख्य-मुख्य विषय सम्बन्धी विस्तृत विवेचन करने वाले ऐसे सुदीर्घ निबन्ध या लेख होते हैं जिनसे विषय सम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यों का परिचय उपलब्ध हो सके। 'एनसाइक्लोपीडिया' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ ज्ञान की प्रत्येक शाखा के समस्त 'वृत्त' से होता था जिन तक प्राचीनों की उदार शिक्षा की पहुँच थी।[५७] विश्वकोश में 'उपकरणों का वर्णन' और शब्दकोश में 'शब्दों का विश्लेषण' ही प्रमुख ध्येय होता है। इनमें से प्रथम वस्तुओं का और द्वितीय शब्दों का कोश है।[५८] शब्दों की परिभाषा तथा वर्ण-परिवर्तन, रूपभेद, प्रयोग, स्वीकरण आदि शब्दकोश के विषय हैं, परन्तु वस्तुओं की प्रकृति और गुण, निर्माण-विधि, प्रयोग-विधि तथा शक्ति का विवरण देना विश्वकोश का विषय क्षेत्र है। इसमे कला और विज्ञान के प्रत्येक अङ्ग का सामान्य परिचय ही नहीं उनके सूक्ष्मतम एवं प्राविधिक रूप तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। 'शब्दकोश' में भी वस्तुओं के वर्णन रहते हैं, परन्तु ये वर्णन केवल सम्बन्धित शब्द का प्रयोग एवं सार्थकता के प्रतिपादन के लिये ही[५९] माध्यम रूप से रहते हैं; पुनः इसका क्षेत्र प्रायः समान और सीमित होता है। 'विश्वकोश' की शब्दावली अधिकांशतः संज्ञा तक ही सीमित होती है, उनमें वस्तुओं के नाम, विवरण एवं विधा या निर्माण-प्रक्रिया ही मुख्य अभिधेय होता है। आधुनिक कोशों में केवल संज्ञा ही नहीं, भाषा के सभी प्रचलित शब्द-भेद सङ्कलित रहते हैं। इसी दृष्टि-वैभिन्य के फलस्वरूप 'भाव', 'यदि', 'में', 'करना', जैसे शब्द केवल कोश में तथा 'फोटोग्राफी' एवं 'पुस्तक-बन्धन' (बुक-बाइण्डिङ्ग) जैसे विषय केवल विश्वकोश में ही मिलेंगे।[६०] 'न्यू इंग्लिश डिक्सनरी' जैसे अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी शब्दकोशों का सङ्कलन या सम्पादन एक व्यक्ति भी करता या कर सकता है, परन्तु एक विश्वकोश के लिये अपेक्षित ज्ञान की विशदता, व्यापकता एवं अनेकरूपता को देखते हुए अलग-अलग विषयों के लेख विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा ही लिखवाये जाते हैं।[६१] विश्वकोश-सम्पादन की आधुनिक प्रणाली के अनुसार विशेषज्ञों का एक दल सम्पादन तथा सङ्कलनकर्ता के रूप में नियुक्त किया जाता है। वस्तु-स्थिति यह है कि ऐतिहासिकों, वैज्ञानिकों, धर्मशास्त्रियों, विधिवेत्ताओं आदि विशेषज्ञों के दल के बिना विश्वकोश का सम्पादन करना अत्यन्त दुष्कर, यहाँ तक कि असम्भव है। विश्वकोश का प्राथमिक उद्देश्य ही तत्कालीन विशिष्ट ज्ञान को एकत्र कर इस प्रकार सँजोना है कि वह विशेषज्ञों को मान्य हो।[६२] चित्रात्मक निदर्शन, रेखाचित्र तथा कलात्मक आकृतियों का प्रयोग प्राचीन विश्वकोशों के समान सीमित न होकर अब पर्याप्त रूप से विस्तृत तथा परिष्कृत हो गया है।

कोशों की मौलिकता

कोशों का निर्माण करना एक मौलिक कला है या नहीं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। संस्कृत कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्कृष्ट कोशरत्न माना जाता है।[६३] संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार करने के लिये इस कोश का सम्यक् अध्ययन परमावश्यक है। परन्तु इस कोश-मणि की सङ्कलन प्रणाली भी अमरसिंह के प्रतिज्ञाश्लोक के अनुसार अन्य कोशों के समाहार' 'संक्षेप' तथा और द्वारा की गई

है।[६४] पूर्ववर्ती कोशों का पूर्णतः समाहार करने के फलस्वरूप ही प्रस्तुत कोश पर्याप्त मात्रा मे मान्य तथा समग्रतः पूर्ण समझा जाता है।[६५] अन्य 'तन्त्रों' के प्रति अमरसिंह पर्याप्त ऋणी थे। फिर भी उनके द्वारा स्पष्ट शब्दों में कृतज्ञता प्रदर्शित करने के बावजूद भी उन पर चोरी का आरोप लगाया गया है।[६६]

परन्तु कोश विषय की अन्तःस्थिति में प्रवेश करने के उपरान्त इस आरोप का निराकरण बहुत आसानी से हो सकता है। 'अमरकोश' ही क्यों संस्कृत के[६७] या किसी भी दूसरी भाषा के उत्तरोत्तर कोशों पर दृष्टिपात करें तो यह तथ्य स्पष्ट सामने आ जायेगा कि उत्तरवर्ती कोश सामान्यतः किसी पूर्ववर्ती कोश का परिष्कृत, परिवर्द्धित या संक्षिप्त रूप है। कई कोशो मे तो नाम, शीर्षक एवं आंशिक हेर-फेर के अलावा शेष कुछ भी नवीनता नहीं। इसीलिये यह भी उचित ही कहा गया है कि पारस्परिक निर्भरता भाषा-विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त है।[६८] यह उक्ति कोशों पर और भी अधिक मात्रा में लागू होती है।

सच बात तो यह है कि न तो शब्द और न अर्थ ही सङ्कलनकर्ता की अपनी निजी सम्पति होते हैं। परन्तु कोश में शब्द और अर्थ से भी अधिक उनकी नियोजन प्रणाली का महत्त्व है, जिसमें कोई भी कोशकार अपनी मौलिकता का उपयोग कर सकता है।[६९] निष्कर्ष यह है कि यद्यपि कोशों की निर्माण-पद्धति को हम साहित्य की अन्य विधा—उपन्यास, नाटक या काव्य—के समान एक मौलिक रचना नहीं कह सकते फिर भी इसमे मौलिकता दिखाने एवं अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करने का पर्याप्त क्षेत्र है।

कला अथवा विज्ञान

कोश-सम्पादन एक कला है अथवा विज्ञान यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। कला का अर्थ सामान्यतः उत्कृष्ट कलाओं से लिया जाता है जिनमें कल्पना का प्रमुख हाथ रहता है। कला विषयगत कम और विषयीगत अधिक होती है और यह विषयीगत माध्यम ही कला के लिये अधिक लाभदायक बताया गया है जिसके फलस्वरूप उत्कृष्ट कलाकृतियों की उद्भावना होती है।[७०] वैज्ञानिक विधि इससे भिन्न है। वह प्रयोग, पर्यवेक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, आंशिक कल्पना, निष्कर्ष, तुलना, वर्गीकरण आदि पर अधिक निर्भर रहती है। विकासात्मक, गणनात्मक तथा निगमन और आगमन शैलियों पर वैज्ञानिक अध्ययन अधिक आधारित रहता है।[७१]

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के पश्चात् जब हम कोशों की रचना-प्रणाली का अध्ययन करते है तो समस्या अधिक सुलझती नहीं दिखाई देती। एक शैली-विशेष पर निर्मित समानार्थी या अनेकार्थी कोशों की रचना-प्रक्रिया को 'कला' ही कहना अधिक उपयुक्त है। बाबू रामचन्द्र वर्मा कोशरचना का अन्तर्भाव कला में ही मानते हैं।[७२] परन्तु डॉ० हेमचन्द्र जोशी एवं डॉ० हरदेव बाहरी कोशरचना को एक विज्ञान कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। वास्तव मे यदि अंग्रेजी के सेन्चुरी, आक्सफ़ोर्ड या वेब्सटर्स कोशों या हिन्दी शब्दसागर जैसे कोशों की रचना-विधि का सम्यक् अध्ययन किया जाये, तो यह पद्धति कलात्मक कम तथा वैज्ञानिक अधिक प्रतीत होगी। अतएव आदर्श कोशों की रचना प्रक्रिया को 'कला' न कह कर 'विज्ञान' कहना ही औचित्य पूर्ण है।

कोश एवं अन्य साहित्योपाङ्गों का पारस्परिक सम्बन्ध

पिछले अनुच्छेदों में जैसा कि सङ्केत किया गया है, विस्तृत अर्थों में कोश समग्रतः ज्ञान के भण्डार को कहा जाता है। स्पष्ट है कि ज्ञान-भण्डार के इस शास्त्र का प्रत्येक अन्य विषय से कुछ न कुछ मात्रा में सम्बन्ध अवश्य होगा। यह सम्बन्ध वास्तव में किन दिशाओं में अधिक घनिष्ट और कहाँ धूमिल है यह निश्चित करना अत्यन्त दुष्कर है, फिर सन्दर्भ-ग्रन्थों के प्रतिनिधि आधुनिक कोशों का किस शास्त्र या विज्ञान से सम्बन्ध नहीं है यह बताना भी असम्भव ही है। तत्ववेत्ता इस तथ्य पर एक मत हैं कि कोई भी बौद्धिक क्रिया शब्दों के माध्यम बिना सम्पन्न नहीं हो सकती है। अतएव, ज्ञान की प्रत्येक शाखा के क्षेत्र में कोशों का पारस्परिक योगदान असन्दिग्ध है।[73]

कोश और इतिहास

राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के इतिहास से कोशों का सम्बन्ध होता है। आजकल के हिन्दी कोशों मे प्रचुर मात्रा में अरबी, फ़ारसी, तुर्की और अंग्रेजी के शब्द सङ्कलित रहते हैं जो हमारी पिछली आठ-नौ सौ वर्षों की दासता के परिचायक है। सस्कृत कोशों में 'विधवा' शब्द का अस्तित्व, तथा जिसकी पत्नी का देहान्त हो चुका हो, उस पुरुष के लिये किसी विशेष शब्द का अभाव सम्भवतः इस बात का सूचक है कि प्राचीन आर्यों के समाज में पत्नी के देहान्त पर पुनर्विवाह का अधिकार पुरुष ने अक्षुण्ण रक्खा था जो स्त्री को नहीं दिया गया था। इधर प्रथम व द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप नवीन आविष्कार व तद्विषयक शब्दावली का आधुनिक कोशों में सङ्कलन किया जाने लगा है। अंग्रेजी कोशों मे Black out, evacuation, fifth column, lend-lease, paratroops, underground movement आदि शब्द सङ्कलित किये जाने लगे है। प्राविधिक प्रगति के रेडार, साइक्लोट्रान, एटम और हाइड्रोजन बम, आइरन लंग्ज़, जीप, नाइलॉन, पेनिसिलिन् इत्यादि शब्द आज से एक सौ वर्ष पूर्व के कोशों में उपलब्ध न होंगे।[74]

कोश एवं समाजशास्त्र

समाज-विशेष के वक्ताओं को ध्यान में रखते हुए ही कोशों का निर्माण सामान्यतः किया जाता है। सामाजिक संस्थाओं, विचारों, परिपाटियों तथा धारणाओं को ठीक रूप से समझे बिना कोई भी कोशकार अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। मिर्ज़ा खाँ ने अपने 'तुह्फ़तुल्हिन्द' मे इस प्रकार की शब्दावली और पद्धतियों का पर्याप्त संग्रह और विवेचन किया है जो भारतीय समाज एवं संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। 'ऊँट' और 'रेत' तथा 'डूँगर' शब्द डिंगल कोशों में ही क्यों सङ्कलित किये गये हैं और अन्य में नहीं, यह प्रश्न कोश और समाजशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कर देता है।

कोश तथा मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का शब्दो के अर्थ इत्यादि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है शब्दो का ९

प्रयोग आदि विषय मनोविज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं कोशों मे इन अर्थों का उचित मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में देना परम आवश्यक होता है।

कोश और काव्य

मम्मट तथा भामह ने अर्थ सहित शब्द को ही काव्य माना है।[८५] शब्द एवं उनके अनेकानेक प्रचलित अर्थों के लिये कोश की उपादेयता असन्दिग्ध है। संस्कृत तथा अनेक हिन्दी कोश मूलतः कवियों तथा काव्य प्रेमियों के उपयोगार्थ निर्मित किये गये थे। अनेकार्थी और पर्यायकोशों का मुख्य ध्येय तो श्लेष व उपमाप्रिय काव्यकारों की ही सहायता करना था। इन कोशों की शब्दावली भी प्रायः काव्यों में ही प्रचलित हैं। अधिकांश कोशकार स्वयं कवि भी थे और उन्होंने इन कोशों को छन्द में रचकर छन्दशास्त्र के ज्ञान का भी अच्छा परिचय दिया। 'ऑक्सफोर्ड' या 'शब्दसागर' जैसे कोशों में अनेक कवियों की रचनाएँ उद्धरण रूप मे दी गई हैं।

कोश तथा भाषाविज्ञान

किसी भी भाषा के विकासक्रम को उचित रूप से समझने के लिये उस भाषा के बहुत बड़े शब्द-समूह पर कई दृष्टियों से विचार करना आवश्यक हो जाता है। शब्दों के रूप में कब और कैसे परिवर्तन हुए, इनका अध्ययन करने के लिये समय-समय पर होने वाले शब्दों के रूप-भेद की पूरी जाँच करनी होती है; तभी शब्दों के रूप-परिवर्तन में बरते जाने वाले नियमो का भी स्पष्टीकरण हो पाता है। इस क्षेत्र में ऐतिहासिक क्रम में निर्मित कोश बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। किसी भाषा के शब्दकोश को उठा कर अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से अध्ययन करना भी भाषा-विज्ञान के ही अन्तर्गत समझना चाहिये।[८६]

भाषा का ऐतिहासिक उद्भव प्रस्तुत करना भी कोशों के मुख्य कार्यों में से है। बिना शब्दों की उत्पत्ति, उनका रूपात्मक एवं प्राविधिक प्रयोग के कारण रूप-परिवर्तन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किये कोई भी शब्दकोश अपने कर्त्तव्य का उचित पालन नहीं कर सकता।

प्रत्येक शब्द में अन्तर्निहित भाव का एक-दूसरे भाव से सम्बन्ध होता है। अर्थविज्ञान एक शब्द के विभिन्न भावों का ऐतिहासिक सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। एक सामान्य कोश मे वे सभी भाव या अर्थ एक क्रमहीन अवस्था में सङ्कलित किये जाते है, परन्तु सुदृढ़ वैज्ञानिक पद्धतियो पर आधारित ऐतिहासिक कोश में ये विभिन्न अर्थ शुद्ध ऐतिहासिक क्रम में नियोजित रहते है। अर्थविज्ञान के सम्यक् अध्ययन बिना आदर्शकोशकार उचित रूप से कार्य नही कर सकता।[८७] कोश-विज्ञान केवल शब्दों का जन्म बताने वाले व्युत्पत्ति-शास्त्र मात्र पर निर्भर नहीं रह सकता। परवर्ती काल में शब्दों के अर्थ परिवर्तित होते रहते हैं और इन परवर्ती अर्थों का विकासानुक्रम अर्थ-विज्ञान की सहायता से ही बताया जा सकता है। अनेकार्थी शब्दों को केवल व्युत्पत्तिशास्त्र की सहायता मात्र से नहीं समझाया जा सकता। इसके अतिरिक्त अर्थ-क्रम के सम्बन्ध में भी निरुक्त अधिक सहायक नही। इन सभी दिशाओं में अर्थविज्ञान ही एकमात्र पथ-प्रदर्शक है और पर्यायों के के लिये तो अर्थविज्ञान निःसन्देह शास्त्र है[८८]

कोश एवं व्याकरण

इन दोनों शास्त्रों का पारस्परिक अन्योन्य सम्बन्ध अनादि काल से ही चला आ रहा है। इन दो शास्त्रों के द्वारा उपयुक्त शब्द-भण्डार की सृष्टि तथा उसके चयन एवं समीचीन प्रयोग की शक्ति आती है। अतएव कोश एवं व्याकरण का अध्ययन साथ-साथ ही किया जाता था और उस अध्ययन बिना मानव 'अन्धा' और 'बहरा' समझा जाना था।[७९]

व्याकरण, सत्य और असत्य तथा साधु और असाधु का विवेचन करता है।[८०] विस्तृत अर्थ मे द्रव्य और आकृति, जाति और व्यक्ति, सत् और असत्, भाव और अभाव, प्रकृति और प्रत्यय, उपसर्ग और अपवाद, सामान्य और विशेष, स्फोट और ध्वनि, सन्धि और विग्रह, समास और व्यास, समष्टि और व्यष्टि, पदार्थ और वाक्यार्थ आदि का विवेचन और विश्लेषण व्याकरण करता है।[८१]

जब हम इन दोनों शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते है तो एक विभाजक रेखा स्पष्ट हो जाती है। अंग्रेजी भाषाशास्त्री स्वीट के मतानुसार व्याकरण 'सामान्य तथ्य' और कोश 'विशिष्ट तथ्यों' का प्रतिपादन करता है।[८२] 'दास' शब्द में 'ता' या 'त्व' जोड़ने से भाववाचक संज्ञा 'दासता' या 'दासत्व' बनता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है जिसको इसी प्रकार के अन्य शब्दों पर भी लागू किया जा सकता है। यह व्याकरण का विषय है। परन्तु 'दास' शब्द विशेष एक पुल्लिङ्ग संज्ञा है जिसका अर्थ सेवक, नौकर या भृत्य होता है, यह एक विशिष्ट तथ्य है जिसका अङ्कन करना कोश का ही कार्य होता है।

व्याकरण में शब्दों के रूप एवं शुद्धाशुद्ध सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण रहता है। उसमें प्रत्येक शब्द का अलग-अलग शब्द-भेद नहीं बताया जा सकता। वहाँ शब्द-भेदों के सम्बन्ध मे मूल नियम मात्र का अङ्कन कर उदाहरण स्वरूप थोड़े से शब्द दे दिये जाते हैं। प्रत्येक शब्द का ठीक शब्द-भेद निर्देशित करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व तो आधुनिक कोशकार पर ही मुख्यतः होता है।[८३] इसके अतिरिक्त अर्थ का अनुशासन केवल कोशों में होता है, व्याकरण मे नहीं।

व्याकरण और कोश की पारस्परिक प्रामाणिकता का प्रश्न भी विचारणीय है। व्याकरण से कोश के विरोध होने पर कोश प्रामाण्य को ही कुछ व्याख्याकार अधिक बलवान समझते हैं। जिस शब्द की सिद्धि किसी भी शब्द-शास्त्रीय वचन से नहीं होती, उसका साधुत्व केवल कोश-बल से ही अभ्युपगत होता है। अकारान्त 'मरुत' शब्द इसका एक उदाहरण है। किसी भी व्याकरण के उणादि सूत्रों से इसकी सिद्धि नहीं होती, पर इसको साधु माना जाता रहा है, क्योंकि 'विक्रमादित्य कोश' में इसका पाठ है—"मरुतः स्पर्शनः प्राणः समीरो मारुतो मरुत्"। जब तक इस कोशवचन का ज्ञान न था तब तक 'मरुत' शब्द को असाधु माना जाता था और वह मनो-भाव इतना प्रबल था कि कविराज कृत मरुत-शब्द-घटित एक श्लोक का पाठान्तर भी प्रचलित हो गया था, पर पूर्वोक्त कोश से ज्ञात होता है कि यह धारणा भ्रान्त है।[८४]

कोशों का महत्त्व

हमारे शास्त्रों ने शब्द को ही साक्षात ब्रह्म कहा है शब्द अथवा ८ नाद

के रूप में प्राणियों ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। पतञ्जलि श्रुतिवचन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि एक शब्द का ठीक-ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधि-विधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है। उसी के ज्ञान और प्रयोग से अर्थ-ज्ञान और अर्थ-सिद्धि होती है।[५] ऋग्वेद में शब्द-तत्त्व को हरि अर्थात् विष्णु बताते हुए कहा गया है कि वह सहस्रों धाराओंवाला है और उन सहस्रों धाराओं (भाषा, उपभाषाओं) से वह सिक्त होता रहता है, अर्थात् समृद्ध किया जाता है। वह वाक्तत्त्व को पवित्र करता रहता है।[६] यजुर्वेद में वाक्तत्त्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार वाक्तत्त्व समुद्र है, अर्थात् समुद्रवत् अक्षयभण्डार, अगाध और दुर्बोध है। वह सर्वव्यापक है, वह अनादि और अक्षर है, वह एक तत्त्व है। वह ऐन्द्र अर्थात् इन्द्र शक्ति से सम्पन्न है। वह सदस् और आधारभूत है, और उसके कारण मनुष्य में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता आदि की स्थिति है। वह देवयानमार्ग, राजयोगमार्ग एवं सन्मार्ग पर चलानेवालों के मार्ग का रक्षक तथा विघ्ननिवारक है।[७] यह वाक्तत्त्व ही है जिसके आश्रय से सारा संसार मनन करता है और जिसकी सत्ता से मनन शक्ति की सत्ता है।[८]

मानव-जीवन मे शब्द तथा उसके अवबोधन एवं अनुभूति की महत्ता तथा उपयोगिता की कल्पना सहज ही की जा सकती है। पशु तथा मानव, बर्बरता और सभ्यता में अन्तर लानेवाले व्यक्त, व्युत्पन्न और सार्थक शब्द ही हैं। इसीलिये हमारे आचार्यों ने कहा है कि यदि एक भी वर्ण, एक भी शब्द सम्यक् ज्ञात तथा सुप्रयुक्त हुआ तो इहलोक तथा परलोक में मनोवाञ्छित फल देने वाला होता है।

शब्दों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी देने के लिये 'कोश' ही एक मात्र एवं अत्याज्य साधन है।[९] कोई भी बौद्धिक कार्य शब्दों के माध्यम बिना असम्भव है और उससे भी अधिक असम्भव है कोश या व्याकरण के बिना शब्दों का उचित ज्ञान प्राप्त करना।

ऑग्डन ने अपनी पुस्तक 'मीनिङ्ग आव मीनिङ्ग' में उचित ही कहा है कि ग़लतफ़हमी या शब्दों का ठीक अर्थ न समझना ही विश्वव्यापक युद्धों का कारण रहा है।[१०] रॉजेट ने भी शब्दो का उचित अर्थ, भाव, प्रयोग वा रूप न समझने का यही भयङ्कर दुष्परिणाम बताया है।[११] इन विध्वंसकारी कृत्यों का एक मात्र निराकरण शब्दों के ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, जो शब्द-कोशों के उचित अध्ययन द्वारा सुगमता से प्राप्त हो सकता है।

किसी भी भाषा के शब्दकोश उसके साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति में वही स्थान रखते है जो किसी राज्य की उन्नति और विकास मे उसका आर्थिक विभाग रखता है। जिस प्रकार किसी राज्य की सुदृढ़ता, उसके प्रत्येक विभाग की स्वास्थ्यपूर्ण प्रगति, शक्ति और आधार बहुत कुछ उसके आर्थिक कोश की अवस्था पर अवलम्बित है, उसी प्रकार किसी भाषा का विकास और निर्माण, उसके समस्त अङ्गों की ताजगी, सुडौलपन, स्थिरता और विस्तार बहुत कुछ उसके शब्द-भण्डारों या शब्दकोशों पर ही निर्भर करता है। किसी भाषा की वास्तविक स्थिति और उन्नति जितनी पूर्णता से एक शब्दकोश में प्रतिबिम्बित होती है, उतनी भाषा के किसी अन्य क्षेत्र में नहीं। समस्त प्रकाशमय ज्ञान शब्दरूप ही है और किसी भाषा के समस्त शब्दो के रूप का परिचय उसके कोशो द्वारा ही मिलता है इसीलिये किसी भाषा के स्वरूप

र जितनी सुगमता से एक कोश द्वारा हो सकता है उतना किसी अन्य साधन द्वारा

कोश विचार-शक्ति को संकुचित सीमा से उठा कर विकासमयी विस्तीर्ण धरातल पर ल करने का भी सुदृढ़ माध्यम हैं। विशेषकर द्विभाषीय या बहुभाषीय कोशों ने इस क्षेत्र न्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसीलिये आज कोशों की स्थिति स्थानिक, प्रान्तीय या एक न होकर अन्ताराष्ट्रीय स्तर पर पहुँच गई है।[१०]

-सङ्केत :—

१. 'कोशो मूर्द्धन्यान्तः तालव्यान्त इत्यन्ये'—हलायुधकोश, पृ० २५०। २. शब्द-कल्पद्रुम, द्वितीय खण्ड, प्रथम भाग, पृ० २०५। ३. वही, पृ० २०५

४. पात्र पेसी दिव्य कलिका म्यान धन समुदाय।
जातिकोश र वादि संग्रह आठ कोष गनाय॥
—नाम प्रकाश (भिखारीदास), पृ० ३५४।

५. 'कोश कहत भंडार कुंकलेश मेटन पक्ष'—अनेकार्थ कोश (विनयसागर) छन्द।१४०। ६. 'कोष कृपा शोपान ज्या कोष शास्त्र भंडार'—अनेकार्थ कोश (चन्दनराम), पृ० २६।

७. ततो निक्षिप्य चरणं रक्ताक्ते मेषचर्मणि।
कोषं चक्रतुरन्योऽन्यं सखड्गौ नृपडामरौ॥—राजतरङ्गिणी ५।३३५

८. हेमीकोश। ९. 'कोषो बलञ्चापहृतं तत्रापि स्वपुरे ततः'—मार्कण्डेयपुराण देवी माहात्म्य।

१०. कोशोऽस्त्री कुड्मलेऽर्थौघे गुह्योऽण्डे शास्त्रदिव्ययोः
गृहे देहे पुस्तकौघे पेश्यामसि पिधानके।—नानार्थरत्नमाला, पृ० ५७

११. 'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते' —अमरकोश, २।९।९१।

१२. 'अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्व्व विकार कोशः' —भागवत, २।१।३४

१३. 'बीजकोस जामें कमल गट्टा रहे हैं' —कर्णाभरण कोश, पत्र २१ पीठ।

१४. तिरश्चकार भ्रमणाभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥—रघुवंश ३।८

१५. कोशोऽस्त्री मुकुले दिव्ये शस्त्रार्थौघे गृहे तिथौ।
शिश्ने जातिफले खड्गपिधाने योनि वित्तयोः॥—नानार्थमंजरी (राघवकृत)

१६. कोशो दिव्ये वने पेश्यां परिवारे च कुड्मले।
जातीकोषे धनागरे चषके योनि शम्बयो॥—अनेकार्थतिलक २।५५ (महिपकृत)

१७. वही, ६।५। १८. रघुवंश, ५।१। १९. मेदिनीकोश। २०. विवेक चूडामणि।

२१. कोषो दिव्य धनेऽपि स्यात् कुडमलासिपिधानयोः
कोष शब्दस्य सग्रह पृ० ६४

२२ रामचन्द्र वर्मा पृ० ७१। २३ खण्ड २ भाग १ पृ० २०५-२०६। २४. शब्दरत्नावली। २५. राजवल्लभ। २६. भावप्रकाश। २७. सुश्रुत। २८. महाभारत, १२।३२२।२९। २९. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड ४०।३३। ३०. देखिये, 'बृहत् हिन्दी-कोश' में 'कोश' शब्द। ३१. नेल्सन्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड ३, पृ० २०८। ३२. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, १४वाँ संस्करण, खण्ड ७, पृ० ३३८। ३३. वही, ११वाँ संस्करण, खण्ड १५, पृ० ५२६। ३४. साइक्लोपीडिक डिक्शनरी, खण्ड ३, पृ० ३२। ३५. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड ९, पृ० ८८। ३६. नेल्सन्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड ३, पृ० २०८। ३७. ए न्यू इङ्गलिश डिक्शनरी ऑन् हिस्टारिकल प्रिन्सिपल्स, खण्ड ३, पृ० ३३१। ३८. हाट्रूम्पिस वाकेबुलेरीज, भूमिका, पृ० ७। ३९. दि वेस्टमिनिस्टर डिक्शनरी, पृ० ११४७-१२०३। ४०. वेब्स्टर्स ट्वेंटियथ सेञ्चुरी डिक्शनरी, सप्लीमेण्ट, पृ० १-१५७। ४१. ए न्यू इङ्गलिश डिक्शनरी ऑन् हिस्टारिकल प्रिन्सिपल्स, खण्ड ३, पृ० ३३१। ४२. वही, पृ० ३३१। ४३. नेलसन्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड ३, पृ० २०८। ४४. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ११वाँ संस्करण, खण्ड ८, पृ० १८६। ४५. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड ९, पृ० ८७। ४६. डालिङ्ग बक् : ए डिक्शनरी ऑव् सेलेक्टेड सिनानिम्ज इन दि प्रिन्सिपल इण्डोयूरोपियन लैंग्वेजेज, भूमिका, पृ० १२। ४७. 'यातयामो जीर्णे भुक्तोच्छिष्टेऽपि च इति निघण्टौ' पाठ पर मैकडॉनल ने लिखा है 'Not in Yaska's Naghantu' परन्तु यह उक्ति वैजयन्ती कोश में उपलब्ध है। ४८. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी पर्यायवाची कोश (श्रीकृष्ण शुक्ल कृत), भूमिका। ४९. क्रैब : इंग्लिश सिनानिम्ज (दे० 'सिनानिम' शब्द)। ५०. रामचन्द्र वर्मा : शब्दसाधना, पृ० ७१। ५१. एनसाइक्लोपीडिया डिक्शनरी, खण्ड, ३, पृ० ३२। ५२. चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया खण्ड ४, पृ० ४९९। ५३. एनसाइक्लोपीडिया डिक्शनरी, खण्ड ३, पृ० ३२। ५४. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ११वाँ संस्करण, खण्ड ८, पृ० १८६। ५५. सेंचुरी डिक्शनरी में देखिये 'डिक्शनरी' शब्द। ५६. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (११वाँ संस्करण), खण्ड ८, पृ० १८६। ५७. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड १०, पृ० ३१६। ५८. चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड ४, पृ० ४९९। ५९. एनसाइक्लोपीडिया डिक्शनरी, खण्ड ३, पृ० ३२। ६०. ए न्यू इंग्लिश डिक्शनरी ऑन् हिस्टॉरिकल प्रिन्सिपल्स, खण्ड १-२, भूमिका। ६१. क्रैब : इंग्लिश सिनानिम। ६२. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड १०, पृ० ३१७। ६३. डॉ० राघवन : अमरमण्डन, भूमिका, पृ० १६। ६४. अमरकोश १।१।२। ६५. सर्वानन्द-अमरकोश टीका, प्रथम भाग, पृ० २-४। ६६. अमरसिंहस्तु पापीयान् सर्वभाष्यमचूचुरत् (लोकप्रचलित)। ६७. रामावतार शर्मा : कल्पद्रुमकोश (केशवकृत), भूमिका, पृ० ४-५३। ६८. राबर्ट कालिन्स : डिक्शनरीज ऑव् फॉरेन लैंग्वेजेज, भूमिका, पृ० १६। ६९. मोनियर विलियम्स : संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी, भूमिका, पृ० ५। ७०. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खण्ड २, पृ० ३३६; ४४०-४४२। ७१. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, १४वाँ संस्करण, खण्ड २०, पृ० १२५-१३१ पर 'दि मेथेडस' लेख ७२ वर्मा कोश कला पृ० २३ ७३ पी० एम०

राजेट दि इण्टरनेशनल थेसारस भूमिका पृ० ९ ७४ डॉ० पाल सी० बग ए डिक्शनरी आव न्यू वर्ड्स भूमिका, पृ० ११। ७५. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि मम्मट, काव्यप्रकाश। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'—भामह। ७६. डॉ० बाबूराम सक्सेना: सामान्य भाषाविज्ञान, पृ० २९। ७७. पतञ्जलि: महाभाष्य १, पृ० ६। ७८. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी सिमेन्टिक्स, भूमिका, पृष्ठ ९। ७९. 'अवैयाकरणस्त्वन्धो बाधिर: कोषवर्जितः' (लोक प्रचलित)। ८०. 'साधुत्व ज्ञान विषया सैषा व्याकरणस्मृतिः'—वाक्य पदीय। ८१. डॉ० कपिलदेव आचार्य: अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन, पृ० २३। ८२. ऑट्टो जेस्पर्सन: दि फ़िलासफ़ी ऑव ग्रामर, पृ० ३१, ३३। ८३. रामचन्द्र वर्मा: कोश कला, पृ० ८७। ८४. रामशङ्कर भट्टाचार्य : संस्कृत भाषा में कोष प्रामाण्य, हिन्दी अनुशीलन, पौष-फाल्गुन २०१०, पृ० २१-२६। ८५. पतञ्जलि महाभाष्य, ६।१।८४। ८६ ऋग्वेद ९।८६।३३। ८७. यजुर्वेद ५।३३। ८८. शतपथ ८।१।२७। ८९. डा० रॉस टेलर: हार्द्रुम्फिस वाकेबुलेरी, भूमिका, पृ० ।७। ९०. ऑग्डन और लिचार्ड्स: दी मीनिङ्ग ऑव मीनिङ्ग। ९१.० रॉजेटस् पॉकेट थेसारेस (१९५२), पृ० ६। ९२. कॉलिसन : ए डिक्सनेरी ऑव फ़ॉरेन लेंग्वेजेज, भूमिका पृ० १४, १८।

सौन्दर्य तत्व — एक विवेचना दृष्टि

• लक्ष्मीकान्त वर्मा

जो है और जो हमारी रुचि को तुष्ट करता है, उन दोनों से सम्बद्ध होकर ही सौन्दर्य की भावना और उसकी अनुभूति संश्लिष्ट होती है। जो है वह वस्तु सत्य है और जो हमारी रुचि को तुष्ट करता है वह सत्य के साथ-साथ साक्षात् सत्य भी है। वस्तुसत्य जब हमारी अनुभूति से सम्बद्ध होकर हमारे रूप-दर्शन और भाव-स्पन्दन को कुछ नये सार्थक अर्थों से जोड़ता है और हम यह अनुभव करने लगते हैं कि उस अद्वितीय अनुभूति ने कहीं हमें पूर्ण होने में सहायता पहुँचाई है तो वह स्थिति एक विशेष स्थिति होती है और वह विशेष स्थिति सौन्दर्य-बोध की स्थिति उस समय हो जाती है जब हम अपने को तुष्ट अनुभव करने लगते हैं।

स्पष्टतः सौन्दर्यानुभूति वह स्थिति है जब हम किसी वस्तु-सत्य की सापेक्षता में अद्वितीयता का अनुभव करते हैं और वह अद्वितीयता हमारे ऐन्द्रिक बोध से उठकर अभिरुचि को परिष्कृत करके तुष्टि का बोध करा देती है। कुछ भी कहने के पहले आवश्यक है कि हम यह जाने कि अद्वितीयता का अनुभव क्या है? अभिरुचि का अर्थ क्या है? तुष्टि का वास्तविक अर्थ क्या है और इसी के साथ-साथ यह कि पूर्णता का वास्तविक सन्दर्भ क्या है? क्यों हमें अमुक भावस्थिति अधिक उद्वेलित करती है और क्यों शेष स्थितियाँ हमारी चेतना को छूती तक नहीं? लेकिन इन सब प्रश्नों से भी बढ़कर प्रश्न है सौन्दर्य है क्या? बिना यह जाने शायद अद्वितीयता का अर्थ, तुष्टि का बोध, अभिरुचि की समस्या, पूर्णता का मर्म और इसी प्रकार अन्य तत्त्वों का विवेचन कर सकना ही असम्भव है।

फिर प्रश्न उठता है सौन्दर्य क्या है?

जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, सौन्दर्य किसी भी वस्तु के आन्तरिक और वाह्य स्थापत्य का साक्षात्कार है। जब हम किसी भी वस्तु के आन्तरिक गठन तथा उसके संयोजन-तत्त्वों के सामञ्जस्य का साक्षात्कार करते हैं तभी हमें वह वस्तु सुन्दर लगती है। इस आन्तरिक गठन की अनुभूति के साथ-साथ उसकी संयोजन-विधि का भी बोध हमें होता है। वस्तुतः आन्तरिक गठन का बोध उसी संयोजन विधि का ज्ञान है, व्यवस्था का अन्वेषण है, नये सन्दर्भों की सार्थकता है। निश्चय ही सौन्दर्यानुभूति एक नये प्रकार की अनुभूति होती है। नये के साथ-साथ वह विशिष्ट एवं अद्वितीय भी होती है। सौन्दर्य का अनुभव निश्चय ही ऐन्द्रिक बोध से होता है किन्तु वह भाव ऐन्द्रिक बोध तक सीमित नहीं रह जाता है। सौन्दर्य का वास्तविक अनुभव तभी होता है जब ऐन्द्रिक

अनुभव परिष्कृत होकर बाह्य और आंतरिक गठन के साम्य का साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार वह स्थिति होता है जिसमे हमारी समस्त चेतना शक्ति एक साथ समग्र ऐन्द्रिक बोध को एक साकार रूप में सम्पूर्ण अवयव, रूप, सन्तुलन, सामञ्जस्य और संयोजन की दृष्टि से सम्प्रेषित होती है। दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य-बोध सदैव समग्रता के बोध से सम्बद्ध होता है। किन्तु यह समग्रता का तत्त्व कलाकार अपनी प्रज्ञाशक्ति और आत्मान्वेषण से ही प्राप्त करता है। गुलाब का फूल हम रोज देखते है लेकिन रोज का गुलाब मात्र हमारे ऐन्द्रिक बोध की वस्तु बन कर रह जाता है। इस ऐन्द्रिक बोध से ऊपर उठकर जब वह हमारे अपने जीवन की सङ्गतियों, असङ्गतियों, आत्मिक संवेदनाओं और सम्भावनाओं के सन्दर्भ से जुड़ता है तो वह गुलाब रोज का गुलाब न होकर एक प्रकार का विशिष्ट गुलाब हो जाता है जो प्रतीक, बिम्ब, मूर्त, अमूर्त बनकर हमें नये अर्थों, नये सन्दर्भों की ओर अग्रसर करता है। इसी सन्दर्भ में सौन्दर्य तथ्यात्मक न होकर अन्वेषणात्मक सत्य के रूप में प्रस्फुटित होता है। सौन्दर्य इस दृष्टि से तथ्यात्मक जड़ता से सत्यप्रधान गतिशीलता में व्यक्त होता है। इसीलिये सौन्दर्य का सत्य कलाकार का आत्मपरक सत्य होता है।

प्रश्न उठ सकता है कि क्या सौन्दर्य-बोध संयोजन की वस्तु है? बहुत-सी सुन्दर वस्तुएँ है जो ऐन्द्रिक बोध के स्तर पर अस्तित्व नहीं रखती है। फिर भी वे हैं, उनका अस्तित्व है तथा योग और संयोजन के विना भी वे हो सकती है। क्या जब तक वे ऐन्द्रिक बोध के स्तर से उठ कर आत्मपरक सत्य की परिणति तक न पहुँचे तब तक वे सुन्दर नहीं मानी जायँगी?

जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, शायद ऐसे सौन्दर्य का अस्तित्व जब तक अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर व्यक्त नहीं होता तब तक उसका महत्त्व स्वीकार करना केवल सूचनात्मक सत्य है। पिरामिड एक वस्तु है; बहुत से लोग उसके दर्शन कर आते हैं; फिर, भी उसके सौन्दर्य के तत्त्व को नहीं पहचान पाते। एक कवि, जिसने उस पिरामिड को देखा नहीं है लेकिन उसके तथ्यात्मक सत्य से परिचित होने के नाते उसे प्रतीक या बिम्ब के रूप में अपनी किसी रचना में प्रस्तुत करता है और अनुभूति के स्तर पर उस पिरामिड को एक सर्वथा नयी और व्यक्तिगत सङ्गति देकर ऐसा रूप देता है कि पिरामिड का साक्षात्कार हमें अद्वितीय रूप मे हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस कवि द्वारा व्यक्त पिरामिड सौन्दर्यानुभूति के लिये पर्याप्त है। वह कमल जिसके विषय में कवि या कलाकार की जानकारी है यदि उसकी अनुभूति के स्तर पर नही अवतरित होता तो मात्र सुन्दर होने के नाते ही वह हमारे लिये महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। सौन्दर्य का बोध अनुभूत सत्य का साक्षात्कार है। बिना इस आधार के वह शायद तथ्य ही रह जाता है—ऐसा तथ्य जिसके होने या न होने का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

इसी तथ्य को प्रमाणित करने के लिये हम एक दूसरी स्थिति लेते हैं। पाल गागाँ फ्रान्स मे बहुत दिनों तक रहा और फ्रान्स जैसी जगह में उसे वह सौन्दर्य नहीं मिला जिसे वह आदिम जाति की स्त्रियों के बीच उनकी काली आकृतियों में पा सका। पाल गागाँ के आदिम जाति की उन स्त्रियों के अनेक चित्रों को जब हम देखते हैं तो उनकी क्यों प्रशंसा करते है और यह मानते हैं कि वे चित्र अधिक सुन्दर हैं? शायद मात्र इसलिये कि पाल गागाँ के उन चित्रों में रङ्ग-रेखाओं के अतिरिक्त उन रूपों के माध्यम से   के नये अनुभूत सत्यों का   हम कर लेते हैं।

इसलिये पेरिस की सर्वमान्य प्रतिष्ठित सुन्दरता पाल गागाँ के लिये ऐन्द्रिक बोध के स्तर पर केवल सूचनात्मक बोध तक सीमित रह गई और आदिवासियों की आकृतियाँ उसकी अनुभूत सत्य बनकर एक नयी व्यवस्था, संवेदना और अद्वितीय अनुभूति के रूप में व्यक्त हो सकीं। सौन्दर्य, इसीलिये अपने में कोई अर्थ नहीं रखता है। कला की दृष्टि से वही सुन्दर है जो कलाकार की संवेदनशील अनुभूति सत्य के माध्यम से सौन्दर्याभिव्यक्ति बन सके।

फिर, क्या सौन्दर्य केवल वह है जिसका अनुभव कलाकार ही कर सकता है? वस्तुत कलाकार सौन्दर्य के अनुभव की प्रक्रिया में अपने ऐन्द्रिक बोध को नयी व्यवस्था देता है और यह व्यवस्था ही किसी भी वस्तु को सुन्दर बनाती है, किसी भी अनुभूति को सार्थकता प्रदान करती है। सौन्दर्य इसी व्यवस्था का उपलब्ध ज्ञान है। कलाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में, अपनी अभिव्यक्ति और संवेदनशीलता में सदैव इसी व्यवस्था के प्रति अन्वेषणशील रहता है। वह वस्तु सत्य या तथ्य सत्य से इसी व्यवस्था की समस्या को लेकर टकराता है और उसे नयी व्यवस्था देना चाहता है। रङ्ग तो कुछ सीमित ही संख्या में है किन्तु चित्र हमें असंख्य देखने को मिलते है। उन असंख्य चित्रों में हमें सुन्दर वही लगता है जिसमें कलाकार वस्तु सत्य या तथ्य सत्य को नयी व्यवस्था देकर प्रस्तुत करता है। कवि इसी व्यवस्था को शब्दों के संयोजन से व्यक्त करता है, चित्रकार रङ्गों और रेखाओं के माध्यम से व्यक्त करता है, मूर्तिकार अवयवों के उभार और उतार-चढ़ाव से व्यक्त करता है और तभी वह सार्थक हो पाता है।

तो क्या ऐन्द्रिक बोध की व्यवस्था ही सौन्दर्य है?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मात्र व्यवस्था शायद कला में सौन्दर्य को प्रतिष्ठित नहीं कर पाता। उसे अद्वितीय भी होना पड़ेगा। सौन्दर्य में व्यवस्था का तत्व तो होता ही है, साथ ही वह कलाकार की अद्वितीय अनुभूति की अभिव्यक्ति होने के नाते अद्वितीय भी होता है। सौन्दर्य यदि अद्वितीयता का बोध नहीं कराता तो वह रूढ़ि या पैटर्न ही बन कर रह जाता है। साथ ही इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी वस्तु अपने ही में सुन्दर नहीं है, सौन्दर्य उसके आन्तरिक गठन और उस गठन के साथ-साथ नयी व्यवस्था की दृष्टि में है।

प्रचलित अर्थों में सौन्दर्य प्रायः गुणात्मक बोध या स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर व्यवहृत होता है। कला मे जब गुणात्मक बोध या स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर ही सौन्दर्य प्रतिष्ठित होने लगता है तब कला अनुभूति शून्य हो जाती है। हमें लगने लगता है कि जैसे शब्द निर्जीव पत्थर हैं जिन्हें झनझना कर एक ध्वनि झंकृत की जा रही है, रङ्ग केवल कुछ उच्छिष्ट हैं जो एक प्रकार से कागज़ पर लग कर अर्थ बनने का प्रयास कर रहे हैं। कला इसीलिये स्थापित सन्दर्भ की पुष्टि न होकर नये सन्दर्भों के संयोजन में जीवन्त होकर विकसित होती है। जब इन नये सन्दर्भों की संयोजन-शक्ति नष्ट हो जाती है तब न तो अनुभूति की अद्वितीयता रह जाती है और न सौन्दर्य की कल्पना ही जीवित रह जाती है।

तो व्यवस्था का क्या अर्थ है? सन्दर्भ-संयोजन का सौन्दर्य के साथ क्या सम्बन्ध है? क्या व्यवस्था कोई निरपेक्ष वस्तु है? सन्दर्भ-संयोजन क्या अनवरत नया बनाना तथा पुराना तोडना ही के अर्थ में प्रयुक्त होता है?

वस्तुत: व्यवस्था सापेक्ष मूल्य है। काल और दिक् की सापेक्षता में ही व्यवस्था और

सन्दर्भ-संयोजन की समस्या चलती है तथा प्रत्येक उपलब्ध सत्य धीरे धीरे गलने लगता है। यदि उसमें सापेक्षता का आधार नहीं रहता तो या तो वह झू ा पड़ने लगता है या केवल अर्थहीन जडता बन जाता है। सौन्दर्य की कल्पना को या उसके प्रतिमान को जो लोग स्थिर एवं अपरिवर्तनशील मानते हैं वे शायद काल और दिक् के यथार्थ को नहीं स्वीकार करते। पाल गागा ने सौन्दर्य की जिस व्यवस्था का अन्वेषण किया था शायद उसी के जीवन काल में सेजाँ उसे बडी तेजी से बदल रहा था। उसकी सृजन-प्रक्रिया शायद उस व्यवस्था को खण्डित कर नयी व्यवस्था देना चाहती थी। तुलसीदास ने जिस व्यवस्था को सौन्दर्य का अङ्ग माना था शायद आज वह अपने मे ही खण्डित हो चुकी है। आज न तो वह दृष्टि है और न उस व्यवस्था में वह अद्वितीयता ही है जिसके लिये आज का कलाकार प्रयत्नशील है। इसीलिये जागरूक कलाकार तथ्यों को नये अर्थ और नये सन्दर्भ से जोड़ने के लिये बार-बार पुनर्व्यवस्थित करता है और नयी व्यवस्था, देकर उसे सुन्दर बनाता है।

लेकिन सौन्दर्य-बोध में निहित यह व्यवस्था अङ्कुरित कहाँ से होती है ? कैसे होती है ? उसका मूलाधार कहाँ है ? अनुभूति में, वस्तु सत्य में या वस्तु सत्य और आन्तरिक उन्मेष के संयोजन से ? और तब जो प्रश्न उठ खड़ा होता है वह है व्यवस्था के अनुशासन का। स्थापत्य, गठन का एक आग्रह जिसे हम हर रचना में पाते हैं, उसका स्रोत स्रष्टा के संवेदनशील तन्तुओं मे होता है। रचनाकार और कृतिकार की संवेदनशीलता जिस तत्त्व को वहन करती है, वह इसी संयोजन-विधि से जन्मती है। यही वह रचनात्मक तत्त्व है जो सृजनात्मक व्यक्तित्व को सामान्य से भिन्न अनुभूति देता है।

तथ्य सत्य केवल किसी स्थिति का वस्तुपरक ज्ञान है। जो कुछ भी ऐन्द्रिक बोध द्वारा प्राप्त होता है उसे केवल उसी रूप में बिना किसी परिवर्तन के ग्रहण करना मात्र तथ्य-सत्य को स्वीकार करना है। इसलिए वह यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी हो सकता है। ऐन्द्रिक बोध में कोई भी स्थिति भ्रमपूर्ण होते हुए भी नितान्त यथार्थ-सी लग सकती है। किन्तु वह तथ्यात्मक सत्य मूल अनुभूति नहीं होती। सत्य वह है जो अपने वाह्यरूप के अतिरिक्त सापेक्ष रूप में प्रस्तुत होता है। अनुभूतिशील सत्य इस सन्दर्भ में यथार्थ के अतिरिक्त व्यवस्थित सत्य होता है। जो सत्य यथार्थ सा लगता है वह व्यवस्थित न होने के कारण अयथार्थ होता है। जो सत्य अनुभूति के माध्यम से अनुभूत होता है, वही वास्तव में सार्थक होता है। जैसे एक सुनहली चमकदार वस्तु बिल्कुल सोना लग सकती है, उसके समस्त वाह्य उपकरणों में पूर्ण रूप से स्वर्ण का आभास मिल सकता है, किन्तु जब उसे कसौटी पर चढ़ाया जाता है, तपाया जाता है तभी यह ज्ञात होता है कि उसमें कितना अंश वास्तव में सोने का है और कितना मात्र आभास का भ्रम है। ठीक उसी प्रकार ऐन्द्रिक बोध हमें केवल वाह्य उपकरणों से यथार्थ का बोध देता है किन्तु वही अन्तिम सत्य नहीं होता। अनुभूति की कसौटी पर कसने के बाद अर्थात् उस ऐन्द्रिक बोध को संवेदनशीलता की सापेक्षता में नये सिरे से व्यवस्थित करने के बाद ही यह पता चल सकता है कि प्रस्तुत आभासित यथार्थ किस सीमा तक वास्तव में यथार्थ है और किस सीमा पर पहुँचकर वह अपने वास्तविक यथार्थ को चिन्तन धारणा और विचार के तत्त्वों के साथ पूर्ण सौन्दर्य-बोध में स्थापित करता है।

एक प्रकार से देखा जाय तो कभी-कभी तथ्य भी मात्र आभासित यथार्थ लगता है। परिष्कृत एवं व्यवस्थित यथार्थ ही अनुभूत सौन्दर्य है। दूसरे शब्दों में, यों भी कह सकते हैं कि आभासित यथार्थ भी तथ्य सत्य की चेतना देकर हमें पुनर्व्यवस्था के लिए प्रेरित करता है, किन्तु यह व्यवस्थित सौन्दर्यानुभूति तथ्य के अतिरिक्त अर्थ और मूल्यगत बोध को भी स्थापित करता है। तथ्य-सत्य इस प्रक्रिया में मात्र पृष्ठभूमि का ही काम देता है, वह सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं बन पाता।

इस दृष्टि से व्यवस्था का बहुत बड़ा महत्त्व हो जाता है। वह अर्जन नहीं होता, वह आत्मार्जन के साथ-साथ आत्मसंयोजन भी करता है। ऐन्द्रिक बोध के साथ जो बिम्ब-विधान बनता है और बिम्ब-विधान से जो नयी स्वानुभूत मर्यादाएँ उससे बँधती हैं, उन्हीं के माध्यम से हमें सौन्दर्य के नये आयामों का ज्ञान होता है। जैसे आभासित स्वर्ण की रेखाओं को अनुभवी कसौटी पर खींचकर, उनकी भाषा, उनके प्रतीक, उनके सङ्केत, उनके वर्णबिम्ब और उनके वास्तविक रूप-विधान को पुनः व्यवस्थित करके अनुभूत सत्य तक पहुँचाता है, ठीक उसी प्रकार स्रष्टा तथ्यात्मक ऐन्द्रिक बोध को पुनः व्यवस्थित और संयोजित करके सौन्दर्यानुभूति के मर्म को पहचानता और भोगता है तथा उनके प्रतीक अथवा बिम्ब के संयोजन से सार्थक सीमाओं तक ले जाता है। यहाँ पर आकर ऐन्द्रिक बोध का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। महत्त्व केवल उस बिम्ब-योजना का ही रह जाता है जो सोने की लकीर की भाँति स्रष्टा के मानस पर अङ्कित होकर व्यक्त करता है। इसीलिए तथ्य सत्य ऐन्द्रिक बोध के माध्यम से केवल एक परिचय मात्र देता है। वह आत्मिक और अन्वेषण-दृष्टि नहीं देता और न प्रज्ञा की सीमा को ही छू पाता है। वह तो हमारे चेतना के स्तर को मात्र सूचना देकर समाप्त हो जाता है। चेतना-स्तर पर अङ्कित ऐन्द्रिक अनुभूतियों को स्रष्टा की क्रियात्मक दृष्टि, रचनात्मक दृष्टि से उन अङ्कित बिन्दुओं को व्यवस्था देकर उन्हें सार्थक बनाती है। जैसे टेलीविजन द्वारा प्रसारित बिन्दुओं को व्यवस्थित करके एक निपुण वैज्ञानिक उनको चित्र के रूप में सार्थक पृष्ठभूमि और सम्भावनाओं के साथ प्रस्तुत करता है, ठीक उसी प्रकार कलाकार चेतना-स्तर पर अङ्कित बिन्दुओं को नये सिरे से व्यवस्थित और संयोजित करके उनको एक सार्थक अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करता है। यद्यपि टेलीविजन की निश्चयात्मकता एक वाह्यारोपित यन्त्रस्थ स्थिति है और इसलिए उसकी पूरी तुलना अनुभूत सत्य के रचनात्मक गुण से नहीं की जा सकती, फिर भी सूक्ष्म स्तर पर चेतन व्यक्तित्व की समस्त सम्भावनाओं के साथ जब हम सम्पूर्ण प्रक्रिया का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं तो हमें सौन्दर्य के रचनात्मक और सृजनात्मक स्तर में इसी प्रकार के संयोजन एवं व्यवस्थापन का बोध होता है। कलाकार जिस स्तर पर माध्यम बनकर तथ्य सत्य को ऐन्द्रिक बोध के स्तर पर अङ्गीकार करता है, वह स्वयं में एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वस्तु सत्य, रूप सत्य, अनुभूति सत्य और इन सब के साथ मूल्यगत दृष्टि तथा सृजनशील प्रवृत्ति सभी एक-दूसरे से टकराते हैं, एक-दूसरे को मोड़ते हैं, एक-दूसरे को पिघलती हुई संवेदनशीलता में ढालकर नये सन्दर्भ, नये अर्थ, और नये विपर्यय में जोड़ते हैं। अपने ऊपर अङ्कित ऐन्द्रिक बोध के बिन्दुओं को पुनः सङ्गठित करके बिम्ब-योजना तक स्थापित करनेवाला जागरूक कलाकार स्वयं स्रष्टा भी होता है और उस पुञ्जीभूत सृष्टि का प्रतीक भी। इसी प्रक्रिया से सौन्दर्य की धारणा होती है और उसके नय ो के दर्शन होते हैं

इसीलिए कला या साहित्य मे जब हम सौंदर्य की बात करते है तो उसके साथ ही सौंदर्य के और संयोजन तत्त्व का बोध होता है चेतना के स्तर पर ऐन्द्रिक बोध द्वारा विभिन्न बिन्दुओं का जो एक समूह हमारे सामने प्रस्तुत होता है, उसे व्यवस्थित करने के साथ-साथ जो दूसरी वस्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढङ्ग से हमारे सामने आती है वह परिप्रेक्ष्य है। व्यवस्था स्वयं इसकी सूचक है कि वह एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य से उद्भूत होकर एक नये संयोजन की चेष्टा है। परिप्रेक्ष्य भी ठीक उसी प्रकार कोई वाह्य वस्तु नहीं है, जिस प्रकार व्यवस्था कोई वाह्य आरोपित सत्य नहीं है। दोनों का स्रोत चेतन स्तर की भाव-भूमि और वस्तु सत्य की सापेक्षता में निर्मित होती है। व्यवस्था स्वतः अनुभूति से मर्यादित होती है और चूंकि अनुभूति स्वयं चेतन-स्थिति की भावभूमि से मर्यादित होती है और ऐन्द्रिक बोध से परिचालित होती है इसीलिए काफी हद तक हम यह कह सकते हैं कि व्यवस्था और परिप्रेक्ष्य में भी उसका एक महत्त्वपूर्ण योग होता है। अतः जब हम सौन्दर्यतत्त्व की बात करते है तो उससे हम अपने चेतन भाव-भूमि के स्तर पर ऐन्द्रिक भावबोध के बिम्ब-चिह्नों को पुनः प्रस्तुत करने के प्रयास में एक नयी यात्रा की ओर अग्रसर होते हैं—ऐसी यात्रा जिसमें परिचित और अपरिचित दोनों का पुनः संस्कार होता है, वे पुनः नये विधान में सयोजित होते हैं।

सौन्दर्यानुभूति से सम्बन्धित परिप्रेक्ष्य की अनिवार्यता का मूल तत्व है नये सन्दर्भ का सापेक्ष ज्ञान और पुराने संस्कार का परिष्करण। जब रोज दिखने वाला गुलाब सहसा एक दिन असंख्य अर्थों का प्रतीक बन कर हमें उद्वेलित कर देता है तो वास्तव में उस प्रक्रिया में कुछ नया है जो पूर्व परिचित से जुड़ता है और पूर्व परिचित का बहुत कुछ ऐसा है जो पुनः परिष्कृत होता है। वस्तुसत्य के प्रस्तुत होने से और उसकी ऐतिहासिकता (पूर्व परिचय) होने से ही समसामयिकता के स्तर पर हम एक ओर तो अतीत और भविष्य दोनों का भोग के क्षण में भोगते हैं और दूसरी ओर हम वस्तुसत्य के आन्तरिक तत्वों को पुनः सङ्गठित करने का प्रयास करते हैं। सौन्दर्यतत्त्व में परिपेक्ष्य का वास्तविक महत्त्व इसीलिये सब से अधिक है। यह आधिक्य मात्र इसलिए है, क्योंकि सौन्दर्य वस्तु सत्य मात्र नहीं होता वरन् वह सार्थक सत्य होता है। सौन्दर्य-बोध के सन्दर्भ में परिप्रेक्ष्य, ऐतिहासिकता और समसामयिकता दोनों को ऐन्द्रिक बोध के साथ सम्बद्ध करता है। ऐन्द्रिक बोध और अनुभूत सत्य के बीच व्यवस्था को जो महत्त्व प्राप्त है वह एक ओर हमारी अनुभूति को सार्थक बनाता है और दूसरी ओर दृश्य को आन्तरिक दृष्टि तक ले जाने के लिये प्रेरित करता है। बिना एक वास्तविक परिप्रेक्ष्य के अनुभूति का सार्थक होना सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिये सौन्दर्य-दर्शन में परिप्रेक्ष्य वह दृष्टिकोण है जो कलाकार के भाव-जगत् को नियोजित करता है। अनुभूत-सत्य के इस पक्ष से ही यह सिद्ध होता है कि उसकी सार्थकता परिप्रेक्ष्य की नवीनता में ही है।

ऐतिहासिकता एक प्रकार से शास्त्रीय एवं संस्कारगत मान्यता है। कलाकार अपने चेतन-स्तर पर संस्कारों का पुञ्ज होता है। ये संस्कार ही उसकी सीमा बन जाते हैं। ये किन्हीं अर्थों में, विशेषकर परिप्रेक्ष्य के अर्थ में, कभी-कभी रूढ़ि बन जाते हैं, लेकिन इनका मूल रूप ऐसी दिशा का बोध देता है कि अनुभवकर्ता जिस किसी भी स्थिति को अपने भाव-जगत् के चेतन स्तर पर संयोजित करता है उसमें काल-सीमा का आग्रह अतिरेक में रहता है। नया परिपेक्ष्य इस सन्दर्भ मे नयी को भाव-जगत के अनुभूति बिन्दुओ स जोडता है इसी की सापेक्षता

मे ही पूरी अनुभूति का नया अर्थबोध प्राप्त होता है। परिप्रेक्ष्य इसी आन्तरिक अर्थ को पुन सयोजित करने की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते है कि अनुभूत सत्य हमारे ऐतिहासिक और समसामयिक जागरूकता का एक सग्रहीत सत्य है।

किसी भी अनुभूति की सार्थकता उसके परिपेक्ष्य में ही निहित होती है। बिना इस परिपेक्ष्य को समझे सौन्दर्य के प्रति न तो दृष्टि ही बन सकती है और न सौन्दर्यानुभूति की सार्थकता ही समझ में आ सकती है। वस्तु सत्य का महत्त्व भी इसी पर निर्भर करता है कि द्रष्टा उसको वहाँ से किन परिस्थितियों-स्थितियों के संसर्ग से देख रहा है। सापेक्षता का भी अस्तित्व परिप्रेक्ष्य पर ही आधारित है। किसी भी प्रयास की सार्थकता क्या होगी, किसी भी अनुभूति की उपलब्धि क्या होगी, यह परिप्रेक्ष्य ही द्वारा स्वतः निर्णीत होगा। मीरा ने जब यह कहा होगा—"सूली ऊपर सेज पिया की, कासों मिलना होय" या जब इसी प्रकार की अन्य संवेदनशील अनुभूतियो का हम साक्षात्कार करते है तो अनुभूति की प्रकृति और सौन्दर्य की प्रकृति शायद जिस अद्वितीयता का साक्ष्य करती हैं वह इसी परिप्रेक्ष्य से निर्मित और निर्धारित होती हैं। अमृत का विष और विष का अमृत लगना, गुणात्मक बोध में सहसा परिवर्तन का अनुभव करना, यह परिप्रेक्ष्य से ही प्रशासित होता है। जिस राज्य-सत्ता को प्राप्त करने के लिये कैकेयी पति के मृत्यु का कारण बनती है उसी राज्य के वैभव, सुख और समृद्धि भरत को व्यंग्य से लगते हैं। यह मूल्यगत बोध भी परिप्रेक्ष्य द्वारा ही अनुशासित है।

वस्तु सत्य के अन्तःप्रकृति और वाह्य प्रकृति में मूलतः कोई भेद नहीं होता, किन्तु उसका समस्त रूप और सारा अस्तित्व ही दृष्टि-भेद होने के नाते बदल जाता है। सौन्दर्य की धारणा भी इसी दृष्टि-भेद के कारण बदल जाती है। इसीलिये सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। व्यवस्था और परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में सौन्दर्य एक नित्यप्रति अन्वेषित सत्य के रूप में प्रस्तुत होता है जहाँ व्यवस्था उसके आन्तरिक गठन को संयोजित करती है तथा परिप्रेक्ष्य सापेक्षता को समवाहित करता है।

यहीं पर यह प्रश्न उठता है कि सुन्दरता और असुन्दरता में भेद क्या है? प्रायः यह कहा जाता है कि सुन्दर में व्यवस्था होती है और असुन्दर में व्यवस्था का अभाव होता है। किन्तु कभी-कभी बिखराव, अस्त-व्यस्तता, टूटना भी सुन्दरता का बोध देता है। सत्यान्वेषी और सौन्दर्यान्वेषी किसी भी व्यवस्था को पूर्वग्रह के रूप में नहीं लेकर चलना चाहता। वह पुनर्व्यवस्थित करता है और पुनर्व्यवस्थित करने की प्रक्रिया ही उसकी निजी रचना-प्रक्रिया होती है, उसकी निजी अन्तर्दृष्टि द्वारा नियोजित सत्य होता है। यह निजी दृष्टि भी जिन दो वस्तुओं से अनुशासित होती है, वह है तटस्थता और भावुकताहीनता। तटस्थता तो इसलिये आवश्यक है क्योंकि बिना कुछ दूरी रक्खे परिप्रेक्ष्य का ठीक दायित्व नहीं निभाया जा सकता। भावुकताहीनता इसलिये कि प्रायः भावुकता में हम वाह्यारोपित माध्यमों से वस्तु को देखने का प्रयास करते हैं। यह वाह्यारोपित तत्त्व प्रायः सौन्दर्य के निरपेक्ष बोध को कुण्ठित करता है तथा उसकी आन्तरिक व्यवस्था को अनावश्यक रूप से खण्डित करके व्यामोह को प्रस्तुत करता है।

यहाँ पर व्यवस्था के विषय में कुछ और बातें जान लेना आवश्यक है। प्रायः रूढ़िवादी इस को वस्तु के बाहर मानती है यदि वह मानती नहीं तो कम से कम ऐसा

भासित करती है कि व्यवस्था कोई बाहर की चीज है और वस्तु में आरोपित कर देने से वस्तु सुन्दर लगने या सौन्दर्य का बोध देने लगेगी। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वस्तु के भीतर ही व्यवस्था होती है। नयी सौन्दर्य-दृष्टि हमें तब मिलती है जब हम वस्तु में व्याप्त तत्त्वों के क्रम को नये परिप्रेक्ष्य के माध्यम से पुनः व्यवस्थित करते हैं। यह पुनर्व्यवस्था किसी बाह्यारोपित तथ्य से नहीं, स्वतः परिप्रेक्ष्य के अन्तर से व्याप्त तत्त्वों का संयोजन है। किसी भी वस्तु को नये सिरे से अनुभव करने के लिये या उसे नये अर्थ-सन्दर्भों से संयुक्त करने के लिये यह आवश्यक है कि उनके आन्तरिक गठन को उसके स्वतः अनुशासित नियमों से जाना जाय और उसकी प्रकृति को सार्थक समझा जाय। भाव-अतिरञ्जना में या उसकी कोरी भावुकता में इस अर्थ का लोप हो जाता है; क्योंकि उसमें वह तटस्थता नहीं रहती जो कि कला-बोध के लिये परमावश्यक वस्तु है। 'अमिय सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच' में जिस वस्तु की माँग की गई है वह उनकी प्रकृति की है। बिना इस तटस्थ दृष्टि या उनकी प्रकृति के ज्ञान के न तो कोई अमृत का ही अनुभव कर सकता है और न विष की तिक्तता का ही। यहाँ पर भी वस्तु की आन्तरिक गठन और उसकी रचना-प्रकृति पर बल दिया गया है।

सौन्दर्य अपने आन्तरिक गठन में जिस सामञ्जस्य का बोध कराता है वह व्यवस्था का सन्तुलन ही कहा जा सकता है। कभी-कभी सौन्दर्य व्यवस्थाहीनता तथा सामञ्जस्य और आन्तरिक गठन के अभाव से भी व्यक्त होता है। यह कहना कि सौन्दर्यानुभूति के लिये व्यवस्था का कोई विशिष्ट प्रारूप आवश्यक ही है, गलत है। व्यवस्था कभी-कभी सामञ्जस्य से पृथक् होकर भी सुन्दर लगती है। मात्र सन्तुलन की अजीर्णता से भी अरुचि होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं इस सन्तुलन का अभाव भी वस्तु को अधिक सुन्दर बना देता है। असामञ्जस्य का भी एक प्रारूप हो सकता है। इसलिये सामञ्जस्य और सन्तुलन के साथ-साथ असामञ्जस्य के महत्त्व को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है। अव्यवस्था और असामञ्जस्य में मूल अन्तर यही है। असामञ्जस्य होते हुए भी कोई वस्तु व्यवस्थित हो सकती है, किन्तु हर व्यवस्थित चीज में सामञ्जस्य ही मुख्य वस्तु है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एकान्त में खड़ा एक सूखा ठूँठ अकेले ही किसी दृश्य को सन्तुलित बना सकता है और अकेला होने के बावजूद भी सम्पूर्ण दृश्य को संयोजित कर सकता है।

यही कारण है कि सौन्दर्य के साथ कोई रूढ़ि नहीं काम कर सकती और व्यवस्था का कोई निश्चित फ्रेम नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु अपने तत्त्वों के अनुसार व्यवस्थित होती है और प्रत्येक नियोजन अपनी प्रकृति के अनुसार ही प्रक्रिया में ढलता है। सौन्दर्यानुभूति की एक स्थिति वह भी होती है जब वह मात्र थोड़े से परिवर्तन से अथवा इधर या उधर का सन्तुलन हटा देने से अधिक सार्थक हो जाता है। चित्रकला में जहाँ एक ओर माडेल की अनुरूपता हमें मिलती है वहीं दूसरी ओर मात्र स्थापत्य की दृष्टि से वास्तुकला भी अच्छी लगती है; किन्तु आज के सन्दर्भ में शायद यह दोनों ही उतने मूल्यवान नहीं रह गये हैं। आज हमारी दृष्टि अनुरूपता पर न जाकर उसकी सूक्ष्मता पर बल देती है। यह सूक्ष्मता मात्र आकृति की विविधता के नाते अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। आज की दृष्टि इसीलिये, तत्त्व-गठन की आन्तरिक नियोजन-प्रवृत्ति पर अधिक है साकार के बाह्य उपकरणों पर कम पेड़ से अधिक पेड़पन आदमी से अधिक

आदर्शपन के प्रति हमारी दृष्टि जागरुक है और सौन्दर्य के विभिन्न तत्त्वों को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करती है।

वास्तव में, आज के जीवन में आकारों की रूढ़िवादिता और भाषा की बहुरूपता शायद इतनी ज्यादा है कि अभिव्यक्ति, प्रकारों में और अर्थ, शब्दों में डूब जाते हैं। कलाकार आज सौन्दर्य के जिस संयोजन को प्रस्तुत करना चाहता है वह मात्र आकार-परिवर्तन सा लगता है, आन्तरिक गठन की उपलब्धि नहीं बन पाता। यह विवशता भाषा, सङ्गठन और संयोजन के स्तर पर रूपहीनता को प्रश्रय देता है। आज की अमूर्तन-प्रक्रिया शायद इन सब से मुक्ति पाने का प्रयास है। वह सङ्गठन की अद्वितीयता और अनुभूति की अद्वितीयता को ही परिलक्षित करने के लिये आकार से निराकार की ओर प्रस्तुत हो रही है। गुणात्मक बोध में एक विवेक के प्रति आग्रह है-—ऐसा विवेक जो अद्वितीयता की सुरक्षा करते हुए हमें नये अर्थ-सन्दर्भो की दृष्टि दे सके। व्यवस्था के स्तर पर भी स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म के प्रति हमारी दृष्टि अग्रसर हो रही है, क्योंकि सौन्दर्य के आरूप-विरूप विभिन्न सङ्गतियों से होकर एक ही क्षितिज वृत्त से गुजर रहे हैं। शायद उषा की अरुणिमा के साथ-साथ सन्ध्या का अवसान एक ही बिन्दु पर घटित और विघटित होते से लग रहे हैं। जीवन अदृश्य जीवाणुओं की अदृश्य सङ्गतियों में संयोजित हो रहा है, शक्ति सूक्ष्म परमाणुओं के अदृश्य सौरमण्डलों के वृत्त में संग्रहीत है। जीवाणुओं की व्यवस्था या परमाणुओं के सौरमण्डल की व्यवस्था मे जो सौन्दर्य संयोजित है वह असम्भाव्य अदृश्यता से उद्वेलित होकर हमें सूक्ष्म से सूक्ष्मतर का बोध करा देता है।

आज के इस परिवेश में फिर सौन्दर्य की कल्पना और धारणा, उसके आन्तरिक गठन और वाह्य उपकरण, उसके दृश्य तत्त्व और अदृश्य सम्भावनाओं की शृङ्खला के प्रति एक आग्रह है जो हमें सर्वथा नये सन्दर्भों से जोड़ता है। जो दृष्टव्य है, पार्थिव है, उसी के माध्यम से हमें उस अपार्थिव का भी बोध होता है जो अपने क्रम मे निर्बाध शक्ति की विद्युत आभा लिये मौन है और एक ऐसी इकाई है जिसके भीतर एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सम्भावनाएँ निहित है। यही नहीं, उन असख्य इकाइयों का भी एक पृथक् अस्तित्व है।

विज्ञान के नये-नये प्रयोगों ने सौन्दर्य के तत्त्वों में परिवर्तन ला दिया है। आज शायद चमत्कार और सहसा विस्मित या हतप्रभ अथवा किङ्कर्तव्यविमूढ़ जैसी स्थितियाँ सौन्दर्य से सम्बद्ध नही है। सौन्दर्य के साथ आज जिस तत्त्व का महत्त्व है वह है सन्तुलन, सामञ्जस्य और व्यवस्था। यह नही कि प्राचीन सौन्दर्य-बोध में ये तत्त्व नही थे, वरन् इसका आशय यह है कि इसके साथ-साथ चमत्कार और किङ्कर्तव्यविमूढ़ता के स्थान पर विवेक और अनुभूति का महत्त्व बढ़ गया है। इन्द्रधनुष आज भी हमें अच्छा लगता है और प्राचीनकाल में भी अच्छा लगता था, किन्तु आज हम जब इन्द्रधनुष को देखते हैं तो शायद उसके सौन्दर्य के कारणों को भी जानते है और प्राचीनकाल मे हम केवल उत्सुकता, जिज्ञासा और कौतूहल के वशीभूत होकर ही सारा अनुभव झेलते थे।

सौन्दर्य का सम्बन्ध सदैव एक आन्तरिक अभाव की पूर्ति में व्यक्त होता रहा है। किसी भी सुन्दर वस्तु को देख कर हम सदैव ऐसा अनुभव करते रहे है कि जैसे उस अनुभूति ने हमारे व्यक्तित्व में कुछ जोड़ा है। कहीं कुछ ऐसा है जो हममें इतना कम और इतना क्षीण रहा है जो अभी तक उसके बिना अपूर्ण था सौन्दर्य की सबसे बड़ी उपलब्धि इसीलिये पूरक के रूप मे व्यक्त

होती है प्रत्येक सुन्दर वस्तु और उसका सौन्दर्यात्मक बोध हमारे अनभवों की कड़ी में एक और अनुभव जोड़ता है और यह अनुभव ऐसा है जो मात्र अनुभव के स्तर पर ही नहीं, सार्थकता के स्तर पर भी हमें सम्पन्न बनाता हैं। ताजमहल और पिरामिड सुन्दर हैं और उनकी सुन्दरता उनके अपने रचना-विधान में निहित है, किन्तु उनका बोध और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व हमारी मानसिक स्थितियों पर भी प्रभाव डालता है और हमारे मानस-पटल पर उनकी छाप एक बोध के रूप में पड़ती है। इस प्रकार उनका अस्तित्व हमारी चेतना के आयामों की नयी पर्तों से जोड़ देता है, उसका सहबोध करा देता है। कभी-कभी मात्र इस बोध से कि हमारे आस-पास या हमारे चारों ओर एक सौन्दर्य सृष्टि है हमें अपने अर्थ का सर्वथा नया आयाम मिल जाता है। हम केवल अपने नहीं रह जाते वरन् अपने परिवेश के अंश और उसके सह-भोगी भी हो जाते हैं। लेकिन यह सह-बोध सह-संयोग और सह-भोग की स्थितियाँ बिना बौद्धिक ज्ञान और मानसिक अभिरुचि के सम्भव नहीं हो सकतीं। जब किसी भी वस्तु की व्यवस्था की अनुभूति हमें होती है तो उस अनुभूति के अन्तरतम में जो दृष्टि पूर्णरूप से हमें प्रभावित करती है, वह है उस आयाम का साक्षात्कार जिसमें मात्र पैटर्न की पुनरावृत्ति या सन्तुलन की रूढ़िग्रस्त धारणा के अतिरिक्त एक नये रचना-क्रम और एक सर्वथा नये रचना-विधान का साक्षात्कार होता है। उस रचना-क्रम का बोध या उस रचना-विधान का बोध अपने अद्वितीय रूप में हमें सह-बोध की सार्थकता, सह-संयोजन की क्षमता और सह-भोग की वास्तविकता को हमारे समकक्ष बना देती है।

सौन्दर्य को सापेक्ष सत्य मान लेने के बाद हम जिस यथार्थ का अनुभव करते हैं वह स्वतः मानवीय यथार्थ होता है। सौन्दर्य मानवीय तभी हो सकता है जब उसमें व्यापक जीवन के तत्वों का भी दिग्दर्शन हो सके। सौन्दर्य में इसलिये प्रेक्षक, प्रेरक और प्रेषक शक्तियाँ भी होती हैं। किसी भी वस्तु के प्रेक्षक स्तर पर जो परिचयात्मक बोध हमें होता है वह एक प्रकार के परिज्ञान की स्थिति होती है। प्रेरक-शक्ति सौन्दर्य की क्रियाशीलता की प्रतिक्रिया है और प्रेषक तत्त्व ही हमें सार्थकता का बोध कराके सह संयोजन और सहभोग के तत्वों को हम से सम्बद्ध करता है। सौन्दर्य के यही गुण उसे मानवीय बनाते हैं।

सौन्दर्य के दो पक्ष होते हैं। पहला वह जो हमें प्रेक्षक का दृश्य देता है और दूसरा वह जो हमें इन सब के माध्यम से एक नये संस्कार और सार्थक अर्थ की ओर ले जाता है। सौन्दर्य की गतिशीलता में ही यह गुण होता है कि वह हमारी सम्पूर्ण प्रज्ञा को अनुभूति के साथ-साथ मूल्य-बोध की ओर उन्मुख करता है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु मुझे सुन्दर लगी तो प्रायः उसके साथ यह अर्थ भी छिपा रहता है कि जो वस्तु सुन्दर लगी वह अच्छी भी लगी। 'सुन्दर' जहाँ केवल रचनाबोध का परिचायक है, वहीं वह उस रचना को उपलब्धि के रूप में मूल्याङ्कन की ओर भी ले जाता है। और, तब ऐसी दशा में सौन्दर्य के साथ-साथ ही अभिरुचि का प्रश्न उठता है। मूल्य अपने में ही स्वतन्त्र नहीं होते, वे सदैव सापेक्षता में विकसित होते हैं। सौन्दर्य के साथ इसी अभिरुचि का महत्त्व है। अभिरुचि मे चयन, संयोजन और सङ्गठन को परिलक्षित करा देने की क्षमता होती है। साथ ही उसमें नये क्षितिजों को भी अन्वेषित करके अनुभूति के स्तर पर ग्रहण करने की शक्ति होती है। सौन्दर्य का महत्त्व बिना रुचि-सम्पन्नता के उपलब्ध ही नहीं हो सकता क्योंकि दर्शक में बिना इसके ग्रहण की शक्ति ही नहीं आ सकती

संस्कार एक दूसरा आग्रह है जो सौन्दर्य-बोध की सीमाओं में बाधक भी होता है और उसे प्रेषित करने में सहायक भी होता है। यदि अभिरुचि का महत्त्व चयन में है तो संस्कार का महत्त्व उस चयन को सार्थकता प्रदान करके उसे मूल्यगत दिशा की ओर ले जाने में है। लेकिन संस्कार जब केवल सक्षम की सीमा तक रहता है तभी वह सौन्दर्य के आयामों का उद्‌बोधन करा सकता है। जब वह रूढ़ार्थ या मृत परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित होता है तो वह सौन्दर्य के तत्त्वों में नयी व्यवस्था और नये सन्दर्भो को अन्वेषित करने में सफल नहीं होता। संस्कार इसी अर्थ में कभी-कभी दृष्टि को सङ्कीर्ण और अनुभूति के स्तर को कृत्रिम बना देता है।

जिस सौन्दर्य के साक्षात्कार के लिये उपर्युक्त तत्त्वों की आवश्यकता बताई गई है वह इन्हीं कारणों से बिना सापेक्षता के कोई भी सार्थक अनुभूति नहीं दे सकता। मसल है कि 'भैंस के आगे बीन बजावे भैंस खड़ी पगुराय।' एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस युक्ति में बड़ा रहस्य है। यह उद्‌घाटित करता है कि अभिरुचि और संस्कार किसी भी प्रकार के सौन्दर्यानुभूति को ग्रहण करने के लिए कितने आवश्यक हैं। यदि अभिरुचि स्वस्थ नही हुआ और संस्कार में कला के विभिन्न स्तरो को पहचानने की शक्ति की जगह दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह हुआ, तो सौन्दर्य की वास्तविक अनुभूति नही होगी। संस्कार और अभिरुचि का संयोग और सन्तुलन किसी भी प्रकार के सौन्दर्य को पहचानने और उसके मूल्याङ्कन के लिये नितान्त आवश्यक है!

अभिरुचि मूलतः किसी भी जिज्ञासु मन के सङ्कल्प की अधिष्ठात्री है। विवेक के माध्यम से किन्हीं दो समानधर्मा वस्तुओं के या विरोधी संस्कारवाली वस्तुओं के पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण गुणत्व को पहचानने में ही अभिरुचि व्यक्त होती है। अभिरुचि को इसीलिए बहुधा लोग परम्परा या रूढ़िग्रस्त स्थितियों का ही अन्तिम- रूप मानते हैं। लेकिन अभिरुचि की समस्या परम्परा और रूढ़ि से न सम्बद्ध होकर विवेक-शक्ति सम्बद्ध है। विवेक में संस्कार, ज्ञान, और भेद देखने की शक्ति होती ही है। साथ ही उसी के माध्यम से अभिजात्य तत्त्व भी विकसित होते है। किसी भी स्थिति में, हमें क्या स्वीकार करना चाहिये और क्या त्याग देना चाहिये, किन दो विभिन्न स्थितियों का संयोजन करना चाहिये आदि प्रश्न विवेक द्वारा ही हल होते हैं। मूल्यो के विवेचन में भी मनुष्य की यही शक्ति सहायक होती है। लेकिन अभिरुचि एक ओर जहाँ विवेक दृष्टि देती है वहीं वह उदारवादी होने के लिये केवल वाह्य उपकरणों को ही महत्त्व देने में असमर्थ होती है। जिस अभिरुचि में वर्तमान की भोग्य स्थिति के प्रति विवेक नहीं है वह कुत्सित और विकृत भी हो सकती है। रूप और विरूप के वाह्य और अन्तरङ्ग को पहचानने मे अभिरुचि का वहुत वड़ा हाथ होता है, क्योंकि बिना उसके सौन्दर्य के अस्तित्व को स्वीकार करना कठिन होगा।

अभिरुचि और संस्कार का तत्त्व प्रायः समान माना जाता है, किन्तु लोग यह भूल जाते है कि अपने इस आग्रह के वशीभूत होकर वह कुछ ग़लत प्रतिमानों को प्रतिष्ठित कर देते हैं। यह गलती उस समय होती है जब परम्परा के मृत मूल्यों को केवल मोहवश आरोपित करके सापेक्ष सत्य के स्थान पर आरोपित सत्य देखने की चेष्टा की जाती है। इस आरोप से दृष्टि विकृति होती है और सौन्दर्य के प्रति हमारी दष्टि कृत्रिमतर होती जाती है। सौन्दर्य के तत्त्वों को ग्रहण करने में इसलिये हमें सदैव सस्कार के आग्रह और अभिरुचि की पर एक विशेष दृष्टि रखना

अनिवाय होगा रुचि को तुष्टि भी तभी मिल सकेगी जब हम मे सापक्ष मल्यो के आधार पर सौन्दय के नये आयामो का नव्य सस्कार और उनको सवधित करने की शक्ति हागा. सौदय की कल्पना में यह दोनों तत्त्व समान रूप से एक दूसरे पर आश्रित है।

अभिरुचि यदि विशुद्ध और स्वस्थ है और उसमें विवेक की तीव्रता समान रूप से विद्यमान है तो सौन्दर्य के अभिजात्य तत्त्वों को ग्रहण करने मे विशेष सुविधा ही नहीं, जागरूक चेतना भी मिलती है। अभिजात्य गुण, इसीलिये सदैव सौन्दर्य का प्रमुख अङ्ग रहा है। सौन्दर्य के अभिजात्य बोध मे ही हमें तुष्टि मिलती है, किन्तु इस अभिजात्य को हम अभिरुचि और उसके अनिवार्य विवेक तत्त्व के बिना शायद ग्रहण करने में समर्थ भी नहीं हो सकेंगे। सौन्दर्य के प्रति हमारी दृष्टि इन्हीं तत्त्वो के आधार पर बनती है। तुष्टि भी तभी होती है जब हमें उसके अभिजात्य गुण का बोध होता हे। प्राय: लोग अभिजात्य को स्वाभाविक का विरोधी मानते हैं, किन्तु स्वाभाविक, जब रुचि-सम्पन्नता के साथ-साथ परिष्कृत हो जाता है तब वह अधिक मूल्यवान होकर प्रतिष्ठित होता है। वह जो मात्र स्वाभाविक है, अभिरुचि और परिष्कार के बिना कृत्रिम लगने लगता है। जैसे अतिवादी सस्कार-आग्रह दृष्टि-दोष उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अतिवादी स्वाभाविकता भी एक प्रकार की जड कृत्रिमता में व्यक्त होती है। सौन्दर्य, संस्कार और परिष्कार दोनों ही की अपेक्षा रखता है। अभिरुचि की सम्पन्नता इसी में है कि वह स्वाभाविकता को अधिक सार्थक दृष्टि देने में सक्रिय हो, व्यवस्था में ताजगी और नवीनता को प्रश्रय देने मे सहायक हो। सौन्दर्य वास्तव में इन समस्त तत्त्वों के उचित सङ्गठन से उद्भूत होकर व्यक्त होता है। उसमें इन समस्त तत्त्वों का सामञ्जस्य होता है और वह सामञ्जस्य एक आन्तरिक गठन-मर्यादा के माध्यम से व्यक्त होता है।

सौन्दयनिभूति के विषय में जो बात विशेष रूप से जानने की है वह यह कि यह एक सक्रिय भोग की स्थिति है। अलौकिक रूप से या किसी चमत्कारिक रूप से न तो हम सौन्दर्य का अनुभव ही कर सकते हैं और न उससे किसी प्रकार की उपलब्धि ही प्राप्त कर सकते हैं। सौन्दर्य का अनुभव वही कर सकता है जो उससे तदात्म्य कर सके, उसके साक्षात्कार के क्षणों में, उसकी रचना-प्रक्रिया मे, उसके सयोजन की स्थिति में सक्रिय रूप से अपनी चेतना की समग्रता के साथ उसे भोग सके। जीवन की सार्थकता भी सौन्दर्य की उपलब्धि में ही है। वह जो सौन्दर्य की उपासना करता है अथवा सौन्दर्य को केवल ईश्वर प्रदत्त या अलौकिक चमत्कार मानता है, न तो सौन्दर्य के महत्त्व को समझ सकता है और न उससे कुछ उपलब्ध ही कर सकता है।

भोग की बात से प्राय: लोग समझते है कि यह निम्नस्तर की केवल दैहिक भोग की स्थिति है। वस्तुतः भोग की प्रक्रिया ही उपलब्धि की प्रक्रिया है। भोग से जितना स्थूल तत्त्व का बोध होता है उतना ही वह सूक्ष्म स्तर पर भी सार्थक होता है। मानसिक स्तर पर विचारों की कुड़मुड़ाहट में भी उतनी ही स्थूलता है जितनी कि एक काँटे के चुभने में और यह मानसिक भोग भी उतना ही सत्य है जितना कि नितान्त शारीरिक। ऐसा इसलिये भी है कि नितान्त दैहिक सुख-दुख भी बिना मानसिक भोग के सम्भव नहीं है। भोग की स्थिति में, सूक्ष्म और स्थूल में, दैहिक और मानसिक मे केवल प्रकृतिगत अन्तर होता है। दोनों की गुण-शक्ति समान होती है और दोनों की प्रभाव-प्रक्रिया भी समान होती है। इसीलिये सुन्दर और असुन्दर- उदात्त और कृत्रिम दोनों का अर्थ-बोध भोग से सम्बद्ध है सौन्दर्य की उपलब्धि इसीलिये पूर्ण भोग की उपलब्धि है

लोक वीर-काव्य 'आल्हा'

• नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

लोक गाथाएँ लोकमानस में अंकुरित होकर सामाजिक वातावरण में पलती-पनपती हैं। आरम्भिक अवस्था में ये अधिकतर बीज-रूप में ही व्यक्ति-चित्त के बीच विलास करती हैं। फिर, समय पाकर ये सामाजिक भाव-भूमि में फूट पड़ती हैं जहाँ लोकमानस की स्थिति है। आगे चलकर एक ऐसी दशा भी आती है जब आरम्भिक वर्ण्य-विषय में भेद दिखायी देने लगता है। उसमें ऐसे तत्त्वों, कथाओं और घटनाओं आदि का संयोजन होने लगता है जो जातीय महत्त्व के हैं। धीरे-धीरे लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य की विभाजक रेखाएँ उभड़ती दिखायी देने लगती हैं। लोक-साहित्य मौखिक परम्परा में विकसित होता है और शिष्ट-साहित्य लिखित रूप धारण करता जाता है। फलस्वरूप, मौखिक परम्परा की रचनाएँ जहाँ अनलंकृत तथा विकसनशील रहती है, वहाँ शिष्ट-परम्परा का साहित्य अधिकतर अलंकृत तथा स्थितिशील बना रह जाता है। शिष्ट-साहित्य में, यदि कभी किञ्चित विकास दिखायी भी देता है तो प्रायः नियन्त्रित होकर मन्थर गति से। मौखिक परम्परा का विकास अनियन्त्रित तथा चक्राकार हुआ करता है। चक्राकार विकास होने का एक परिणाम यह भी होता है कि नये और पुराने सूत्रों में परस्पर उलझाव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार कभी-कभी इन दोनों को पृथक्-पृथक् रूप में देख पाना सम्भव नहीं हो पाता है। इसे लोकमानस की उपज की एक विशेषता कहा जा सकता है। फिर भी शिष्ट-साहित्य का मूलस्रोत लोक-साहित्य ही है।

वीर-काव्य के लिए विशिष्ट व्यक्तित्ववाले नायक की आवश्यकता होती है जो कृषि-युग के पहले सुलभ न था। ऐसे नायक में वीरता, उदारता और सौन्दर्यप्रियता अपेक्षित है। अतएव वीर-युग को बर्बर-युग का समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता है। वीर पुरुष सद्वृत्तियों से प्रेरित होता है जब कि बर्बर पुरुष मूल प्रवृत्तियों का दास। फिर, प्रारम्भिक कृषि-युग के वीर पुरुष और सामन्त-युगीन वीर पुरुष की मनोवृत्तियों में भी काल-सापेक्ष प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं। फलस्वरूप दोनों के आचरण-प्रकार तक में अन्तर उत्पन्न हो जाते है। प्रारम्भिक कृषि-युग का वीर पुरुष जहाँ अपेक्षाकृत अधिक उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द रहता है, वहाँ सामन्तयुगीन वीर पुरुष रूढ़िप्रिय तथा संस्कारग्रस्त दिखायी देता है। इस भेद को लक्ष्य किये बिना लोक-साहित्य का जिज्ञासु विद्यार्थी वास्तविकता से अनभिज्ञ रह जाता है।

'आल्हा' चक्राकार विकसनशील लोक-काव्यों की कोटि का है।[1] इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ का ऐसा घालमेल हो गया है कि अशिक्षित जनता के लिए ऐतिहासिक

और अनैतिहासिक तत्त्वो के भद को परखकर इसमे से वास्तविकता को ढूढ निकालना असम्भव सा हो गया है जनता की दष्टि मे इसके भीतर का सब कुछ यथार्थ तथा एतिहासिक है। उन्हे पता नही कि इसमे कितने हा काल्पनिक तत्त्व समाविष्ट है। निस्सन्देह इसका एक कारण इसकी लोकप्रियता भी है। इसी को लक्ष्यकर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने लिखा है कि "यह शिक्षितों की सम्पत्ति ही नहीं, अपितु अशिक्षित अल्हैतों की थाती है जो समस्त उत्तरी भारत में दिल्ली से लेकर बिहार तक फैले दिखायी देते हैं। इनका धन्धा ही आल्हा गाकर जीविकोपार्जन करना है।" उन्होंने इसके आगे इतना और भी कहा है कि "इसी प्रकार वंशानुक्रम से आल्हखण्ड का प्रचार, विकास तथा संरक्षण होता आया है। फलस्वरूप स्थान-भेद के कारण आल्हखण्ड के कई रूपान्तर तथा पाठान्तर दिखाई देते हैं। उसकी भाषा भी कालान्तर में मूल काव्य-भाषा से बिल्कुल भिन्न मिलती है।"[२] ग्रियर्सन ने इसके मूल रचयिता के सम्बन्ध में भी अपना मत प्रकट किया है। उनका निष्कर्ष है कि "रचयिता का नाम अज्ञात है। परम्परा द्वारा केवल इतना ही पता है कि इसकी रचना परमाल के भाञ्जे जगनिक द्वारा हुई है।"[३] परन्तु जनश्रुति द्वारा जगनिक का परमाल का भाञ्जा होना पुष्ट नही होता। वहाँ पर वह राजा परमाल का भाट माना जाता है, भाञ्जा नहीं। इसका समर्थन 'रासो' के 'महोबा समय' के एकाध छन्दों द्वारा भी हो जाता है।[४]

कालिञ्जर नरेश परमाल (परमर्द्दिदेव) सं० १२२२ में सिंहासनारूढ़ हुए थे। इनके राज्य-काल के दो विशिष्ट शिलालेख मिले हैं। इनमे से एक परमाल के मन्त्री मुलखान (मुलक्षण) द्वारा बटेश्वर में निर्मित विष्णु-मन्दिर की शिला पर अङ्कित है जिसका समय संवत् १२४१ वि० है और दूसरा महोबा में एक तालाब के तट पर स्थित मन्दिर की शिला पर अङ्कित है। इन दोनों से 'आल्हा' का रचनाकाल तेरहवीं विक्रमाब्द का पूर्वार्द्ध ठहरता है।

सबसे पहले सन् १८६५ ई० में फर्रुखाबाद के जिलाधीश चार्ल्स इलियट ने आल्हा को लिपिबद्ध कराया था। उन्ही के प्रयत्न से श्री ठाकुरदास द्वारा इसका प्रकाशन फतेहगढ़ से हुआ था। इसी समय के लगभग बुन्देलखण्ड से विनसेण्ट स्मिथ ने और बिहार से ग्रियर्सन ने 'आल्हा' के उपलब्ध रूपों को लिपिबद्ध कराया था। विनसेण्ट स्मिथ से प्रेरणा पाकर डब्ल्यू० वाटरफील्ड भी इसके संग्रह की ओर आकर्षित हुए थे और उसके एक अंश को अंग्रेजी बैलेड में छन्दबद्ध करके 'कलकत्ता रिव्यू'[५] (सन् १८७५-७६) में प्रकाशित कराया था। ग्रियर्सन ने आगे चलकर इलियट के अनुवाद के साथ शेषांश के अंग्रेजी गद्यानुवाद को अपनी भूमिका सहित सन् १९२३ ई० में आक्सफोर्ड से "द ले ऑफ आल्हा" का नाम देकर पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया था। इससे 'आल्हा' के तत्कालीन रूप का परिचय मिल जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आल्हा' को 'आल्हखण्ड' माना है जो उनके अनुसार 'परमाल रासो' का एक खण्ड मात्र है। परन्तु 'परमाल रासो' का उन्होंने न तो कोई विवरणात्मक परिचय दिया है और न इसका अन्यत्र किसी खोज-रिपोर्ट में कोई उल्लेख ही मिलता है। सम्भवतः आचार्य शुक्ल के भ्रम का कारण बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित तथाकथित 'परमाल रासो' है जो 'सभा' से प्रकाशित है। इसके विपरीत डॉ० उदयनारायण तिवारी-जैसे विद्वानों ने 'पृथ्वीराज रासो' के 'महोबा-समय' को ही 'परमाल रासो' नाम से प्रसिद्ध होना बतलाया है।[६] इस प्रकार डा० तिवारी 'आल्हखण्ड' को परमाल रासो स्वीकार करते नहीं जान पड़ते

ऐसी दशा में 'आल्हा' को 'आल्हाखण्ड' बतलाना अपने आप में भ्रामक बन जाता है। वाटर फील्ड तक इस भ्रम के शिकार हो गए जान पड़ते हैं। उन्होंने भी आचार्य शुक्ल के आधार पर 'आल्हा' को 'आल्हखण्ड' के रूप में 'रासो' का एक खण्ड मात्र माना है।

इनसे भिन्न ग्रियर्सन का मत है जिसके अनुसार 'आल्हखण्ड' यद्यपि 'पृथ्वीराज रासो' के 'महोबा-समय' से मिलता-जुलता है, किन्तु उसकी रचना सर्वथा स्वतन्त्र है। 'रासो' का आदर्श दिल्ली के साथ-साथ चौहानवंशी पृथ्वीराज का गौरव-प्रदर्शन करना दीख पड़ता है जबकि 'आल्हखण्ड' के वर्णन का केन्द्र-स्थल कन्नौज तथा महोबा बना हुआ है। ऐसी दशा में 'आल्हा' को 'आल्हखण्ड' अथवा 'परमाल रासो' कहने का कोई तर्क-सङ्गत कारण नहीं दिखायी देता।

'आल्हा' के मूलरूप का पता न होने से आज यह निश्चित करना सम्भव नहीं कि उसका मूल रूप कितना इतिहासपरक रहा होगा। परन्तु उसका जो रूप आज उपलब्ध है उसे जनता ने इतिहाससम्मत मान रखा है। उनकी समझ में कल्पना अथवा दन्तकथा आदि सभी इतिहास की परिधि के भीतर ही है। यहाँ तक कि चमत्कारपूर्ण बातें भी तथ्य से परे की नहीं हैं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि 'आल्हा' में कतिपय ऐसे पात्रों तथा स्थानादि के नाम तथा घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं जिनका इतिहास-सम्मत होना असन्दिग्ध है। चन्देलवंशी परमाल (परमर्द्दिदेव), चौहानवंशी पृथ्वीराज और गहरवार जयचन्द तीनों ही ऐतिहासिक पुरुष हैं। महोबा-कालिञ्जर यदि चन्देलों का शासन है तो दिल्ली-अजमेर पर चौहानों का प्रभुत्व। इसी प्रकार काशी-कन्नौज गहरवारों के अधीन है। 'आल्हा' में इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन है।

चन्देलवंशी नन्नुक ने नवीं शताब्दी में परिहारों को परास्त कर जेजाकभुक्ति[७] (बुन्देलखण्ड) में अपनी सत्ता स्थापित की थी। लगभग दो सौ वर्षों का समय इस वंश के लिए स्वर्ण-युग था। धङ्गराज इस राज का प्रतापी राजा था। इस वंश की पुरानी राजधानी खजुराहो थी। महोबा बाद में राहिल द्वारा राजधानी बनी। राजा परमाल (राज्यकाल सन् ११६५ से १२०३ ई०) महोबा के मदनवर्मा का पौत्र था जिसे केन्द्र बनाकर 'आल्हा' की रचना हुई।[८] उसके शासनकाल में चौहानों के साथ तुमुल युद्ध छिड़ा और अन्ततोगत्वा सन् ११८२ ई० में पृथ्वीराज चौहान के हाथों परमाल चन्देल का पराभव हुआ। उस युद्ध से बच कर वह बीस वर्षों तक जीवित रहा। अन्त मे वह कालिञ्जर पर कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा आक्रमण किये जाने पर मारा गया। राजा परमाल का उल्लेख 'प्रबन्ध चिन्तामणि' और 'पुरातनप्रबन्ध संग्रह' मे भी मिलता है।

परमाल के समय के कई शिलालेख महोबा, अजयगढ़, मदनपुर, कालिञ्जर और खजुराहो से मिले हैं।[९] मदनपुर वाले मन्दिर के शिलालेख में 'आल्हा' नाम आया है। इसी प्रकार बटेश्वर मन्दिर वाले शिलालेख में मलखान को सुलखान (सुलक्षण) का भाई बतलाया गया है। इससे आल्हा के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में कोई सन्देह नहीं है। इनके पिता का नाम दक्षराज और चाचा का नाम वक्षराज था। दक्षराज को कई अन्य नामों—जक्षराज, जच्छराज, जस्सराज, यशराज, दस्युराज अथवा जासर से भी स्मरण किया जाता है। इसी प्रकार वक्षराज का एक अन्य नाम सौंढर भी लिया जाता है। ये दोनों ही भाई राजा परमाल के यहाँ प्रधान और उपप्रधान सेनापति थे। मे भी इनका बड़ा मान था कहा जाता है कि रानी माल्हन दे ने अपनी

दो छोटी बहनो के विवाह इन दोनों भाइयो से क्रमश कर दिया था आल्हा की माता का नाम देवल दे था। इनका बनाफरवंशी क्षत्रिय होना प्रसिद्ध है. इनके पूवजा मे क्रमश. अरिमर्दन दलमर्दन और शशिभानु के नाम विशेष रूप से लिए जाते हैं। शशिभानु के दो पुत्र पैदा हुए। आल्हा और ऊदल के पिता दक्षराज थे और मलखान तथा सुलखान के पिता वक्षराज थे। दक्षराज राजा परमाल की सेना का सेनापति रह चुका था जिसकी मत्यु के बाद परम्परानुसार आल्हा स्थानापन्न हुए।

फिर भी, परमाल सम्बन्धी जो वर्णन 'आल्हा' में आये हैं उनमे कदाचित दन्तकथा की मात्रा अधिक है, ऐतिहासिक तथ्यों की मात्रा कम। ग्रियर्सन ने ठीक ही लिखा है कि "आल्हखण्ड मे जो कुछ कहा गया है वह इतिहास नहीं, दन्तकथा है। उसके मुख्यपात्र ऐतिहासिक हैं अवश्य, किन्तु उनके साहस तथा पराक्रमपूर्ण वर्णित कार्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं।"

'आल्हा' के साथ उसके रचयिता जगनिक का नाम जुड़ा होने के कारण कुछ लोग उसे लोक-काव्य की कोटि में रखना नहीं चाहते। किन्तु दूसरे लोग उसके मौखिक परम्परा का होने के आधार पर उसे लोक-काव्य स्वीकार करने में कोई वैसी आपत्ति नही करते। बुन्देलखण्ड में भी इस लोककाव्य को 'आल्हा' या 'सैरा' कहने की परिपाटी है। यही नहीं, इस लोककाव्य के नाम पर 'आल्हा' नामक छन्द ही चल पड़ा है।

सन्दर्भ सङ्केत—

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ३२८। २. The Lay of Alha, Introduction, pp. 9-10। ३. Ibid. pp. 9-10। ४. 'गहरवार गोयन्द भाट जगनिक ढिग बुल्लिय', छन्द १३७ तथा, 'जगनक भट्ट अबै घर जावहु', छन्द १८९। ५. Calcutta Review-vol. XII-XIII., 1875-76। ६. उदयनारायण तिवारी और भागीरथप्रसाद दीक्षित : वीरकाव्य संग्रह, पृ० ३८-९। ७. Indian Antiquary, Vol. 1, p. 139। ८. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ३४२-४३। ९. बुन्देलखण्ड का इतिहास, गोरेलाल तिवारी, काशी संस्करण।

'विनयपत्रिका' की भाषा

• रामस्वरूप चतुर्वेदी

'विनयपत्रिका' की भाषा की विशेष चर्चा इस प्रसङ्ग में होती है कि तुलसी की सभी मुख्य रचनाएँ अवधी में हैं, केवल 'विनयपत्रिका' ऐसी है जिसकी काव्य-भाषा का आधार ब्रज है। प्रस्तुत निबन्ध में 'विनयपत्रिका' की इस ब्रजभाषा की प्रकृति का विश्लेषण अभीप्ट है। आरम्भ मे ही इस अध्ययन की सीमाओं का निर्देश कर देना उचित होगा। मध्यकालीन साहित्य के भाषा सम्बन्धी विश्लेषण में उसकी पाठ-समस्या का तत्त्व विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि 'सूरसागर' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में संज्ञा-विशेषण-क्रिया के 'औ' रूप मिलते है और कुछ अन्यों में 'ओ' रूप । स्वभावत: ऐसी स्थिति में पाठ-सम्बन्धी मौलिक खोज की अपेक्षा भाषा के अध्येता से नहीं की जा सकती; वह तो प्राप्त संस्करणों में से जिस का पाठ सब से अधिक प्रामाणिक है और वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है, उसी के आधार पर अपना विश्लेषण करेगा। उल्लेखनीय यह है कि जहाँ अन्य प्रकार के अध्ययनों में (जैसे प्रतीक या बिम्ब-विधान सम्बन्धी अध्ययन, कथा-वस्तु की दृष्टि से विश्लेषण, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन अथवा समूची कृति का एक रचना की दृष्टि से अध्ययन आदि में) पाठ-सम्बन्धी त्रुटियों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ेगा, वहाँ भाषा-सम्बन्धी अध्ययन में पाठ की छोटी-मोटी भूलें—कम से कम लिपिकार की अपनी प्रवृत्तिगत भूलें—विवेचन को काफ़ी ग़लत दिशा में ले जा सकती हैं और निष्कर्षों को दूषित कर सकती हैं। मध्यकालीन साहित्य की भाषा के अध्येता का यह बड़ा कमज़ोर पक्ष है, पर इस नितान्त निर्भरता के भाव से वह अपने को मुक्त भी नहीं कर सकता। अन्ततः उपलब्ध सस्करणों पर निर्भर रहने की उसकी सीमा मूलतः पद्धतिक है, जिससे उसका निस्तार नहीं।

यह कठिनाई 'विनयपत्रिका' के प्रसङ्ग में और बढ़ जाती है, क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक रीतियों से सम्पादित उसका कोई संस्करण अभी उपलब्ध नहीं है। प्राप्त संस्करणो मे गीता प्रेस, गोरखपुर के संस्करण का पाठ अधिक विश्वसनीय माना जाता है। प्रस्तुत निबन्ध मे उक्त संस्करण (गीता प्रेस, पञ्चम संस्करण) को ही अध्ययन का आधार बनाया गया है।

'विनयपत्रिका' की भाषा को लेकर सबसे पहली बात यह दिखती है—और यह

विनयपत्रिका ही नही समूची मध्यकालीन काव्य भाषा की प्रवत्ति है कि सज्ञा शब्दावली मे तत्सम रूपो का आधिक्य है जो बोलचाल का भाषा ओर साहित्यिक भाषा के बीच के एक मुख्य अन्तर को व्यक्त करता है। यह अन्तर अलग-अलग कालो मे कम या अधिक होता रहा है और इन दोनों भाषा-स्तर के तनाव में काव्य-भाषा का अपना रूप निर्मित होता है। आधुनिक साहित्य मे वाह्य विधान के स्तर पर इस अन्तर को कम से कम कर देने की उत्कट और सजग चेष्टा लक्षित की जा सकती है। पर मध्यकालीन काव्य, जनता की बोलियों का आधार स्वीकार करते हुए भी वोलचाल की भाषा में नही लिखा गया। यह प्रवृत्ति 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' दोनों ही के सीमित विश्लेषण से देखी गई है। इस प्रसङ्ग में कुछ अन्य साक्ष्यो की ओर भी सङ्केत किया जा सकता है।

'विनयपत्रिका' की भाषा में ब्रज की ठेठ शब्दावली--संज्ञा शब्दावली—प्राय: नही के बराबर है, इस तथ्य की ओर कम लोगों का ध्यान जाता है। केवल व्याकरण के रूपों को, यदि ठीक-ठीक कहा जाए तो एक कृत्रिम ढङ्ग से, समकालीन प्रचलित और मान्य काव्य-भाषा ब्रज के अनुकूल बनाने का यत्न किया गया है। यहाँ प्राचीन अंग्रेजी काव्यभाषा के प्रसङ्ग में कही गई जैस्पर्सन की बात अनायास याद आ जाती है—"कविता की भाषा समूचे इंग्लैण्ड में किसी सीमा तक एक ही रही जान पड़ती है, कुल मिला कर एक कृत्रिम ढङ्ग की बोली, जिसमें देश के उन सभी भागों के शब्द घुल-मिल गए, जहाँ कविता लिखी जाती है।"[1] मध्यकालीन मध्यदेश मे ब्रजभाषा की स्थिति प्राय: ऐसी ही रही। यही कारण है कि रीतिकाल और भक्तिकाल, तथा एक सीमा तक आदिकाल के ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में ब्रज की ठेठ शब्दावली प्राय: कम मिलती है, विशेषत: ऐसे कवियों की रचनाओं में जो ब्रज-क्षेत्र के बाहर रहनेवाले थे। 'विनयपत्रिका' की भाषा का रूप इसी सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए।

कवि ने अपनी भाषा—जिसमें तत्सम शब्दावली का आग्रह है—को जन-भाषा का आभास देने के लिए एक बड़े कौशलपूर्ण उपाय का प्रयोग किया है। 'विनयपत्रिका' में संस्कृत की तत्सम शब्दावली को बहुत बार कृत्रिम ढङ्ग से तद्भव बनाया गया है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द-प्रयोग लिए जा सकते है—तीछन (तीक्ष्ण), संग्रह्यो, त्रिजग (तिर्यक), जातना (यातना), तीव्र (तीव्र), दुरासा (दुराशा), अलप (अल्प) आदि। काफी संख्या में मिलने वाले ये कृत्रिम तद्भव शब्द किसी बोली के नहीं हैं। कवि ने इन संस्कृत शब्दों के उच्चारण को कुछ विकृत करके इन्हे अपने ढङ्ग से तद्भव बनाना चाहा है। यह प्रवृत्ति तुलसी में ही नहीं, कबीर में भी मिलती है जिन्होंने संस्कृत के बहुत से शब्दों को अज्ञानवश नहीं, जान-बूझ कर कृत्रिम तद्भव रूप दिया है। पर इस प्रक्रिया में दोनों कवियों की मूल दृष्टि अलग-अलग है। संस्कृत शब्दों को विकृत करने में कबीर संस्कृत के प्रति अपनी अवज्ञा व्यक्त करते हैं, पर तुलसी ने कृत्रिम तद्भव बनाए हैं आत्मीयता और निकटता का भाव उत्पन्न करने के लिए। यह अन्तर दोनों कवियों के शिष्ट और संस्कृत परम्परा के प्रति दृष्टिकोणों को प्रकट करता है।

मध्यकालीन भाषा की प्रकृति के अनुरूप 'विनयपत्रिका' में फ़ारसी शब्दावली सहज रूप में व्यवहृत हुई है, पर इस शब्दावली का ८ रूप बराबर हिन्दी की प्रकृति के

अनुसार है और यथासम्भव देशी सन्दर्भों में घुल-मिल जाने वाले फ़ारसी शब्दों को ही प्रयुक्त किया गया है।

यह तो शब्द-समूह की स्थिति हुई। व्याकरणिक ढाँचा, जैसा पहले सङ्केत किया गया है 'विनयपत्रिका' में ब्रजभाषा का रक्खा गया है। यद्यपि जगह-जगह अवधी का मिश्रण भी देखा जा सकता है। कुछ ऐसे भी छन्द मिलते हैं जिनमें ब्रजभाषा का साक्ष्य प्रायः नहीं के बराबर है जैसे छन्द सं० २३ या ६७। कुछ प्रयोगों में ब्रज और अवधी की प्रवृत्तियों को मिला दिया गया है। ऐसे प्रयोग कवि की भाषा सम्बन्धी विलक्षण सूझ-बूझ के परिचायक हैं। उदाहरण के लिए 'विनयपत्रिका' में बहुप्रचलित शब्द 'रावरो' को लिया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि 'रउआँ' या 'राउर' मूलतः भोजपुरी की अपनी विशिष्ट शब्दावली के अङ्ग हैं और अवधी मे भी प्रयुक्त होते हैं। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में इसी रूप में उनका प्रयोग किया है, पर 'विनयपत्रिका' में आधार-भाषा ब्रज को स्वीकार करने के कारण कवि इस ठेठ पूर्वी रूप का ब्रजभाषाकरण कर लेता है, 'राउर' 'रावरो' हो जाता है। ओकारान्त से ब्रजभाषा रूप की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार 'रामचरितमानस' में, जहाँ आधार-भाषा अवधी है, तुलसी 'राउर' का प्रयोग करते है, पर 'विनयपत्रिका' में जहाँ आधार-भाषा ब्रज है, वे मूल शब्द का रूपान्तरण 'रावरो' (स्त्री० 'रावरी') में कर लेते हैं—'बावरो रावरो नाह भवानी' (छ० सं०५), 'राम ! रावरो सुभाउ' (छ० सं० २५१)। यह पूर्व-पश्चिम का मिश्रण हिन्दी की आन्तरिक प्रकृति है, मध्यकाल में भी और आधुनिक काल में भी (शिष्ट और परिनिष्ठित भाषा का केन्द्र भले ही पश्चिम रहा हो) हिन्दी काव्यभाषा का इतिहास इसका स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

'रावरो' जैसे मिश्रित रूप कुछ और भी मिल जाते हैं। क्रिया-रूप 'छाडिहौं' (छ० सं० २६७) इसी प्रकार का उदाहरण है, जहाँ अवधी का 'छाँड़ब' और ब्रज के 'छोड़िहौं' को बड़े कुशल रूप में मिला दिया गया है।

अब हम 'विनयपत्रिका' में प्रयुक्त कुछ प्रतिनिधि व्याकरणिक रूपों का उल्लेख करना चाहेंगे जो निर्विवाद रूप से ब्रजभाषा के हैं। कोष्ठकों में दिए हुए अङ्क पद-संख्या के सूचक है।

संज्ञारूप—भरोसो (७५), सबेरो (८७), चारो (१०२), खेरो (१४३), आसरो (२६१)

यहाँ स्मरणीय है कि ब्रजभाषा में ओकारान्त या औकारान्त रूपों की तुलना में आकारान्त रूप कम नहीं होते—'विनयपत्रिका' की भाषा भी इसका अपवाद नहीं है।

सर्वनाम—मो (४), हौं (५), तो (१९), मेरो (७२), इतौ (१००)।

विशेषण—ता (४), बड़ो (५), भलौ (३२), नीको (३५), खरो (७२) भलो (१०७)।

परसर्ग—कौ (४), सों (६६), लौं (६८), तें (२५८)।

सहायक क्रिया—हौ (५)।

क्रिया—थप्यौ (४), कह्यौ (४), आयो (५), तयौ (८३), तर्‌यौ (८३), कह्यो (८६)
धरिहौ (९६), चढ़्यौ (१०८), कहौं (२१०), गयो (२३४),
लियो (२४१), लायो (२४३), कियो (२४७)।

४ , पूजिबो ८) बिलोकिबो (३१) माँगिबो (८०)।

क्रियाविशेषण—जनि (८४), नाहिनैं (२०९)।

उपर्युक्त सीमित और संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'विनयपत्रिका' की भाषा में ब्रजभाषा के 'ओ' रूप तथा 'औ' रूप (इस अर्द्धविवृत ध्वनि को सही ढङ्ग से अङ्कित किया जाए तो 'ओ' रूप)—अर्थात् ग्रियर्सन की शब्दावली में 'चालो' रूप और 'चलौं' रूप—दोनों मिलते हैं। पर 'औ' रूपों की तुलना में 'ओ' रूप निश्चय ही बहुत अधिक हैं। भाषिक विश्लेषण में भूतकालिक कृदन्त से बने क्रिया-रूपों की स्थिति विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। 'विनयपत्रिका' में ऐसे अनेक पद हैं जिनकी टेक में भूतकालिक कृदन्त से बनी ओकारान्त क्रियाएँ आती हैं (द्र०, पद सं० ८८, ९१, ९४, १९९, २००, २०२, २३९, ३४३, २४४, २४५, २७६, २७७)। ऐसे पदों में स्वभावतः ओकारान्त क्रिया रूपों की भरमार है। बहुत कम रूप ओकारान्त तथा औकारान्त दोनों प्रयोगों में मिलते हैं, उदारहणार्थ कह्यौ (४), कह्यो (८६)। शायद एक सीमा तक कवि की दृष्टि में ऐसे प्रयोग परस्पर परिवर्तनीय हों।

'विनयपत्रिका' की ब्रजभाषा में पूर्वी बोलियों के प्रयोग जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं, भले ही उनकी आवृति बहुत कम हो। कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—कस (७), हमरि (७), लहै (२१), तै (८०), तोर, मोर (११३), केरी (१२६), महँ (१८९), अस (२०४)। इस प्रसङ्ग में यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि 'विनयपत्रिका' में, जैसा सङ्केत किया जा चुका है, ठेठ शब्दावली कम प्रयुक्त हुई है, फिर भी कहीं-कहीं अवधी के ठेठ शब्द-प्रयोग मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ 'जूड़े' (२४९) अवधी-भोजपुरी का शब्द है जो प्रसन्न के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इससे प्रकट होता है कि 'विनयपत्रिका' की तत्सम शब्दावली प्रधान भाषा में जहाँ ठेठ शब्द मिलता है, वहाँ वह व्याकरणिक ढाँचे के अनुकूल ब्रज का न होकर अवधी का हो सकता है।

समग्र रूप में 'विनयपत्रिका' की भाषा[1] के विश्लेषण से प्रकट होता है कि तुलसी की इस रचना में प्रयुक्त ब्रजभाषा का रूप ठेठ और परिनिष्ठित नहीं है। 'विनयपत्रिका' में जो 'ओ' रूपों का आधिक्य है वे आज की बोली में केन्द्रीय ब्रज के न होकर पूर्वी ब्रज या कन्नौजी में पाए जाते हैं। तुलसी के समय में भी स्थिति इससे भिन्न न रही होगी। सूर से तुलना में यह स्थिति और स्पष्ट होती है। सूर की ब्रजभाषा 'औ' रूप प्रधान है, और हम वाह्य साक्ष्य से भी जानते हैं कि वह मथुरा की केन्द्रीय ब्रज पर आधारित है। तुलसी की ब्रजभाषा का आधार पूर्वी ब्रज-बुन्देली-कन्नौजी क्षेत्र का बोली-रूप जान पड़ता है, जो अपेक्षतया अवधी के कुछ निकट की स्थिति है, जिस (अवधी) के आधार पर कवि ने अपने विशाल प्रबन्ध 'रामचरितमानस' की रचना की है। बोलियों के इन आधारों में भिन्नता होने पर भी उन पर निर्मित काव्यभाषा के ढाँचे में समानता है—अप्रस्तुत विधान, व्यञ्जना-शिल्प आदि की सामान्य प्रकृति को लेकर—और फिर इन्हीं के सूक्ष्म प्रयोगों में अलग-अलग कवियों का अपना वैशिष्ट्य भी है, जो उनकी निजी सर्जनात्मक उपलब्धि है।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१ जेस्पर्सन ग्रोथ एण्ड स्ट्रक्चर आफ द इङ्गलिश लैंग्वेज, पृ० ५१।

प्राचीन हिन्दी काव्य की अर्थ-समस्या

• किशोरीलाल

'महाभाष्य' में 'सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च' के द्वारा शब्दार्थ-सम्बन्ध को शक्ति रूप में अभिहित किया गया है, किन्तु शब्द और अर्थ के सापेक्षिक महत्त्व को मूलतः मानते हुए भी अर्थ-लावण्य की उपेक्षा कभी भी नहीं की जा सकती। यही नहीं, मनीषियों ने शब्द को निरुक्त और अर्थ को अनिरुक्त माना है। शब्द व्याख्या का विषय है, अर्थ अनुभूति का। शब्द और अर्थ को दृष्टि में रखकर सम्प्रति प्राचीन हिन्दी काव्य-ग्रन्थों का सम्पादन दो दृष्टियों से हो रहा है— १. वैज्ञानिक सम्पादन तथा २. साहित्यिक सम्पादन। वैज्ञानिक पाठ-शोध में प्रधानता शब्द की होती है और साहित्यिक सम्पादन में अर्थ की। वैज्ञानिक पाठ-शोधन का कार्य श्लाघ्य होते हुए भी मूल अर्थोपलब्धि में प्रायः सहायक नहीं हो सका है। आज मूल अर्थोपलब्धि के निमित्त वैज्ञानिक पाठ के शोध-कर्त्ताओं ने भी इसकी अपेक्षा स्वीकार की है। अभी वैज्ञानिक प्रणाली से सुसम्पादित जायसी कृत 'पद्मावत' की टीका लिखते समय कई शब्दों के पाठ पर पुनर्विचार किया गया और अर्थ-सङ्गति की दृष्टि से अन्य पाठों को स्वीकार करना पड़ा। आज से कई वर्ष पूर्व पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र को घनानन्द के ग्रन्थ में प्राप्त एक ऐसी पंक्ति से पाला पड़ा, जिसकी अर्थोपलब्धि में उन्हें पर्याप्त परेशानी हुई। पंक्ति यों थीं—'त्यों वसरैन के ऐन बसै रवि मीन पै दीन ह्वै सागर आवौ'। उनकी समझ में 'रैन' के 'ऐन' में रवि का बसना ही नहीं आता था, लेकिन ज्योंही उन्होंने 'मैग्नीफाइंग ग्लास' से ध्यान पूर्वक देखा तो प्रतीत हुआ कि 'वस' में 'व' नहीं है, बल्कि 'त्र' की रेखाओं के अग्रभाग मिल गए हैं। बस, 'वसरैन' की जगह 'त्रसरैन' का ध्यान आते ही उनका अर्थ भी खुल गया और पाठ भी ठीक हो गया। अतः इन्हीं कारणों से साहित्यिक सम्पादन का महत्त्व स्वीकार करना पड़ता है। आज आलोचनात्मक ग्रन्थों के लिखने में हिन्दी के मनीषी जितनी निष्ठा व्यक्त कर रहे हैं, उतनी निष्ठा प्राचीन काव्य-ग्रन्थों के सम्पादन एवं व्याख्या में नहीं दृष्टिगत होती। सम्प्रति, प्राचीन हिन्दी काव्य-ग्रन्थों की दुर्बोधता के कारण उनका महत्त्व प्रायः क्षीण होता जा रहा है और पठन-पाठन में दुर्बोध अंशों को आज का अध्येता अस्पष्ट कहकर छोड़ देता है और स्पष्टार्थ को समास आदि की सहायता से विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए अपना तथा दूसरों का अनावश्यक समय बर्बाद करता है

ब्रजभाषा के प्राचीन टीकाकारों में सूरत मिश्र और सरदार कवि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाठों का निर्धारण इन दोनों महानुभावों ने प्रायः अर्थ के आधार पर किया है। सूरत मिश्र ने तो संवत् १७९४ के लगभग आगरे में एक गोष्ठी का भी आयोजन किया था जिसमें प्राचीन हिन्दी-काव्य के बड़े-बड़े विद्वानों ने भाग लिया था। यह गोष्ठी प्राचीन काव्यो के उद्धार और नूतन दृष्टि से काव्य-शास्त्र पर विचार करने के लिए हुई थी। सूरत मिश्र की 'रसिकप्रिया' की टीका और सरदार कवि कृत 'बिहारी सतसई' एवं 'साहित्य-लहरी' जैसे दुर्बोध ग्रन्थों की टीकाओं ने प्राचीन हिन्दी-काव्य की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाने में पर्याप्त योग दिया है। इसी सिलसिले में पण्डित जानकीनाथ जी का भी नामोल्लेख कर देना उचित होगा। उनकी ब्रजभाषा गद्य में लिखित 'रामचन्द्रिका' की टीका ने आगे के टीकाकारों को पर्याप्त लाभान्वित किया है। बीसवीं शताब्दी के टीकाकारों में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० रामेश्वर भट्ट का नाम अग्रगण्य है। तुलसीदास की कृतियों के उद्धार में इन दोनों महानुभावों का अत्यधिक सहयोग रहा है। बीसवीं शताब्दी के अन्य टीकाकारों एवं सम्पादकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन 'दीन' हिन्दी के 'मल्लिनाथ' कहे जाते हैं। इस युग में इनके अभाव का अनुभव किया जा रहा है; क्योंकि प्राचीन काव्य-धारा का वह अप्रतिहत प्रवाह अब क्षीण सा हो रहा है। अतः प्राचीन काव्यों के मूल अर्थ तक पहुँचने के लिए तथा काव्य-स्वारस्य के अस्वादन के लिए आज के प्राचीन काव्य-रसवेत्ता को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

१. प्राचीन काव्य-परम्परा का सम्यक् बोध।
२. प्राचीन लिपि-माला का पूर्ण अनुशीलन।
३. अर्थ के आधार पर शुद्ध पाठों का निर्धारण।
४. विभिन्न प्रसङ्गों में शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों से परिचय।
५. हिन्दी के अति ठेठ एवं परिष्कृत शब्द-समूहों का ज्ञान।
६. उर्दू, फ़ारसी तथा अरबी आदि शब्दों का ज्ञान तथा नवीन एवं प्राचीन कोशों का उपयोग।

वास्तव में पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा के सम्यक् ज्ञान के अभाव में हम दुर्बोध अर्थ की समस्या को हल नहीं कर पाते। कतिपय उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि सहज ही हो जाएगी। 'सूरसागर' में दो पद ऐसे मिले, जिनमें प्रयुक्त 'अम्बुज' और 'कंज' शब्द के अप्रचलित अर्थ के कारण काफी दिक्कतें उठानी पड़ीं। परन्तु ज्यों ही काव्य-परम्परा एवं कवि-प्रसिद्धि पर ध्यान दिया, अर्थ पूर्ण स्पष्ट हो गया। वस्तुतः बड़े-बड़े संस्कृत कोशों में भी 'कंज' और 'अम्बुज' 'कुमुद' या 'कुमोदिनी' के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है। सूर का वह पद उद्धृत किया जा रहा है, जिसमें 'अम्बुज' 'कुमुद' के अर्थ में आया है :—

यह ससि सीतल काहे ते कहियत।
मीनकेतु अम्बुज आनंदित, तातें ताहित लहियत।
त्रासत बिरहिन अरु कमलनि कों, यह अपकारी रथ नहियत।
'सूरदास' प्रभु मधुबन गवने, तो इतनो दुख सहियत।[1]

चन्द्रोपालम्भ के सिलसिले में गोपियाँ कह रही हैं कि यह चन्द्रमा शीतल क्यों कहा जाता है कामदेव और कुमुद आनन्दित हैं। (क्योंकि चन्द्र-प्रकाश से कामोद्दीपन होता है और कुमुद विकसित हो जाते हैं।) इसीसे वे उसके प्रेम को प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत यह अपकारी चन्द्रमा अपने रथ को जोत कर कहीं विरहिणियों को त्रस्त करता है और कहीं कमलों को जलाता है।

सूर की दूसरी कविता जिसमें 'कंज' का अर्थ 'कुमोदिनी' है, इस प्रकार है—

सरद समैंहू स्याम न आए।
को जाने काहे ते सजनी, विरहिन कहुँ बिरमाए।
अमल अकास कास कुसुमित छिति लच्छन स्वच्छ जनाए।
सर सरिता सागर जल उज्ज्वल, अलि कुल कमल सुहाए।
अहि मयंक मकरन्द कंज अलि, दाहक गरल जिवाए।[२]

अन्तिम पंक्ति का अर्थ अस्पष्ट था परन्तु ज्यों ही काव्य-परम्परा के आधार पर पूरे प्रसङ्ग पर विचार किया गया अर्थ सुस्पष्ट हो गया। इस पंक्ति के ऊपर की पंक्ति में दिन की स्थिति का द्योतन आसानी से हो जाता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि यहाँ 'कंज' 'कुमोदिनी' अर्थ में है और 'अलि' 'सखी' के अर्थ में। अर्थ यों होगा—'हे सखी! चन्द्र रूपी सर्प ने कुमोदिनी में प्रज्वलित कर देने वाला मकरन्द रूपी विष उत्पन्न कर दिया है। कुमोदिनी का मकरन्द विरहिणियों के लिए विषाक्त प्रतीत होता है।' काव्य-परम्परा में चन्द्र के साथ कमल की चर्चा कभी भी नहीं की गई है। यह वर्णन रात्रि का है। अतः रात्रि में कमल के विकसित होने की सम्भावना नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार देव के एक छन्द में कमल के लिए 'इन्दिरामंदिर' का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः 'मुख' की उपमा काव्य-परम्परा में 'चन्द्र' अथवा 'कमल' से दी जाती है। अतः यहाँ 'इन्दिरा का मंदिर' का अर्थ 'कमल' इस कारण किया गया है, क्योंकि पुराणों में लक्ष्मी का घर कमल माना गया है। वह पंक्ति इस प्रकार है :—

'इन्दिरा के मंदिर से, सुन्दर बदन वे,
मदन मूँदे बिहसें, रदन छबि छानि-छानि।'[३]

प्राचीन काव्यों के मूल अर्थ तक पहुँचने के लिए प्राचीन-लिपि माला के विभिन्न रूपों से अभिज्ञ होना नितान्त आवश्यक है। कहाँ पर 'न' को 'च' पढ़ लिया जाएगा और कहाँ पर 'व' को 'च' समझने की भ्रान्ति हो जायेगी, कहा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, 'शब्दरसायन' के एक हस्तलेख में 'च' को 'व' और 'ब' पढ़ने की भ्रान्तियाँ लोगों को हुई हैं। छन्द की पंक्तियाँ है :—

'कुंजनि के कोरे मन केलि रस चोरैं लाल,
तालन के लोरे बाल आवति है नित को।'[४]

इस छन्द की पंक्ति के 'चोरैं' को लोगों ने 'बोरैं' समझ लिया जो अर्थ की दृष्टि से उत्तम नहीं

प्रतीत होता इसी प्रकार 'भारत जीवन प्रेस' काशी से प्रकाशित देव कृत 'अष्टयाम' के एक छन्द की एक पंक्ति यों पढ़ ली गई —

अजौं लगि होत तज्यौ तजिबे को,
भज्यौ तम देखि तज्यौ परजंक।

अन्त में हस्तलेख को ध्यानपूर्वक देखने से मालूम हुआ कि 'त' और 'न' में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। इसीसे ऐसी भ्रान्तियाँ सम्भव हो सकीं। 'तज्यौ' के स्थान पर 'नज्यौ' पाठ मानने पर अर्थ स्पष्ट हो गया। अब उसका अर्थ यों होगा—'नायक एवं नायिका का मन प्रातःकाल हो जाने पर भी पर्यंङ्क छोड़ना नहीं चाहता, किन्तु अन्धकार को भागा हुआ (नष्ट हुआ) देखकर पर्यंङ्क छोड़ दिया।' कुछ विद्वानों के अनुसार देव के कुछ छन्दों में प्रयुक्त 'नूत' शब्द संस्कृत 'चूत' (आम्र) का संशोधित रूप है, क्योंकि कवि ने अश्लीलता के कारण 'नूत' शब्द का प्रयोग 'चूत' की तुलना में उत्तम समझा। 'नूत' शब्द को डॉक्टर जानकीनाथ सिंह 'मनोज' ने नूतन के अर्थ में माना है जो अर्थ की दृष्टि से उत्तम प्रतीत नहीं होता। 'चूत' की अश्लीलता हटाने की बात अधिक औचित्यपूर्ण नहीं मालूम होती, क्योंकि हिन्दी कवियों ने संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अश्लीलता का उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना हिन्दी काव्य-परम्परा और हिन्दी-काव्य की प्रकृति का। ऐसा अनुमान है कि उक्त 'चूत' शब्द लिपि-जन्म भ्रान्ति के कारण 'नूत' पढ़ लिया गया; क्योंकि 'न' का 'च' हो जाना आश्चर्यजनक नहीं।

प्राचीन-काव्यों के अनुशीलन में अर्थ की महत्ता सर्वोपरि है। अर्थ के आधार पर न जाने कितने पाठों का शुद्ध रूप कल्पित किया गया और मूल हस्तलेख के मिल जाने पर वह अनुमान सत्य प्रमाणित हुआ। वास्तव में वैज्ञानिक पाठशोध की निर्जीव प्रणाली प्राचीन-काव्य की अर्थ-गुत्थियों के खोलने में अधिक सफल नहीं हुई। कुछ उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो जाएगी। 'सुखसागर-तरङ्ग' नामक रीति ग्रन्थ में एक स्थल पर मुद्रित पाठ यों मिला —

बन्दक शिवा के चोली बन्दुक शिवा के,
गुहे मोती उतसंग के उमाके उतसंग के।[५]

'बन्दुक' शब्द का अर्थ समझ में नहीं आ रहा था, किन्तु ज्योंही 'बन्दुक' के 'क' को पृथक् करके 'शि' मे जोड़ा अर्थात् 'बन्दु (चोली का डोरा) कसि वाके' की सम्भावना की गयी, अर्थ और पाठ तत्क्षण शुद्ध हो गया। इसी प्रकार उक्त ग्रन्थ में एक ऐसी पंक्ति मिली जिसके अर्थ की सम्भाव्य स्थिति तक पहुंचने में देर लगी। पंक्ति यों है—

डासी वा बिसारी विष मेष विषधर,
उठै आठहूँ पहर विषैविष की लहर सी।[६]

'विष मेष' से अर्थ हाथ न लग सका, लेकिन पूरे अर्थ की सम्भावना करते हुए ज्योंही प्रसङ्ग पर ध्यान दिया, अर्थ शीघ्र ही खुल गया। वस्तुतः 'विषमेषु' पाठ होना चाहिए जिसका अर्थ होगा कामदेव। 'हिन्दी वृहद शब्द-सागर' के उदाहरण में भी यह शब्द अपने अशुद्ध रूप में ही उद्धृत किया गया है।

पूरी पंक्ति का अर्थ यों होगा—'उस विश्वासघाती कामदेव रूपी सर्प ने डस लिया है, जिसके कारण आठो प्रहर (विषै) विष की लहर उठा करती है।'

एक दूसरे पाठ का उदाहरण लीजिए। देवकृत 'शब्दरसायन' में एक स्थल पर एक छन्द का पाठ यों मिला—

बाहर भीतर भ्वै हरऊ, नरहौ परैं देव सु पूछन आई।
हौं हो भुलानी की भूलै सबै, कहूँ ग्रीषम मैं सरदागम माई।

'हरऊ' को 'भ्वै' से अलग करने का परिणाम यह हुआ कि अर्थ की गुत्थी प्रकृत रूप में सुलझ न सकी। ऐसा अनुमान है कि पाठ 'भ्वैहरऊ न' होना चाहिए, जिसका अर्थ होगा 'भूधरा में भी नही।' इससे भी अधिक भूलें 'व्रजमाधुरी सार' में उद्धृत उक्त छन्द में हुई हैं। उसमें 'भ्वैहरेऊ न' की जगह 'भ्वै हरै ऊन' मुद्रित हो गया है। पता नहीं सम्पादक को पाठ ही ऐसा मिला अथवा मुद्रण दोष के कारण ऐसा हो गया। डॉ० मनोज ने काशी नागरी प्रचारिणी वाली प्रति से 'शब्द रसायन' का यह पाठ शुद्ध किया है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से उस पाठ से थोड़ी भी सहायता नहीं मिलती।

देवकृत 'भवानी विलास' में एक जगह 'मंजिम' शब्द मिला है। इस 'मंजिम' का अर्थ बहुत समय तक अस्पष्ट ही रहा। पहले ऐसा अनुमान किया गया था कि कदाचित् यह फ़ारसी का शब्द है, लेकिन जब देवकृत 'शब्द रसायन' में यह शब्द 'मंजि' रूप में मिला तो अर्थ की स्पष्टता में किसी भी प्रकार की कठिनाई न हुई। 'मंजि' शब्द संस्कृत का है, जिसका अर्थ 'कोश' (कली) या 'फूलों का गुच्छा' होता है। इस शब्द का मूल अर्थ जानने के लिए संस्कृत के अच्छे कोशों का भी उपयोग करना पडा। डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'देव तथा उनकी कविता' नामक ग्रन्थ में इस 'मंजिम' के रहस्योद्घाटन का किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं किया। यद्यपि उन्होंने देव के उस छन्द की अधिक प्रशंसा की है, जिस छन्द में यह शब्द आया है। 'मंजिम' शब्द पाठ की दृष्टि से अशुद्ध है। पाठ 'मंजि में' होना चाहिए। 'भवानी विलास' के जिस छन्द में यह शब्द आया है उसमें 'ए' की मात्रा छूट गई है। वी. एस. आप्टे ने अपने 'संस्कृत अंग्रेजी कोश' में 'मंजिः' और 'मजिमन्' दो शब्द दिया है तथा 'मंजि' का अर्थ A cluster of blossoms और A Creeper तथा 'मंजिमन्' का अर्थ loveliness और beauty दिया है। मोनियर विलियम्स ने अपने 'संस्कृत अंग्रेजी कोश' में 'मंजि' और 'मंजर' जैसे दो भिन्न शब्दों का अर्थ इस प्रकार दिया है—(i) **मंजि**—Cluster of blossoms, (ii) **मंजर**—Cluster of blossoms देव के दो भिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त दोनों छन्दों की पंक्तियों को नीचे दिया जा रहा है:—

(१) मन्द हँसी अरविन्द ज्यौं विन्द ऊँचै गए दीठि में दीठि खुभै कै।
कंज के मंजिम खंजन मानौ उड़ै चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै॥[७]
(२) कंज की मंजि मैं, कुन्दन की दुति, तूखनि, इन्दु पियूषनि पोसी।[८]

'कज के मंजि मैं' का अर्थ 'कंज-कोश' उत्तम प्रतीत होता है और अर्थ-सङ्गति में पूर्ण योग देता है

सूरदास का एक पद है

गोद लिए जसुदा नंदनंदहिं।
पीत अँगुलिया की छबि छाजत, बिज्जुलता सोहति जनु कंदहिं।

× × ×

बाजीपतिअग्रजअम्बा तेहि अरक थान सुत माला गुंदहिं।[१]

सूरदास की 'साहित्य लहरी' में कुछ पाठान्तर के साथ 'बाजीपतिअग्रजअम्बा' वाली पंक्ति इस रूप में मिलती है—**'बाजापतिअग्रजअम्बा के भानु थान सुत हीन हियोरी'**''[२]। 'रत्नाकर जी' के 'बाजीपतिअग्रजअम्बा' पाठ को शुद्ध मान कर इस पंक्ति का अर्थ एक महानुभाव ने इस प्रकार किया है—''बाजीपतिअग्रजअम्बा=बाजीपति=समुद्र से निकला अश्व (उच्चैःश्रवा) उसका बड़ा भाई ऐरावत उसकी माता लक्ष्मी। लक्ष्मी का दूसरा नाम सिन्धुसुता है। इस अर्थ से मोती। अरक थान सुत=सूर्य स्थान सुमेरु (पर्वत) उसका पुत्र राहु (श्यामवर्ण)।'' पूरी पंक्ति का अर्थ यों दिया गया है—'काले रेशम में पिरोयी हुई मोती की माला धारण की हुई है।' बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को उक्त पंक्ति का शुद्ध पाठ देते समय तीन प्रतियाँ १. संवत् १८५४ मे लिखी गई पोथी—पण्डित गणेशबिहारी मिश्र द्वारा प्राप्त, २. स्टीम प्रेस, बम्बई से छपी पोथी—मुद्रणकाल संवत् १९६४, ३. काशी के रईस बाबू गोकुलदास जी की प्रति।

वस्तुतः यदि उक्त टीकाकार 'बाजापतिअग्रजअम्बा' पाठ मान कर अर्थ-सङ्गति का ध्यान रखते तो अर्थ की ऐसी खींच-तान उन्हें न करनी पड़ती। उनका अर्थ सर्वथा अशुद्ध प्रतीत होता है। 'बाजापतिअग्रजअम्बा तेहि अरक थान सुत माला गुंदहिं' का शुद्ध अर्थ इस प्रकार है—बा >जल >—जा >उत्पन्न >—जल से उत्पन्न (यहाँ 'जल' समुद्र अर्थ से है) लक्ष्मी, >—लक्ष्मीपति—विष्णु >कृष्ण >—अग्रज—बलराम >—अम्बा—रोहिणी। यहाँ रोहिणी एक नक्षत्र अर्थ में है। पुराणों में रोहिणी से लेकर अर्क (सूर्य) तक बारह सूर्य माने गए है। यहाँ बारह सूर्य से बारह की संख्या का अभिप्राय है। रोहिणी से लेकर बारहवाँ नक्षत्र स्वाती है। स्वाती सुत=मोती (यहाँ मोती की माला अभिप्रेत है)। पूरी पंक्ति का अर्थ यह है कि यशोदा कृष्ण के लिए मोती की माल गूँथ रही हैं।

देव कवि के 'सुख-सागर तरंग' में एक ऐसी पंक्ति मिली, जिसका पाठ अशुद्ध था; किन्तु अर्थ के आधार पर पाठ की स्थिति पर विचार करने पर सारी कठिनाई दूर हो गई। पंक्ति यों है:—

भूलि परी मृग को मृग चाहि भई मृगया की मृगी मृगनैनी।

'मृगचाहि' की जगह 'दृग चाहि' पाठ होना चाहिए, तभी पूरी पंक्ति का अर्थ स्पष्ट हो सकेगा। 'दृगचाहि' पाठ मानकर अर्थ इस प्रकार करना होगा—'मृगनैनी, नायक रूप मृग को नेत्रों से देखकर मृगया (शिकार) की मृगी जैसी हो गई। नायक के प्रेमपाश में आबद्ध होकर घायल हो गई। जिस प्रकार शिकारी पराधीन मृगी को बाणों से घायल कर देता है, वैसी दशा उस नायिका की हो गई है

दीनदयाल गिरि के 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' में एक शब्द के दो भिन्न पाठों को देखकर मूल अर्थ तक पहुँचने में कुछ अधिक विचार करना पड़ा है। 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' के दो संस्करण अधिक देखने को मिलते हैं—१. लाला भगवानदीन का संस्करण तथा, २. प्रो० रामदास गौड़ का संस्करण। गौड़ जी द्वारा सम्पादित पुस्तक में एक स्थल पर पाठ है—

जग को घन तुम देत हौ गज के जीवनदान (पृष्ठ २४)

तथा 'दीन' जी द्वारा सम्पादित पुस्तक में पाठ है :—

जग को घन तुम देत हो गँजि कै जीवनदान। (पृष्ठ ४१)

गौड़ जी ने 'गज के जीवन दान' की टिप्पणी यों दी है—'इतना जल जितने से हाथी तृप्त हो जाय'। वास्तव में यह अर्थ अच्छा नहीं प्रतीत होता। लाला जी ने 'गँजिकै' का अर्थ 'ढेर का ढेर' लगाया है। लेकिन अनुमान यह बतला रहा है कि संस्कृत 'गर्ज' या 'गर्जन' प्राकृत में 'गज्ज' हो गया और भाषा में पूर्वकालिक क्रिया के रूप में 'गजिके' या 'गज के' शब्द बना। इस प्रकार इसका अर्थ होगा 'गर्जन करके'।

प्राचीन काव्यों में सच्ची पैठ के लिए शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोग और उनके अर्थ पर अधिक सजग होकर दृष्टि गड़ाने की आवश्यकता है। प्राचीन काव्यों में प्रयुक्त कुछ तो ऐसे शब्द मिलेंगे जो बड़े-बड़े कोशों में भी नहीं मिलते; यथा, सूरदास के दो पदों में प्राप्त 'ग्रीवारन्ध्र' शब्द लीजिए। 'ग्रीवारन्ध्र' के सम्बन्ध में सूर-काव्य के कुछ मान्य विद्वान् वर्षों से विचार कर रहे हैं, लेकिन प्रसङ्गानुकूल वास्तविक अर्थ अभी तक लग नहीं सका है। 'ग्रीवारन्ध्र' वाली पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं—

(१) ब्रज पर बदरा लागे गाजन।
मधुबन कोप ठए सुनि सजनी, फौज मदन लाग्यो साजन।
ग्रीवारन्ध्र नयन चातक जल, पिक मुख बाजे बाजन। (सूरसागर)
(२) स्वाति बिना ऊसर सब मरियत ग्रीवरन्ध्र मत कीन्हों। (सूरसागर)

'ग्रीवारन्ध्र' का अर्थ संस्कृत के अच्छे कोशों में भी नहीं मिला। इसके अर्थ में वी० एस० आप्टे, मोनियर विलियम्स एवं 'अमर कोश' भी सहायक न हो सके। एक विद्वान ने 'ग्रीवारन्ध्र' का अर्थ 'झिल्ली' नामक बरसाती कीड़ा बतलाया है। बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'ग्रीवरन्ध्र' के स्थान पर 'रन्ध्रग्रीव' शब्द शुद्ध माना है। जो भी हो, प्रसङ्ग की दृष्टि से यह अनुमान भी ठीक जँचता है। झिल्ली के गर्दन में छिद्र होता भी है। अतः 'ग्रीवारन्ध्र' का अर्थ 'झिल्ली' ठीक प्रतीत होता है। खेद है, इस शब्द के सम्बन्ध में हस्तलेखों से भी कोई नवीन सूचना नहीं मिल सकी। इसी तरह का एक शब्द 'अलेल' है। कोशों में यह शब्द प्रायः नहीं मिलता। प्राचीन कवियों की रचनाओं में कई जगह यह शब्द मिला है। रचनाएँ नीचे दी जा रही हैं—

१- लोहू के अलेल्ले गंग, गिरिजा गलेल्ले देत,
खींच खींच खात मीच भये भव खोपरी।—(गंग कवित्त)

२ घन आनन्द बेल अलेल बसे बिलसे सुलसे रूट भूमि मुलो।
—(घनानन्द ग्रन्थावली)

३. कंचन की बेल सी अलेल इक सुन्दरी हो,
अंग अलबेल गई गोकुल की गैले है। —(कवि हृदय विनोद, ग्वाल)

गग के उपर्युक्त कवित्त में प्रयुक्त 'अलेले' का अर्थ 'घूट' किया गया है। 'घनानन्द ग्रन्थावली' के सम्पादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'अलेल' का अर्थ 'किलोल' किया है। किन्तु ग्वाल की पंक्ति में प्राप्त 'अलेल' का यथार्थ अर्थ मालूम न हो सका। घनानन्द और गंग का अर्थ यहाँ काम न चला सका। प्राचीन एवं अर्वाचीन कोशों में भी इसका उचित अर्थ न मिल सका। वी० एस० आप्टे ने अपने 'संस्कृत अंग्रेजी कोश' में इसका अर्थ यों दिया है—'अले' या 'अलेले' Unmeaning words in the dialect of the Pisachas chiefly introduced in Plays। सारांश यह है कि पैशाची में 'अलेल' निरर्थक शब्द माना गया है। मोनियर विलियम्स के कोश मे भी वही अर्थ मिलता है, जिसे आप्टे ने अपने कोश मे उल्लिखित किया है। 'अलेल' का अर्थ न समझने के कारण 'ग्वाल रत्नावली' के सम्पादक ने 'अकेली' पाठ मानकर काम चलाया है। वास्तव में 'अलेल' का प्रासङ्गिक अर्थ 'अल्हड़', 'चचल' या 'कोमल' होगा। देव ने भी इसी भाव का एक छन्द इस प्रकार लिखा है—

संग न सहेली केली करत अकेली एक,
कोमल नवेली बरबेली जैसे हेम की।—सु० सा० तरंग, छ० सं १००

एक छन्द में 'सरपंच' के विचित्र प्रयोग को देखकर ठिठक जाना पड़ा, किन्तु 'प्राकृत पैंगलम' मे उस शब्द के प्रयोग और पदों के विपर्यय विषयक नियम को जान लेने पर कठिनाई दूर हो गई। 'सरपंच' वाली पंक्ति देखें—

'अंचरन दै मुख दुगंचरन हारे, शरपंच परपंच रैनि संचरै न भीलरे।
—सु० सा० तरंग, छ० सं० ४३८

'प्राकृत पैंगलम' की पंक्तियाँ देखें—

पढमं एरिसि विप्पो बीए सरयंच जाइसिरेहिं।

'कवित्त रत्नाकर' और 'अष्टयाम' में एक शब्द 'अरंग' मिला है। 'अष्टयाम' में 'अरंग' का अर्थ 'सुगन्ध' है, लेकिन 'कवित्त रत्नाकर' में इसका अर्थ 'अड़ंगा' या बाधा किया गया है। जो भी हो, अभी तक 'अरंग' का अर्थ 'बाधा' निश्चित रूपेण नही मिल सका है। 'प्राकृत शब्द महार्णव' के पृष्ठ ७१ पर इसका अर्थ 'तरंग' दिया गया है। भला 'तरंग' इस जगह कैसे अर्थ स्पष्ट कर सकेगा ?

अब 'ओख' या 'ओखे' तथा 'ऊठ' शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोगों पर विचार कीजिए। इन शब्दो के सम्बन्ध में छन्दों को देखें

१. कवि देव सखी के सकोचन सो करि ऊठि सो औसर को बितवै।—(भावविलास)
२. कान्ह कथा कहुँ कान परी सुअचान उचौ गृह केली के ओखनि।—(भवानीविलास)
३. आनन्द में गुरु की गुरुताउ गनी गुन गौरि न काहु के ओखे।—(भावविलास)
४. चाहत तो सुख, इन्दु किया अठिलात उठी किनि, ऊठ में पूठनि।—(शब्दरसायन)
५. आँग की ऊठ उठान सो जोबन, ओठनि को रँग राज करैगो।—(गंग कवित्त)
६. गंग खरी अँगिया दरकै दिन ऊठि अँगेठनि उत्तम ठानी।—(गंग कवित्त)
७. रस रूसनै सूखियै ऊठ अनुठियै लागति जागति जोति महा।—(आनन्दघन)

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया कि एक ही शब्द, भाव-व्यञ्जना और प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम पंक्ति में 'ऊठि' का अर्थ 'बहाना' होगा। द्वितीय पंक्ति के 'ओखनि' का भी अर्थ बहाना होगा। 'ओखे' का वही अर्थ तीसरी पक्ति मे भी है। चौथी पंक्ति में 'ऊठ' का अर्थ उमङ्ग होगा। पाँचवी पंक्ति में 'आँग की ऊठ' का अर्थ होगा 'अङ्गों का उठना'। छठवीं पंक्ति में 'ऊठि' का अर्थ 'उठान' होगा। सातवीं पंक्ति में 'ऊठ' का अर्थ 'उमङ्ग या दीप्ति' होगा।

बाबू रामचन्द्र वर्मा ने अपने 'संक्षिप्त शब्द सागर' में 'ओखा' का अर्थ रूखा, सूखा, कठिन, निकट, टेढ़ी, खोटा, जो शुद्ध या खालिस न हो, चोखा का उलटा, झीना, विरल किया है। उससे उक्त पंक्तियों का अर्थ लग न सकेगा। आप्टे ने अपने कोश में 'ओखा' (ओखति) का अर्थ यों दिया है: ओखा—To be dry, to be able, be sufficient, to adorn or grace, to refuse, to word off।

भला, ऐसे अर्थ से ब्रजभाषा की उन पंक्तियों का अर्थ कैसे लगेगा?

अब 'दाव' शब्द को लीजिए। एक स्थल पर यह संस्कृत 'बन' का पर्याय है और दूसरे स्थल पर संस्कृत 'दावाग्नि' का सूक्ष्म रूप। अतः इन शब्दों की अर्थ विषयक सच्ची परख के अभाव में अर्थ कुछ का कुछ हो जाएगा। 'दाव' शब्द का प्रयोग देखें—

१. अन्तर दाव लगी रहै, धुँआ न प्रगटै सोय।—रहीम रत्नावली (याज्ञिक)
[दाव-आग]

२. मल्लिका मिलित मल पदुम के दाव की।—देवसुधा (मिश्रबन्धु)
[दाव-बन]

इसी प्रकार 'पामरी' शब्द लें। प्रकारान्तर से यह शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में कई कवियों की रचनाओं में आया है। इसके भिन्न-भिन्न प्रयोग से सम्बन्धित पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं—

१. पामरनि पामरे पड़े हैं पुर पौर लगि—ब्रजमाधुरी सार (वियोगीहरि)
२. साँमरी पाँमरी की दै सुही, बलि साँमरे पैं चली साँमरी ह्वै कै।
—पद्माकर ग्रन्थावली (विश्वनाथप्रसाद मिश्र)
३ मेरी ना पठाइन, तिहारी अनुहार ही पै, बिपदा सताई वह पाई कहाँ पामरी।
—सुषमा चरित, पृ० २७

४ काह कामरी पामड़ी जाड़ गए से काज।—रहीम रत्नावली

'पामरी' वस्तुतः संस्कृत 'प्रामार' (दुपट्टा, दुकूल) का अपभ्रंश है। प्रथम पंक्ति 'पामरे' 'पाँवड़े' के अर्थ में आया है। चौथी पंक्ति में 'पामड़ी' मखमल या बनात के से कीमती कपड़े के अर्थ में आया है।

प्राचीन काव्यान्तर्गत एक से लगनेवाले शब्दों के वैभिन्य से अपरिचित रहने के कारण भयङ्कर से भयङ्कर भूलें हो सकती हैं। ऐसे शब्दों के प्रकृत अर्थ में प्रवेश करने के लिए प्रसङ्गगत सभी सूक्ष्मताओं को जानना नितान्त आवश्यक है। ब्रजभाषा में 'धुर' शब्द के कितने प्रयोग और कितने अर्थ देखने को मिले हैं, यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। यथा,

१. धुरते मधुर मधुरसहू विधुर करे, मधुरस बेधि उर गुर रह फूली है।
—देव और बिहारी (कृष्णविहारी मिश्र)

२. धुरही ते खोटो खायो है।—भ्रमरगीत सार (रामचन्द्र शुक्ल)

३. धुरकी लगन लगी अति गाढ़ी, बाढ़ी चोप चटक अति प्यारी—घनानन्द।

४. भयो है उचाट करनाट नरनाहन, डोल उठी छाती गोलकुंडा ही के धुरकी
—भूषण ग्रंथावली

५. उर सों लगी ही बधू विधुर अधर चूमि,
मधुर सुधान बातें सुनिबे सुभाव की—देवसुधा (मिश्रबन्धु)

प्रथम पंक्ति में 'धुरते' का अर्थ 'मूलतः' है और 'विधुर' 'अस्तित्वहीन' के अर्थ में हैं। पाँचवी पंक्ति में 'बिधुर' का अर्थ 'काँपना' किया गया है। 'विधुर' स्त्री विहीन पति को भी कहा जाता है। दूसरी पंक्ति में 'धुरहीते' का अर्थ 'प्रारम्भ से' है। तीसरी पंक्ति में 'धुरकी' का अर्थ 'चरम सीमा की' होगा। चौथी पंक्ति में 'धुरकी' का अर्थ विद्वान सम्पादन ने 'शीर्षस्थान' किया है।

प्राचीन काव्यों के अध्ययन-अध्यापन में दुरूहता का एक मूल कारण यह भी है कि हम हिन्दी के अति ठेठ और परिष्कृत शब्दों से अधिक परिचित नहीं हैं। ब्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी भोजपुरी तथा मैथिली आदि भाषाओं के न जाने कितने शब्द पुरानी रचनाओं में भरे पडे हैं, जिनसे हम सहसा अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते। एक बार हठी कवि के 'राधासुधाशतक' के एक छन्द पर विचार करते समय अवधी का एक ऐसा ठेठ शब्द मिला, जिसे आज भी ग्रामीण बोला करते हैं। अवधी का वह शब्द 'लपटी' है। यह 'छोटा' अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा,— 'बेटउना लपट पड़ी [लड़का छोटा पड़ेगा]। एक विद्वान् ने 'लपटी' के सम्बन्ध में अपना सुझाव देते हुए बतलाया कि वास्तविक शब्द 'लवटी' है, उसका अर्थ छोटा होता भी है। भाषा में 'प' का 'व' रूप में परिवर्त्तन प्रायः हुआ करता है। जो भी हो, है यह ठेठ अवधी का शब्द। पंक्ति देखें —

पीत पटी दुपटी कटि में, लपटी लकुटी हठी मो मन भाई।—राधा सुधा शतक।

ब्रजभाषा में मिलने वाले 'खिसी' और 'जेट' शब्द लें। 'खिसी' का प्रयोग प्रायः 'लज्जा' के अर्थ में होता है, लेकिन इसके इस रूप से अपरिचित रहने के कारण एक विद्वान ने   की रचना मे

प्राप्त इसी शब्द का अर्थ खिसियाना' लगाया। 'जेट' शब्द आधुनिक कोशों में प्राय. नही मिलता। 'जेट' का प्रयोग घनानन्द के एक छन्द में मिला है। वहाँ इसका अर्थ 'छवि' किया गया है। प्रसङ्ग से यह अर्थ उत्तम प्रतीत होता है। लेकिन सन् १८९४ में प्रकाशित 'श्रीधर भाषा कोश' में 'जेट' का अर्थ ढेर, समूह तथा परत है। इस अर्थ से घनानन्द का भाव स्पष्ट नहीं हो सका। घनानन्द की पंक्ति देखें :—

ब्रजमोहन देख्यो चेट की।
भूलत नाँहि भटू कैसेहूँ भरनि सुघलकनि जेट की।—घनानन्द ग्रन्थाली

'सूरब्रजभाषा कोश' में 'जेट' की जगह 'जेठ' मिला है, उससे भी छवि का अर्थ नहीं द्योतित होता। घनानन्द में प्राप्त 'मँगारि' शब्द के वास्तविक अर्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को है। ठाकुर अमीर सिंह ने स्वसम्पादित 'रसखानि और घनानंद' नामक ग्रंथ मे 'मँगारि' का अर्थ 'छोकड़ी' दिया है जो सर्वथा अशुद्ध है। अपने किसी मित्र से आचार्य मिश्र ने सुना कि ब्रज में होली जलने के लिए 'होली मंगल गई' बोला जाता है। आचार्य जी ने 'मँगारि' का अर्थ 'मंगल' (जलने के अर्थ में) आसानी से समझ लिया। यह शब्द भी अद्यावधि कोशों में नही आ सका है। घनानन्द में प्रयुक्त 'अतीत' 'अतिथि' का अपभ्रंश है, यह 'श्रीधर भाषा कोश' से ज्ञात हुआ। मीरा की रचनाओं की टिप्पणी में एकस्थल पर यह 'चहर की बाजी' का अर्थ 'चिड़ियों का खेल' किया गया है। 'चहर' का अर्थ 'चिड़िया' कैसे हुआ, स्पष्ट नही है। 'देव सुधा' में एक जगह (प० १४१) 'पौनी' शब्द आया है। 'पौनी' अवधी में किसी उत्सव में पुरस्कार माँगने वालों के लिए आता है। भोजपुरी में 'पौनी' निम्न श्रेणी के उन लोगों को कहा जाता है जो परिवारों में बँधे-बँधाए ढङ्ग से नियमित रूप से काम करते हैं; जैसे धोबी, चमार, नाऊ आदि। उसमें यही अर्थ होना चाहिए, किन्तु वहाँ उसका बड़ा भ्रमात्मक अर्थ दिया गया है। 'पौनी' अति ठेठ शब्द है। यह जायसी की रचनाओं में भी आया है। 'खोरे' (पृ० १२८) शब्द की भी टिप्पणी उक्त ग्रन्थ मे ठीक नहीं जँचती। अवधी में 'खोरना' स्नान के लिए आता है। वहाँ स्नान का ही अर्थ है, लेकिन 'गली' अर्थ दिया गया है। अवधी का एक अति ठेठ शब्द 'एकआँक' है। इसका अर्थ निश्चय, भलीभाँति होता है। इसे प्राचीन हिन्दी कवियों ने खूब इस्तेमाल किया है। 'रामचरित मानस' मे भी यह शब्द आया है; यथा—

एकहि आँक इहै मन माही।

देव में यह शब्द 'इकंग' रूप में आया है। उदाहरण के लिए,—

'बाल सुखदेनी मृगनैनी के बनावत है,
बेनी को बनावत गहे इकंग कंगही। —सु० सा० ल०

'हनुमान बाहुक' के टीकाकार महावीरप्रसाद मालवीय 'वैद्यवीर' ने अवधी के इस ठेठ शब्द को न जानने के कारण अत्यन्त भ्रष्ट अर्थ दिया है। 'हनुमान बाहुक' की टीका का वह अंश उद्धृत किया जा रहा है—

"जागत सोवत बैठे बागत विनोद मोद,
ताके जो अनर्थ सो समर्थ एकआँक को

"जागते सोते बठ्ते डोलते क्रीडा करते और पवनकुमार के) सेवक का अनिष्ट चाहेगा एसा कौन सिद्धान्त का समथ है ?

'बिहारी सतसई' में एक जगह 'कूर' शब्द 'मूढ़' अर्थ में आया है; यथा 'भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।' इसी शब्द का प्रयोग रहीम ने अपने एक दोहे मे भी किया है। इसके 'मूढ' अर्थ पर रहीम के सम्पादकों का ध्यान बहुत कम पहुँचा। अतः भ्रम बना ही रहा। भिन्न-भिन्न सम्पादकों की भिन्न-भिन्न टिप्पणी देखें।

१. रहिमन शतक—'कूर'—खराब (लाला भगवानदीन 'दीन')
२. रहीमरत्नावली—'कूर'—मूढ़ (मायाशंकर याज्ञिक)
३. रहिमन विलास—कूर —दुष्ट (बाबू ब्रजरत्नदास)

देव के 'अष्टयाम' में एक जगह 'कूकरा' का अर्थ बड़ी देर बाद समझ में आया। वास्तव मे सस्कृत के 'कुक्कुट' का अपभ्रंश 'कूकरा' है। 'वृहद् शब्द सागर' में 'कूकरा' शब्द कुक्कुट के लिए नही मिला। वहाँ 'कूकरा.' श्वान अर्थ में गृहीत हुआ है। 'कुकना' क्रिया से ही यह मालूम हुआ कि श्वान नहीं है। अवधी भाषा में 'सुंठि' शब्द 'अधिक' के अर्थ में आया है और ब्रजभाषा में 'सुष्ठु' के अर्थ मे। इस पार्थक्य को न जानने के कारण भी पर्याप्त भूलें हुई हैं। ब्रजभाषा का एक ठेठ शब्द 'दावरो' लाला सीताराम बी. ए. द्वारा संग्रहीत 'सेलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर' के पञ्चम भाग में देखने को मिला। लोग 'डावरो' से तो परिचित थे, लेकिन इस शब्द से प्रायः अनभिज्ञ थे। पंक्ति नीचे दी जा रही है—

मैं न सुन्यो तब ते कछु और सुन्यो जब ते गुन दीरघ दावरो।

ऐसा अनुमान है कि 'डावरो' या 'दावरो' संस्कृत 'डिम्ब' का अपभ्रंश है। मारवाड़ी में बच्चे के लिए 'टाबर' का प्रयोग होता है और फ़ारसी में 'तबार' का। 'दावरो' शब्द कोशों में नहीं आ सका है। 'सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर' के पञ्चम भाग में ही एक स्थल पर 'पाथ' का अर्थ 'ओला' देखकर आश्चर्य हुआ। 'पाथ' का 'जल' अर्थ तो सर्वत्र मिला है लेकिन 'ओला' अर्थ अद्यावधि कोशों में भी नहीं आ सका है। कोशों में 'पाथ' के प्रायः निम्नलिखित पर्याय देखने को मिलते हैं—पाथ [सं० पाथस्] जल, सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु [सं० पथ] रास्ता, मार्ग। 'पाथ' शब्द वाली पंक्ति नीचे दी जा रही है—

साथ रही दृग पाथ रही धुरि पाथ रहो तन हाथ रही।

केशव के 'विज्ञान गीता' में प्रयुक्त 'परिग्रह' शब्द के कारण पहले लाला भगवानदीन परेशान हुए और 'केशव पंचरत्न' में इस शब्द का अर्थ 'पूर्णरूपेण' लिखा, लेकिन 'मेदनी कोश' को देखने पर लाला जी को शुद्ध अर्थ मिल गया और उन्होंने रामचन्द्रिका में 'परिजन या निकट' अर्थ दिया। एक स्थल पर संस्कृत 'कृशानु' का विकृत रूप 'किसान' देख कर रुक जाना पड़ा, क्योंकि कोशों में किसान. खेतिहर के ही अर्थ में आया है। 'कृशानु' का विकृत रूप 'किसान' पंक्ति में देखें

मदन किसान की लपट घुम लपटी कि सान धरे नैन बान बेधनि किसान की
—सुखसागर तरंग, छंद सं० २९३

'देवसुधा' में 'काहल' शब्द की टिप्पणी' देखकर परम आश्चर्य हुआ। मिश्र बन्धुओं ने 'काहल' का अर्थ 'अप्सरा' दिया है। 'काहल' का अप्सरा अर्थ किस आधार पर किया गया है, यह स्पष्ट नहीं है। 'आप्टेकोश' में 'काहल' शब्द का अर्थ इस प्रकार है :—काहला—A large drum (Military)। काहली— A young women। 'प्राकृत शब्द महार्णव' में 'काहल' का अर्थ दिया हुआ है—वाद्य विशेष, तरुणी, युवती। वस्तुतः 'काहला' मिलेटिरी का कोई बाजा है। मोनियर विलियम्स ने भी इसे A kind of musical instrument (एक प्रकार का सङ्गीतात्मक यन्त्र) माना है। ऐसी परिस्थिति में 'काहल' का अर्थ अप्सरा करना समीचीन नहीं मालूम होता। 'काहल' शब्द वाली पंक्ति देखें—

'गुंजत ढोल कदंबक पुंज कोलाहल काहल नादति तामें।—देवसुधा

स्वयंभू (९ वीं शताब्दी) के 'पउम चरिउ' (२४–२) में भी इसका उल्लेख बाजे के ही अर्थ में मिलता है। यथा—

'ताल कंसाल कोलाहलं काहलं।

'प्राकृत पैङ्गलम्' में भी यह शब्द छन्द की मात्राओं के सङ्केत रूप में आया है, लेकिन एक स्थल पर इससे सङ्गीतात्मक यन्त्र की सूचना मिलती है —

संखं फुल्लं काहल रवं असेसहि होति कणअ लअं।

'राजतरंगिणी' में भी 'काहल' शब्द बाजा के अर्थ में आया है।

प्राचीन हिन्दी काव्य के अनुशीलन में विदेशी शब्दों के ज्ञान से विरत रहने की आवश्यकता अब नहीं रह गई है। प्राचीन काव्यों में न जाने कितने अरबी, फ़ारसी और उर्दू के शब्द भरे पड़े हैं; उन्हें जाने बिना मूल अर्थोपलब्धि की सम्भावना नहीं की जा सकती। कुछ उदाहरणों से स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। पहले फ़ारसी का 'ज़मीदोज' शब्द लीजिए। यह शब्द 'गंग' और 'ग्वाल' दोनों की रचनाओं में आया है, लेकिन दोनों में भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। पहले 'ग्वाल' की रचना देखें—

अजब अनूठे विधि किले द्वै बनाए हैं,
सो ऊँचे होत आवत न होत जिमीदोज हैं।—कवि हृदय विनोद पृ० ७१

यहाँ 'जिमीदोज' का अर्थ धराशायी है। अब गंग का नमूना लीजिए—

रगमगे मखमल जगमग जमीदोज,
औैर सब जे वे वेस रूप सकलात हैं।—गंगकवित्त पृ० ११६

यहाँ जमीदोज' एक प्रकार का 'खेमा' माना गया है. अब फारसी के 'रोज' शब्द पर विचार कीजिए। यह शब्द बिहारी, जायसी और कबीर तक की रचनाओं में मिला है। बिहारी में यह शब्द यों आया है—'रोज सरोजन कै परै हँसी ससी की होय'। 'रोज' का अर्थ विषाद है। जायसी में 'रोज' का प्रयोग देखें—'जहाँ गरब तहँ पीरा, जहाँ हँसी तहँ रोज।' कबीर में यह शब्द इस प्रकार है—'गावन ही में रोज है रोवन ही में राग।' विदेशी शब्दों के ज्ञान के साथ ही प्राचीन एवं अर्वाचीन कोशों से भी कभी-कभी आशातीत सफलता मिलती है। एक संस्कृत कोश में 'दशा' का अर्थ 'दीपक की वर्तिका' मालूम होने पर देव के एक छन्द का अर्थ अति स्वाभाविक रूपेण ज्ञात हुआ था। पदांश है—'भीजि सनेह सो देह दशा विरहागिन लागि खरी पजरी जू।' इसका अर्थ इस प्रकार है—'दूती कृष्ण से नायिका का विरह निवेदन करती हुई कह रही है कि हे कृष्ण, आप के स्नेह (तेल अथवा घी) से भीग कर नायिका की देह रूपी वर्तिका विरहाग्नि से प्रज्वलित हो गई।' जहाँ हम किसी शब्द के पीछे परेशान रहते हैं वहाँ कभी-कभी इधर-उधर के कोशों से हमारी समस्या प्राय: सुलझ जाती है। सत्य तो यह है कि हिन्दी के प्रभूत आकर-ग्रन्थों के अध्ययन, आलोचना एवं मन्थन में इन कोशों को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ-सङ्केत :—

१. सूरसागर, प्र० सं०, ना० प्र० सभा, काशी। २. वही, द्वितीय खण्ड। ३. देवकृत 'शब्द रसायन' (सम्पादक डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज') प्र० सं०, पृ० ९५। ४. वही, पृ० ६५। ५. सुखसागर तरङ्ग, सन् १८९८, छ० सं० ४७। ६. वही, पृ० २०६। ७. देवकृत 'भवानीविलास', प्र० सं०, छन्द सं० २३। ८. देवकृत 'शब्द रसायन' (सम्पादक डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज') पृ० १००। ९. सूरसागर, प्र० सं०, ना० प्र० सभा, काशी, पद सं० १०७। १०. साहित्य लहरी (सरदार कवि की टीका), सन् १९२९, पृ० १६।

प्रतिपत्तिका

एक

•

भाषा शास्त्रीय सामग्री-सङ्कलन

•

अमरबहादुर सिंह

प्रत्येक विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सम्यक् मात्रा में तथ्यों की अपेक्षा होती है। इन्हीं तथ्यों को आधार मानकर अध्येता अपने निष्कर्ष निकालता है और निष्कर्षों के आधार पर उस विषय के सैद्धान्तिक नियमों का प्रतिपादन करता है। सामग्री अथवा तथ्य जितनी ही प्रचुर मात्रा में होंगे, निष्कर्ष उतने ही ठोस एवं आदर्श तथा नियम सार्वजनीन होंगे। सामग्री की प्रकृति और अध्ययन की प्रणाली विभिन्न विषयों के आधार पर एक सीमित दायरे के भीतर विभिन्न रूप लेते हैं। प्राकृतिक नियमों का प्रतिपादन भी इसी नियम के आधार पर किया जाता है। ये नियम मूलभूत एकता के साथ कतिपय परिवेश-जन्य सन्दर्भों में देशकाल पर निर्भर करते हैं। यदि यह सत्य है कि सामग्री-सङ्कलन की एक सैद्धान्तिक प्रणाली है तथा उसका पालन किए बिना वास्तविक अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता तो यह भी उतना ही सत्य है कि सामग्री की प्रकृति, उसके सङ्कलन की प्रणाली तथा सङ्कलयिता का प्रशिक्षण अध्ययन की दिशा का सङ्केत करते हैं तथा नियमों के प्रतिपादन को प्रभावित करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में भाषा के सामग्री-सङ्कलन—प्रणाली, प्रकृति, सीमाएँ, आवश्यकता और महत्त्व आदि—पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

भाषा के सामग्री-सङ्कलन पर विचार करते समय पाठक के मन में दो आधारिक प्रश्न उठ सकते हैं। प्रथम, भाषा की सामग्री क्या है तथा दूसरा, यह सङ्कलन क्यों ? ये दोनों ही प्रश्न जिज्ञासा एवं उत्सुकतापूर्ण हैं तथा इनका उत्तर देना प्रत्येक अध्येता के लिए एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। पाठक से पूर्व सूचयिता इन्हीं दोनों प्रश्नों को सङ्क०(सङ्क०लयिता) के समक्ष कार्य की विभिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न सन्दर्भों में एक बार नहीं वरन् कई बार प्रस्तुत करता है तथा सङ्क० को पूर्ण धैर्य एवं सावधानी के साथ इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इन प्रश्नों के

विषय मे दो चार शब्द यहा अप्रासङ्गिक न होगे भाषा की सामग्री से अभिप्राय उस सामग्री से है जिसे सङ्क० भाषा के बोलनेवालो से अपने अध्ययन के हेतु एकत्र करता है भाषा हमारे विचारो का मुखर अर्थवान ध्वनियों के माध्यम से आदान-प्रदान करने का साधन है। इसका अद्यतन रूप बोलनेवालों के बीच रहता है तथा उनकी वाणी पर जीवित रहता है। अस्तु, जीवित एवं जीवन्त भाषा के रचनात्मक अथवा व्याख्यात्मक अध्ययन के लिए अध्येता को बोलनेवालों का सहारा लेना पडता है और भाषा के विभिन्न अङ्गों से सम्बन्धित भाषा-रूपों को प्राप्त करना पड़ता है। अतएव भाषा की सामग्री को सङ्क० द्वारा सूच० (सूचयिता) से प्राप्त भाषा के विभिन्न रूपों का सम्यक् और सर्वाङ्गीण विवरण प्रस्तुत करने वाला भण्डार कहा जा सकता है। एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि इस सामग्री को सैद्धान्तिक दृष्टि से कतिपय सीमाओं—विशेषतया देश, काल एवं सूचयितापरक—के भीतर रखना पड़ता है। भाषा की सामग्री की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकार लेने के पश्चात् 'सङ्कलन क्यों' से सम्बन्धित एक आनुषङ्गिक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि जब भाषा के लिखित एवं अन्य प्रकारेण व्यवहृत रूप प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं तो इस प्रकार का सङ्कलन कहाँ तक व्यवहार्य, उचित एवं वैज्ञानिक है। इस प्रश्न का उत्तर अपेक्षाकृत कुछ कठिन है क्योंकि इसमे सैद्धान्तिक एवं अध्ययनपरक मान्यताओं का सङ्घर्ष सन्निहित है। ऊपर यह सङ्केत किया गया है कि जीवित एवं जीवन्त भाषा का स्थान बोलनेवाले की वाणी पर है। लिखित भाषा सर्वथा अद्यतन रूपों का वहन नहीं करती, क्योंकि उसे परम्परा और व्याकरण के कगारों के बीच प्रवहमान होना पडता है तथा नया मार्ग अपनाने के पूर्व उसे लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। व्याकरण सदैव परम्परा की दुहाई दे कर भाषा को दाहिने-बाएँ स्वेच्छा से न चलने के लिए विवश करता है, वह भाषा के नवोन्मेषों को तभी स्वीकारता है जब वे घिस कर अपने नयेपन का खुरदुरापन छोड़ देते हैं। अतएव भाषा के तात्त्विक विवेचन के लिए उसके जीवित रूप को ही लेना पड़ता है और इस जीवित रूप की प्राप्ति के लिए सामग्री का सङ्कलन—सैद्धान्तिक प्रणालियों के आधार पर—सूच० से करना पडता है। कतिपय भाषाओं के दैनिक एव साहित्यिक प्रयोगों के रूपों में कल्पनातीत अन्तरों की उपस्थिति भी सङ्कलन की इस विधा का समर्थन करती है और भाषा के अद्यतन रूप के अध्ययन के लिए विवश करती है। इन दोनों प्रश्नों के उत्तरों में ही सामग्री-सङ्कलन की आवश्यकता का भी निर्देश हो जाता है। वैसे सामग्री के आधार पर प्रस्तुत अध्ययन भाषा विशेष की प्रकृति का सच्चा उद्‍घाटक होता है तथा भाषा के तत्त्वों का, भाषा विशेष के व्यवहृत रूपों के माध्यम से उसकी सङ्घटना का संक्षिप्त एवं नियमबद्ध रूप प्रस्तुत करता है। तात्पर्य यह कि अध्ययन भाषा को दृष्टि मे रख कर आगे बढ़ेगा और सामग्री के आधार पर सैद्धान्तिक नियमों का प्रतिपादन करने में समर्थ होगा। भाषा विशेष के ऊपर अन्य भाषाओं के सैद्धान्तिक नियम आरोपित नहीं किए जा सकेंगे तथा भाषा की सामग्री के आधार पर भाषा विशेष के 'चौखटे' उसी के अनुकूल एवं उसी के समानुपातिक रहेंगे तथा अन्य भाषाओं के 'चौखटों' के भीतर उसे खींच-तान कर भरने का प्रयास न हो सकेगा। यह बात सिद्धान्त रूप में जितनी सरल है व्यवहार में उतनी ही कठिन है, क्योंकि हम सदैव सरल मार्ग की ओर ही उन्मुख होते हैं और किसी एक भाषा के ढाँचे को ले कर उद्दिष्ट भाषा के रूपों को उसमें कुशल शिल्पी की भाँति बैठा देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि पाठकों को वह अध्ययन नीरस एवं पिष्टपेषित सा लगता है तथा उद्दिष्ट भाषा की स्वकीय विशिष्टताएँ आवरण

मे हो रह जाती है और कतिपय आरोपित अप्रस्तुत विशिष्टताएं प्रकाश मे आ जाती हैं सङ्कलित सामग्री के आधार पर किया गया पूर्वाग्रह विहीन अध्ययन उद्दिष्ट भाषा की विशिष्टताओं के प्रति कभी अन्याय नहीं कर सकता यद्यपि इसके लिए भी अध्येता को पग-पग पर अत्यधिक सतर्क रहना पड़ता है।

सामग्री-सङ्कलन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने से पूर्व हिन्दी में किए गए अब तक के अध्ययनों के लिए सामग्री-सङ्कलन कैसे होता रहा है इस पर विचार कर लेना समीचीन होगा। निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रहविहीन रूप से यदि कहा जाए तो अब तक जितने भी अध्ययन हुए हैं उनमे से अधिकांश, विशेषतया पिछले दो दशकों मे होने वाले अध्ययनों के लगभग ९०% में किसी पुष्ट सैद्धान्तिक प्रणाली का अनुसरण नहीं किया गया है। पिछले दशक से हिन्दी में विभिन्न बोलियो के अध्ययन की बाढ़ सी आ गई है। यह नया उत्साह तथा अध्ययन की यह नई दिशा नई सम्भावनाओं एवं नई उपलब्धियों की आशा बँधाने में सहायक तो अवश्य हो सकी, पर परिणाम अत्यन्त निराशाजनक रहे। ऐसा जान पड़ता है कि अध्येताओं के समक्ष अध्ययन का गौरव तो अवश्य रहा है पर अध्ययन करने की निस्पृह क्षमता एवं योग्यता का सर्वथा अभाव रहा है जिसके फलस्वरूप उद्दिष्ट भाषा का अध्ययन नवीन उपलब्धियों से वञ्चित रह गया। कभी-कभी तो इन अध्ययनों को पढ़ने के पश्चात् पाठक यह सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि अध्येताओं को विषय के सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान भी है या नहीं। इस प्रकार के दो-चार अध्ययनों को पढ़ने के पश्चात् पाठक यह निष्कर्ष निकालने लगता है कि अध्येता ने अध्ययन के महत्त्व को विषय के बाह्याडम्बर के रूप में तो अवश्य समझा है, पर उद्देश्य की प्राप्ति किस प्रकार पूर्ण सफलता के साथ की जा सकती है इसका उसे न तो ज्ञान ही है और न तो वह इसके लिए सचेष्ट ही है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इन सभी अध्ययनों में प्राय: एक ही प्रकार की पद्धति, एक ही प्रकार का विश्लेषण और एक ही प्रकार का प्रस्तुतीकरण मिलता है तथा बहुचर्चित ढाँचे को ले कर उसी के आधार पर उद्दिष्ट भाषा के विश्लेषण किए जाते है। यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि अधिकांश अध्ययनों में प्रत्यक्ष रूप से उद्दिष्ट भाषा की आत्मा मर जाती है और परोक्ष रूप से अन्य भाषा का शरीर उभड़ आता है। प्रश्न यह उठता है कि आखिर यह दोष किसका है तथा किस प्रकार का ? सच पूछा जाय तो यह एक द्विमुखी समस्या है। अध्येता विषय के सैद्धान्तिक पक्ष से पूर्णतया परिचित नहीं होता और न उसे सामग्री-सङ्कलन की ही सैद्धान्तिक प्रणालियों का ज्ञान होता है। इस प्रकार के प्रत्येक अध्ययन के लिए सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान है और सामग्री-सङ्कलन स्वयं में एक कला है। एक कुशल अध्येता के लिए इस कला का सम्यक् ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है जितना विषय के सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान। ये दोनों ही उद्दिष्ट भाषा के अध्ययन को प्रभावित करते हैं और किसी एक के भी अभाव में अध्ययन पङ्गु हो जाता है। अस्तु,

सामग्री का सङ्कलन किस प्रकार किया जाए, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। सङ्क० के सामने भाषा का अपार भण्डार रहता है और यह किसी भी सङ्क० की सामर्थ्य के बाहर है कि वह समस्त सामग्री का सङ्कलन करे। हाँ- उसे अपनी विषय-क्षमता एवं सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर की दृष्टि से 'इस प्रकार' की और इतनी मात्रा' में

सामग्री एकत्र करनी पडता है जिससे कि वह भाषा के साथ याय कर सके और उसकी समस्त प्रवृत्तियों (एवं सङ्कल्पनात्मक—का पाठकों के समक्ष सत्र रूप मे प्रस्तुत कर सके तात्पर्य यह कि अध्ययन की पूर्णता और परिपक्वता के लिए एक ऐसी प्रश्नावली अपेक्षित होती है जो भाषा की समस्त बारीकियों और विशिष्टताओं को सहज रूप में उपलब्ध करा सके। प्रश्नावली का निर्माण भी एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है जिसमें सङ्क० को अत्यधिक सतर्क रहना पड़ता है। प्रश्नावली बनाते समय सङ्क० को ज्ञात भाषाओं के पूर्वाग्रह से सर्वथा बचना पड़ता है अन्यथा किसी एक ज्ञात भाषा की विशिष्टताएँ प्रश्नावली को आवश्यकता से अधिक प्रभावित कर देंगी जिसके परिणामस्वरूप उद्दिष्ट भाषा की विशिष्टिताएँ गौण हो सकती हैं। ज्ञात भाषाओं की रचना-प्रक्रिया तथा विशेषताएँ मस्तिष्क पर इस प्रकार छाई रहती हैं कि अनजाने ही हम उद्दिष्ट भाषा मे भी उन तत्त्वों को ढूंढ़ने लगते हैं। यह स्वाभाविक है, परन्तु यही सदैव हमारी प्रणाली पर न छाया रहे, अन्यथा हम अन्य सम्भावनाओं की ओर अपनी दृष्टि न रख पाएँगे। इसके लिए हम कभी-कभी इतनी अनावश्यक सामग्री भी एकत्र कर लेते हैं जिससे कुछ भी सहायता नहीं मिलती और अन्त में यह सोच कर सन्तोष करना पड़ता है कि यदि यह न किया होता तो मन में सदैव सन्देह बना रहता और इस सम्भावना के प्रति हम सदैव सशङ्क रहते। इसी कारण सङ्क० को विषय के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूपों का ज्ञान और अभ्यास अपेक्षित है जिनके अभाव में सामग्री अपूर्ण एवं निष्कर्ष अधूरे रह जाएँगे तथा नियम सन्दिग्ध। सामग्री-सङ्कलन में इसीलिए, कभी-कभी बद्ध प्रश्नावली का तिरस्कार करके सङ्क० और सूच० को अपने बीच की औपचारिकता की दीवाल को हटा देना पड़ता है तथा मुक्त वार्तालाप एवं कथा प्रसङ्गों के नैसर्गिक एवं धाराबाहिक रूपों का भी सहारा लेना पड़ता है। प्रत्येक सुन्दर प्रश्नावली में इस प्रकार की सामग्री के लिए स्थान रखना पड़ता है और इससे बहुत सी ऐसी नई बातें समक्ष आ जाती हैं जो अन्य प्रकार से नहीं आ पाती। इसके विपरीत यदि सङ्क० ज्ञात भाषा के आधार पर, उसकी विशिष्टताओं की रूपरेखा लेकर सामग्री-सङ्कलन करने चलता है तो वह इन बातों का पता नहीं लगा पाता और उद्दिष्ट भाषा की आत्मा और प्रकृति दूसरे शरीर से बोलने लगती हैं। परिणामस्वरूप अध्ययन की विधा पिष्टपेषित, उपलब्धियों में कुछ जबर्दस्ती आरोपित तथ्य तथा विषय का प्रस्तुतीकरण दोषयुक्त जान पड़ते हैं।

भाषा की सम्यक् विवेचना के लिए विशद और पूर्ण प्रश्नावली बहुत महत्त्व रखती है। सुन्दर प्रश्नावली के प्रयोग से कोई भी प्रशिक्षित सङ्क० इतनी सामग्री सङ्कलित कर सकता है कि अध्येता भाषा की रचना-प्रक्रिया, उसकी प्रणालियों एवं उसकी प्रकृति का सजीव, पुष्ठ एवं परिपक्व रूप पाठकों के समक्ष उपस्थित कर सके। प्रत्येक प्रश्नावली-निर्माण के समय कुछ मूलभूत बातें ऐसी हैं, जिन्हें अध्येता को सदैव अपने समक्ष रखना पड़ता है। सर्वप्रथम, अध्ययन के उद्देश्य और सीमाओं का समुचित रूप में ध्यान रखना पड़ता है। इसका प्रश्नावली से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है! यदि अध्ययन पूर्णतया शुद्ध भाषाशास्त्रीय है तो प्रश्नावली का प्रकार एक होगा और यदि वह नृ-भाषाशास्त्रीय (एथ्नो-लिंग्विस्टिक) अथवा समाज-भाषाशास्त्रीय (सोशिओ-लिंग्विस्टिक) है तो इसका प्रकार दूसरा होगा। तात्पर्य यह कि प्रश्नावली की रूपरेखा विषय की दृष्टि से बदलते रहेंगे और उसी के अनुसार उसकी साज-सज्जा भी बदलती रहेगी फिर शुद्ध

अध्ययन के लिए भी निर्मित की गइ प्रश्नावली सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नही हो सकता और न तो एक ही प्रश्नावली का प्रयोग विभिन्न विषम भाषाओं के लिए ही किया जा सकता है, क्योंकि यह प्रश्नावली सदैव भाषा विशेष के सन्दर्भ में तैयार की जाती है। कुछ सामान्य बातें तो ऐसी अवश्य होंगी जिनकी उपस्थिति प्रत्येक भाषा में सम्भव होती है, पर सूक्ष्म विवरण की बातें बदलती रहती हैं। प्रत्येक विषम भाषा एक दूसरे से इन विवरणों में बहुत भिन्न होती है। हाँ, एक भाषाशास्त्रीय समुदाय की भाषाओं के लिए ऐसी पूर्ण और आदर्श प्रश्नावली की कल्पना सम्भव है जिसका प्रयोग उस समुदाय की समस्त भाषाओं के लिए किया जा सकता है।

इसी क्रम में प्रश्नावली के निर्माण के विषय में भी चर्चा कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। समस्या सामने यह आती है कि आखिर प्रश्नावली का निर्माण कैसे किया जाए जिससे वह अपने आप मे पूर्ण हो और भाषा की सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों का, उसकी प्रकृति का तथा उसके उपादानों का उद्घाटन करना सरल एवं सुकर हो। प्रश्नावली के निर्माता को भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए तथा उसका परिचय कतिपय अन्य विषम भाषाओं की रचना एव विश्लेषण से होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही प्रश्नावली का निर्माण करने का अधिकारी होता है। उद्दिष्ट भाषा के अध्ययन को विभिन्न विभागों के द्वारा अथवा विभिन्न रचना-स्तरों पर सम्पन्न किया जाता है। इन्ही विभागों अथवा रचना-स्तरों को दृष्टि में रखकर प्रश्नावली को विभिन्न भागों में विभक्त करना चाहिए। प्रत्येक भाग के लिए अलग-अलग ढङ्ग एवं प्रकृति के प्रश्न बनाने चाहिए। प्रश्नावली ऐसी भाषा में हो जिसे सङ्क० तथा सूच० दोनों जानते हों। अपने पूर्व अध्ययन एवं विभिन्न भाषाओं के विश्लेषणों से परिचय के आधार पर प्रश्नावली का प्रारूप तैयार करना चाहिए। स्मरण रहे कि प्रारम्भिक स्थिति में प्रश्नावली अपूर्ण रहेगी तथा उसमे सभी प्रकार के संवर्द्धनों के लिए स्थान रहेगा। अब प्रथम भाग को लेकर सूच० से सामग्री प्राप्त की जाए। इस सामग्री का अस्थायी विश्लेषण किया जाए। इस विश्लेषण के आधार पर प्रश्नावली के इस अंश के अभावों का आभास मिलेगा। विश्लेषण में कहीं पद्धति में स्खलन मिल सकता है तो कहीं अन्य सम्भावनाओं का सङ्केत। इस प्रकार के स्खलनों एवं रिक्तताओं को समाप्त करने के लिए प्रश्नावली को और विस्तृत करना पडेगा तथा पूर्ण सामग्री की प्राप्ति के लिए उसे बढ़ाना होगा। ध्यान रहे कि भाषा सदैव किसी पद्धति का अनुसरण करती है और यदि इस पद्धति में किसी प्रकार का स्खलन एवं अपूर्णता विश्लेषण में दिखलाई पडे तो यह समझना चाहिए कि सामग्री अपूर्ण है और उसे पूर्ण किए बिना विश्लेषण अधूरा रह जाएगा। इस परिवर्द्धित प्रश्नावली के द्वारा प्राप्त सामग्री से विश्लेषण पूर्ण हो जाएगा और उसी के साथ प्रश्नावली भी। यही प्रक्रिया लगभग प्रत्येक भाग के साथ दुहरानी होगी और तभी प्रश्नावली पूर्ण हो सकेगी।

ऊपर कही गई बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। भाषाशास्त्रीय अध्ययन को ध्वनि, पद तथा वाक्य के तीन भागों अथवा स्तरों में स्थूल रूप से विभाजित किया जाता है। इन तीनों से सम्बद्ध प्रश्नावली तीन प्रकार की होगी और तीनों में अध्येता का ध्यान इन्ही पर रहेगा। इनमें से तृतीय अर्थात् वाक्य में अन्य दोनों के लिए कुछ ऐसी सामग्री मिलेगी जो उन स्वतन्त्र विभागों में आसानी से नही मिल सकती। इसी प्रकार पद के अन्तर्गत सङ्कलित सामग्री में ध्वनि सम्बन्धी कतिपय के दर्शन होंगे जो ध्वनि सम्बन्धी सामग्री में नही सङ्कलित

किए जा सकते। इस प्रकार विभिन्न भागों में बद्ध होने पर भी समस्त प्रश्नावली एक अन्विति में रहेगी और पूरे विश्लेषण को प्रभावित करेगी। या यों कहें कि प्रश्नावली और विश्लेषण की वर्गबद्धता की अन्विति ही भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति का सच्चा, पूर्ण और सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करेगी। यहाँ रचना के पुष्टीकरण के लिए ध्वनि भाग से सम्बद्ध प्रश्नावली को लिया जायगा। इस भाग की प्रश्नावली में शब्द होंगे—केवल शब्द। इन शब्दों का चयन विभिन्न आधारों—यथा शरीर के अवयव, खान-पान, रीति-रिवाज, नाते-रिश्ते, क्रिया-कलाप, वस्त्राभूषण पशु-पक्षी, वृक्ष-पुष्प और प्राकृतिक उपादान आदि से सम्बद्ध शब्दों—पर किया जायगा। यह प्रश्नावली का प्रारूप होगा। इससे प्राप्त सामग्री का अस्थायी विश्लेषण ध्वनि-प्रक्रिया की एक रूपरेखा उपस्थित करेगा। मान लिया कि भाषा में केवल निम्नव्यञ्जन ध्वनिग्राम (स्पर्श) ही विश्लेषण के आधार पर मिलते हैं:—

क्	ग्	ख्	घ्
च्	ज्	छ्	झ्
ट्	×	ठ्	ढ्
त्	द्	×	ध्
प्	ब्	फ्	भ्

इनमें 'ड्' एवं 'थ्' की अनुपस्थिति भाषा की पद्धति में एक स्खलन अथवा रिक्तता की ओर इङ्गित करती है। भाषा की पद्धति में पाँच अघोष अल्प प्राण, चार सघोष अल्पप्राण, चार अघोष महाप्राण एवं पाँच सघोष महाप्राण व्यञ्जन ध्वनिग्राम यह स्पष्ट निर्देश करते हैं कि प्रत्येक प्रकार के व्यञ्जन ध्वनिग्राम पाँच होने चाहिए। इनके लिए प्रश्नावली में परिवर्द्धन करना पड़ेगा तथा और अधिक सामग्री का सङ्कलन करना होगा। अन्त में पद्धति की पूर्णता दिखलाई पड़ेगी। प्रश्नावली भी तभी पूर्ण होगी। खण्डेतर ध्वनिग्रामों तथा ध्वनि-परिवर्तनों आदि के सम्यक् विश्लेषण के लिए प्रश्नावली के इस भाग के आगे तक जाना पड़ेगा। इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति प्रत्येक स्तर पर करनी होगी। सामग्री-सङ्कलन काल का अस्थायी विश्लेषण प्रश्नावली को पूर्ण बनाने में बड़ा सहायक होता है। प्रश्नावली में सदैव परिवर्द्धन की क्षमता होनी चाहिए।

प्रश्नावली अच्छी होने पर भी सामग्री-सङ्कलन की सफलता बहुत कुछ सङ्क० के ऊपर निर्भर करती है। कुछ लोगों की यह धारणा कि प्रश्नावली के द्वारा कोई भी व्यक्ति सामग्री सङ्कलन कर सकता है, बहुत त्रुटिपूर्ण है। सङ्क० प्रत्येक व्यक्ति नहीं हो सकता। सङ्क० को, जैसा कि अन्यत्र भी सङ्केत किया जा चुका है, विषय के सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ कार्य की महत्ता तथा कुछ व्यावहारिक बातों का ज्ञान होना चाहिए। उसे सूच० की भावनाओं का समुचित आदर करते हुए प्रश्नावली को इस प्रकार पेश करना चाहिए कि सामग्री स्वतः नैसर्गिक रूप में सूच० के मुख से निकलती आए। कार्यारम्भ के पूर्व सूच० की इस कार्य सम्बन्धी सकल जिज्ञासाओं की तुष्टि अत्यन्त मृदुल एवं सौहार्द्रपूर्ण ढङ्ग से करनी चाहिए जिससे सूच० को सङ्क० में पूर्ण विश्वास और कार्य से पूरी आस्था हो जाए। प्रश्नों को पूछते समय सूच० की मानसिक अवस्था का ध्यान रखना चाहिए और कभी भी उसे इस कार्य से ऊबने न देना चाहिए तात्पर्य यह कि सूच० की रुचि बनाये रखने के

लिए बीच-बीच में कुछ इधर-उधर की बातों के लिए भी समय दे देना चाहिए इस वार्तालाप में भी कुछ ऐसी सामग्री मिल जाती है जो प्रश्नावली से नहीं मिलती। यदि सूच० बीच में कोई किस्सा-कहानी अथवा कथा कहना चाहता है तो उसे इसका भी मौका दे देना चाहिए, क्योंकि इससे उसका और अधिक सहयोग मिलेगा। यथासम्भव परोक्ष इङ्गित अथवा विचार देकर सूच० को स्वयं उत्तर देने के लिए वाध्य करना चाहिए। सङ्क० की अपनी व्यवहार-कुशलता इसमें सर्वाधिक सहायक होती है। सङ्क० में असीम मात्रा में धैर्य होना चाहिए जिससे कि वह अपने से अधिक सूच० की सुविधाओं का ध्यान रख सके। सङ्क० का दायित्व ही सर्वाधिक होता है। कार्य-काल में उसे कभी भी सूच० के ऊपर यह नहीं प्रकट करना चाहिए कि उसे शीघ्रता है। इन बातों का ध्यान रखने पर सूच० को बड़ी तसल्ली मिलती है। आवश्यकतानुसार कभी-कभी व्यय भी करना पड़ता है तथा सूच० की स्वभावगत कमजोरियों जैसे धूम्रपान आदि का बड़ा सटीक एवं सद्यः लाभप्रद ढंग से उपयोग किया जा सकता है।

सङ्क० के समान ही सूच० का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। सूच० के चुनाव में विषय की प्रकृति, प्रश्नावली की प्रकृति, कार्य की महत्ता आदि का ध्यान रखना पड़ता है। सङ्कलन-कार्य मे एक केन्द्र से एक ही सूच० द्वारा सामग्री लेना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि सूच० के परिवर्तन से कभी-कभी अध्ययन के परिणाम में कुछ न कुछ अन्तर आ जाता है। भाषा मे सामाजिक स्तरगत, जातिगत, आयुगत एवं शिक्षागत अन्तर प्रत्यक्ष रूप में पाए जाते हैं। ये अन्तर बोलनेवाले के स्वभावज अङ्ग हो जाते हैं जिन्हें वह बोलने की तरङ्ग में समस्त सक्रिय चेष्टाओं के बावजूद भी नहीं रोक पाता। अस्तु, सामान्य स्थिति में अध्ययन एवं विश्लेषण में एक-रूपता तथा निष्कर्षों की नियमितता की दृष्टि से कार्य के बीच में सूच० का परिवर्तन वाञ्छनीय नहीं है। सूच० के चुनाव में इन बातों का भी ध्यान रखना चाहिए कि सूच० उस भाषाभाषी क्षेत्र का मूल निवासी हो, वाह्य संसार से यदि उसका अधिक सम्पर्क न रहा हो तो अति उत्तम है, उसे अन्य भाषाओं का कम से कम ज्ञान हो अथवा इतना ही ज्ञान हो कि उसकी भाषा पर उसका प्रभाव न हो। तात्पर्य यह कि सूच० की भाषा वाह्य सम्पर्कों—सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भाषा सम्बन्धी—से यथासम्भव अप्रभावित हो। सूच० के स्वभाव का ध्यान सबसे पहले रखना चाहिए अर्थात् वह सन्तुलित मस्तिष्क, सरल स्वभाववाला, विचारशील मनुष्य हो तथा अनावश्यक रूप से प्रत्येक वस्तु के प्रति इतना जिज्ञासु भी न हो कि पग-पग पर तर्क एवं परिप्रश्न करने के लिए सन्नद्ध रहे।

भाषाशास्त्रीय सामग्री-सङ्कलन का कार्य एक प्रकार से दुधारी तलवार पर चलने के समान है, क्योंकि सङ्क० की रञ्चमात्र असावधानी अथवा प्रमाद से अध्ययन के निष्कर्षों में भारी अन्तर आ सकता है। इसी कारण सङ्क० को इस कार्य से संलग्न होने के पूर्व कुशल अध्येता के निदेशन में इस कार्य की प्रशिक्षा लेनी अनिवार्य होती है। इस प्रशिक्षण से उसे एक प्रकार से मानसिक और बौद्धिक अनुशासन का परिज्ञान कराया जाता है तथा साथ ही उसे व्यावहारिक कठिनाइयों से भी परिचित कराया जाता है। एक आदर्श सङ्क० के लिए यह आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य सा हो जाता है कि उद्दिष्ट भाषा के कार्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने के पूर्व वह कतिपय भाषाओं के साथ कक्षा में कार्य का अनुभव प्राप्त कर चुका हो जिससे सामग्री-सङ्कलन में उसके समक्ष ध्वनि-विचार सम्बन्धी कठिनाइयाँ न आएं सङ्क० को एक शब्द-सजग व्यक्ति होना चाहिए उसे

भाषा के विश्लेषण की विभिन्न विधाओं का भी समुचित ज्ञान होना आवश्यक है जिससे कि वह उद्दिष्ट भाषा के विश्लेषण में भाषा की प्रकृति के अनुरूप ही विधा का उपयोग करे। ऐसा करने से उसका अध्ययन संश्लिष्ट एवं संक्षिप्त तथा स्वयं में नूतन होगा। सङ्क० को सूच० के साथ तर्क मे न प्रविष्ट होना चाहिए अन्यथा सूच० सामग्री देने में हिचक का अनुभव करेगा। उद्दिष्ट भाषा-क्षेत्र के भूगोल तथा अन्य भाषेतर विषयों का ज्ञान एवं भाषा बोलनेवालों की सामान्य प्रवृत्तियो से परिचय भी सङ्क०के लिए आवश्यक हो जाते हैं जिससे वह सूच०-जन्य कठिनाइयों से अपने को बचा सके। सङ्क० के समक्ष कभी-कभी ऐसी कठिनाइयाँ भी आती हैं जिनका सामना उसे अत्यन्त धैर्य एव विचारशीलता के साथ करना पड़ता है। उसे स्वयं व्यक्तिगत रूप से किसी कठिनाई को जन्म न देना चाहिए। उससे बचने का एक ही रास्ता है कि सूच० से कोई ऐसा प्रश्न न पूछे जो अप्रिय हो तथा जिससे वह खीझ जाए। सूच० यदि प्रश्न को किसी विशेष कारणवश टालना चाहे तो उसके लिए आग्रह न करना ही श्रेयस्कर होता है तथा यदि उस प्रश्न का उत्तर अनिवार्य ही हो तो उसे किसी प्रसङ्ग के माध्यम से प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। सूच० की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एव सांस्कृतिक भावनाओं का आदर करते हुए इनके सम्बन्ध में किसी अप्रिय अथवा मर्मस्पर्शी प्रश्न को सर्वथा छोड़ देना ही श्रेयस्कर होता है। इन विषयों की चर्चा में तटस्थ रहकर अपना कोई मत न देना ही वाञ्छनीय है। कार्य-काल में सङ्क० को सूच० के इतना निकट रहने की चेष्टा करनी चाहिए कि औपचारिकता, सङ्कोच एवं शङ्का की दीवाल बीच में खड़ी न हो सके, प्रत्युत व्यवहार में सर्वप्रकारेण सहजता एवं ऋजुता आ जाय। इन परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालना बड़ा कठिन होता है पर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए आदमी को बड़ा से बड़ा बलिदान करना भी नहीं खलता। भाषाशास्त्रीय सामग्री-सङ्कलन-कार्य एक प्रकार से सङ्क० के धैर्य, बुद्धि, वाकपटुता एवं परिस्थिति-प्रेक्षता का परीक्षा-कार्य होता है।

भाषाशास्त्रीय सामग्री-सङ्कलन में सङ्क० के समक्ष सर्वाधिक कठिनाई उस समय आती है जब वह अपनी ज्ञात भाषा अथवा निजी भाषा का अध्ययन करने के लिए अग्रसर होता है। प्रशिक्षण-काल में अध्यापक इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न देकर इसका शमन करते हैं, क्योंकि अपनी भाषा पर प्रारम्भिक स्थिति में काम करते समय कोई भी अध्येता न तो निष्पक्ष रह सकता है और न पूर्वाग्रह का त्याग ही कर सकता है। वह अपनी भाषा के प्रति सतत जागरूकता एवं सचेष्टता के बावजूद भी अनात्मपरक दृष्टि नहीं अपना पाता। फलस्वरूप उसे वह मानसिक अनुशासन नहीं मिल पाता जिसकी अपेक्षा सामग्री-आवृत अध्ययन के लिए की जाती है। वही परिस्थिति आगे बढ़ने पर भी रहती है और स्वकीय भाषा के विश्लेषण के लिए अध्येता आसानी से अनात्मपरक दृष्टि नहीं बना पाता। उसके सामने सामग्री-सङ्कलन की समस्या विभिन्न रूपों में आती है। वह प्रश्नों को पूछते समय स्वयं में एक प्रकार का सङ्कोच पाता है और विश्लेषण के समय भाषा का व्यावहारिक व्याकरण अपनी समस्त भ्रान्तियों के साथ उसे उलझाने के लिए खड़ा रहता है। इसीलिए आदर्श स्थिति यह मानी जाती है कि प्रशिक्षण एवं उसके बाद के प्रारम्भिक कार्य-काल मे वह एक अपरिचित भाषा का अध्ययन करे और जब उसमें अपनी अनात्मपरक दृष्टि के प्रति अगाध आत्मविश्वास पैदा हो जाए, तभी स्वकीय भाषा की ओर दृष्टि उठाए। यदि अनिवार्य परिस्थितियाँ अध्येता को अपनी भाषा का अध्ययन करने के लिए बाध्य ही करें तो उसे अपनी भाषा को भी

अपरिचित भाषा की भांति विश्लेषणोपयुक्त मानकर आगे बढ़ना चाहिए तथा भाषा के उपलब्ध एवं प्रचलित व्याकरणों की उपेक्षा करके उसकी रचनात्मक एवं सङ्घटनात्मक प्रकृति का प्रकाशन करना चाहिए, प्रत्येक पग पर सावधान एवं सतर्क रहकर अपने निष्कर्षों को बार-बार तर्क की कसौटी पर कसते रहना चाहिए और स्वयं को भी कभी-कभी सूच० मान लेना चाहिए। वैसी स्थिति में अध्येता, सङ्क० और सूच० तीनों के व्यक्तित्व अध्येता में समाहित हो जायेंगे और उसे इन तीनों के दायित्वों को तीन मानकर समस्त अपेक्षित जिम्मेदारी एवं ईमानदारी के साथ कार्य करना चाहिए।

जिस प्रकार सङ्क० में कुछ ऐसी विशेषताओं की आवश्यकता होती है कि वह प्रत्येक परिस्थिति में अपना कार्य एक भाव से आगे बढ़ा सके, उसी प्रकार प्रश्नावली में भी कुछ इस प्रकार की बातों का समावेश होना चाहिए जिससे उसका उपयोग प्रत्येक स्तर का सङ्क० कर सके। प्रत्येक प्रश्नावली में इतनी गुञ्जाइश होनी चाहिए कि कुछ ऐसी सामग्री भी ली जा सके जिसके लिए किसी विशिष्ट रूप-रेखा की आवश्यकता न हो। सङ्कलन के साथ-साथ किए गए अस्थायी तात्कालिक विश्लेषण के आधार पर संशोधित एवं परिवर्द्धित प्रश्नावली ही आदर्श प्रश्नावली हो सकती है।

सामग्री-सङ्कलन में एक और वस्तु परोक्ष रूप में महत्त्व-पूर्ण होती है; वह है क्षेत्र। भाषा का प्रसार विस्तृत क्षेत्र में होता है और प्रायः यह देखा जाता है कि क्षेत्र के दो छोरों की भाषा के रूपों में काफी अन्तर है। अब प्रश्न यह उठता है कि किस क्षेत्र को अध्ययन के लिए चुना जाए तथा किस आधार पर? प्रायः क्षेत्र के मध्य की भाषा अन्य बाह्य प्रतिकारकों के अभाव में परिनिष्ठित होती है। सङ्कलन का प्रारम्भ उसी मध्यभाग में करना चाहिए। क्षेत्र के विस्तार के साथ भाषा के कई परिनिष्ठित रूप हो जाते हैं। इनका समुचित वर्गीकरण करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों से सामग्री-सङ्कलन करना होगा। इस प्रकार क्षेत्र के केन्द्रीय भाग को प्राथमिकता देकर अन्य छोरों की ओर की सामग्री का सङ्कलन कर के विश्लेषण करना चाहिए। इस प्रकार से प्राप्त अन्तरों के आधार पर उद्दिष्ट भाषा के उप-विभागों का पता चल जाता है। भाषा के परिनिष्ठित रूप के अध्ययन के लिए सीमावर्ती क्षेत्र को कभी नहीं चुनना चाहिए। वास्तव में जो क्षेत्र बाह्य सम्पर्कों से अपनी भौगोलिक स्थित्यानुसार जितना असम्पृक्त होगा, वहाँ की भाषा उतनी ही मौलिक, मानक एवं परिनिष्ठित सामग्री देगी।

भाषाशास्त्रीय अध्ययन के सर्वाङ्गीण महत्त्व को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि सामग्री-सङ्कलन सैद्धान्तिक आधार पर किया जाय। यह एक अत्यन्त ही कष्टसाध्य प्रणाली है। विश्लेषण करना उससे भी अधिक कष्टसाध्य प्रणाली की अपेक्षा करता है। कभी-कभी एक व्यक्ति एक समुदाय की कई बोलियों अथवा एक भाषा की कतिपय बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता है। इस प्रकार की स्थिति में यदि वह स्वयं सामग्री-सङ्कलन का कार्य सर्वत्र करता फिरे तो सर्वेक्षण कार्य में ही अधिकांश समय निकल जाएगा। ऐसी स्थिति में ऐसे प्रशिक्षित सङ्क० की सहायता से काम शीघ्र ही समाप्त किया जा सकता है जिन्हें विषय के सैद्धान्तिक पक्ष का यथोचित ज्ञान हो। अस्तु, भाषा के गम्भीर अध्ययन, संक्षिप्त सूत्रवत् विश्लेषण तथा उसकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति के उद्घाटन के लिए भाषाशास्त्रीय सामग्री-सङ्कलन का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुशल अध्येता के हाथों से यदि यह पुण्य कार्य कराया जाय तो अध्ययन दीर्घजीवी एवं भावी अध्येताओं के लिए पथ-प्रदर्शक बन सकता है

दो

•

विधि के क्षेत्र में प्राविधिक शब्दावली

•

हीराप्रसाद त्रिपाठी

भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के साथ-साथ राष्ट्रभाषा का आन्दोलन भी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में जुड़ा हुआ था। राष्ट्रीयता के जागरण का वह ऐसा युग था, जब सम्पूर्ण सरकारी कार्यों में अंग्रेजी भाषा का उपयोग अनिवार्य रूप से किया जाता था। अंग्रेजी शासन की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में लॉर्ड मेकॉले ने जो भविष्यवाणी की थी, वह अधिकांश भारतीयों के जीवन में सफल रूप से चरितार्थ हो रही थी। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग, एक प्रकार से अभिजात, सुसंस्कृत और शिक्षित होने का प्रतीक बन गया था। इतना ही नहीं, इस प्रकार के अंग्रेजी उपासकों के हृदय में राष्ट्रभाषा के प्रति सक्रिय घृणा के भाव थे, जिनको व्यक्त करने में वे एक प्रकार का गौरव अनुभव करते थे। ऐसे वर्ग की यह सुनिश्चित धारणा थी कि राजकीय कार्यों में हिन्दी के प्रयोग में लाये जाने की बात भी हास्यास्पद है। जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी हिन्दी ही क्या किसी भी भारतीय भाषा के सक्षम अस्तित्व को ऐसा वर्ग नकारता ही था। बिदेशी भाषा के प्रति अपनी आस्था के कारण अपने देश की भाषा के प्रति उपेक्षा और घृणा का भाव रखनेवालों के प्रभुत्व का यह एक अद्‌भुत युग था। इन समस्त विरोधों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी राष्ट्रभाषा के महत्त्व की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त ही, हिन्दी ने राष्ट्रभाषा पद को अधिकारतः प्राप्त किया। ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, विधि, प्रशासन आदि क्षेत्रों में राष्ट्रभाषा को संमुन्नत, सक्षम और सम्पन्न बनाने के लिये अन्तरिम अवधि निर्धारित की गई थी और अब उस अवधि को और भी विस्तृत कर दिया गया है।

विधि के क्षेत्र में जब हम राष्ट्रभाषा के प्रयोग की बात करते है तो स्वभावतः हमारे सामने न्याय और प्रशासन के क्षेत्र आते हैं। संसार के सभी देशों में प्रशासन और न्याय सम्बन्धी कार्यों को सम्यक् रूप से चलाने के लिये एक विशेष प्रकार की और विशिष्ट बौद्धिक स्तर की भाषा का उपयोग किया जाता रहा है। इन क्षेत्रों में व्यक्त किये जाने वाले विचारों और भावों द्वारा द्वैधभाव से रहित, सुस्पष्ट और सुव्यक्त विवेचना-पद्धतियां, तथ्यात्मक विश्लेषणों, और अत्यन्त ही जटिल राजकीय विधानों, विधियों, नियमों तथा परिनियमों के आधार पर सम्यक् रूपेण बुद्धिग्राह्य निर्णयों की एक परम्परा स्थापित होती चलती है। इसी परम्परा का स्वस्थ विकास किसी देश के न्याय और प्रशासन का मेरुदण्ड होता है इस [illegible] का विकसित स्वरूप जितना स्वस्थ और [illegible] कारी होगा उस देश

का इतिहास उतना ही गौरवशाली और महान होगा न्यायतन्त्र और प्रशासन प्रणाली का स्वस्थ, विकसित रूप हमें संसार के सुसंस्कृत, सभ्य और सम्पन्न देशों में ही सुलभ हो सकता है। ऐसी पद्धति द्वारा, जो देश नियन्त्रित और शासित नहीं होगा, वहाँ अराजकता, अव्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्य अवस्थाओं का जन्म होगा। प्रजातान्त्रिक प्रणाली को अपनाने वाले देशों में न्याय और शासन के स्वस्थ प्रवर्तन, विनियमन और विकास का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है।

न्याय और प्रशासनिक कार्यों के व्यापक और मूर्धन्य राष्ट्रीय महत्ता के साथ ही हमें उस भाषा के महत्त्व को भी स्वीकार करना पड़ता है, जो उस देश के जनजीवन की अभिव्यक्ति का सहज माध्यम हो। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार किया जाना, इस तथ्य की स्वीकृति है कि हिन्दी में देशव्यापी स्तर पर जनजीवन के विचारों की अभिव्यक्ति की क्षमता है। किन्तु विधि और प्रशासन के क्षेत्रों में, जैसा कि ऊपर सङ्केत किया गया है भाषा की स्थिति उतनी सरल नहीं जितनी अन्य क्षेत्रों में। वैसे प्रत्येक क्षेत्र में भाषा के निर्माण सम्बन्धी अपनी-अपनी समस्याएं है, किन्तु विधि और प्रशासन के क्षेत्रों में, प्राविधिक भाषा के निर्माण-कार्य की गुरुता अपेक्षाकृत अधिक है। इसका कारण यह है कि इन क्षेत्रों में प्राविधिक भाषा के माध्यम द्वारा जो निर्णय प्रदान किये जाते हैं, जो अधिनियमितियाँ, नियम अथवा परिनियम बनाये जाते हैं, उनका तत्काल ही जनजीवन पर प्रभाव पड़ता है; क्योंकि विधि और प्रशासन की इन्हीं व्यवस्थाओ द्वारा देश के नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा होती है। ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में विचारों को व्यक्त करनेवाली भाषा के रूप के विकास के लिये समय की अपेक्षा होती है।

हमारे देश में विधि के क्षेत्र में अंग्रेजी भाषा अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में सैकड़ों वर्षों से सुप्रतिष्ठापित है। चूँकि अंग्रेजों से पहले भारत पर मोग़लों का आधिपत्य था और उनकी भाषा अरबी-फ़ारसी से निःसृत थी। इसलिये प्रशासनिक कार्यों में अरबी-फ़ारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक था। देश के समस्त प्रशासनिक और विधि सम्बन्धी कार्यों मे इसी अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बोझिल भाषा का प्रयोग किया जाता था। यहाँ हम एक तथ्य की ओर सङ्केत कर देना चाहते हैं कि उस समय भी इस प्रशासनिक और विधि सम्बन्धी कार्यों के लिये प्रयोग मे लाई जाने वाली भाषा जन-साधारण के लिये दुर्बोध्य ही थी। दुर्बोधता और सरलता के सन्दर्भ में हम इस तथ्य को प्रस्तुत लेख में यथास्थान संक्षिप्त रूप से निदर्शित करेंगे। अंग्रेजी शासन की प्रारम्भिक अवधि में अंग्रेज शासकों को प्रशासन और न्याय सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्यों को करने में बहुत कठिनाई होती थी और वह कठिनाई भाषा को न समझने के कारण ही थी। इस समस्या को सुलझाने के लिये उन्होंने कुछ समय तक प्रत्येक ऐसे न्यायालय में, जहाँ अंग्रेज शासक न्यायाधीश का कार्य करते थे, एक मौलवी और एक पण्डित की सहायता से मुकदमे को समझते थे और उस पर अपना निर्णय प्रदान करते थे। ये मौलवी और पण्डित भाषा सम्बन्धी कठिनाई को तो दूर करते ही थे, साथ ही साथ दोनों धर्मों द्वारा प्रविहित धार्मिक, आर्थिक और व्यक्तिगत-सामाजिक अधिकारों के सम्बन्ध में दी गई व्यवस्थाओं को भी उन न्यायाधीशों के लिये बोधगम्य बनाते थे

प्रशासन और विधि के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली भाषा की प्राविधिकता के सन्दर्भ में इतनी ऐतिहासिक चर्चा अपेक्षित थी अब शासन के कार्यों को चलाने के लिये प्रयोग में लाई जानेवाली भाषा के विकास और आधुनिक युग के विधि और प्रशासन के क्षेत्रों में उसके देशव्यापी प्रभाव की संक्षिप्त चर्चा भी आवश्यक है। अंग्रेजी शासन का न्यायतन्त्र ज्यों-ज्यों सुव्यवस्थित धरातल पर आता गया, त्यों-त्यों उच्च न्यायालयों में न्याय सम्बन्धी समस्त कार्य मुख्यत: अंग्रेजी भाषा में ही सम्पन्न किये जाने लगे। उसके उपरान्त बिना अधिक प्रयास के ही विधि के क्षेत्र में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि उच्च न्यायालय के सम्पूर्ण निर्णय ही नहीं बल्कि पुनरावेदनों, पुनरीक्षणों, पुनरावलोकनों आदि के प्रारूप, सूचनाएँ, आह्वानपत्र आदि भी अंग्रेजी भाषा में तैयार किये जाने लगे। इस सम्बन्ध में उस समय के भारतीय जनजीवन के अन्य क्षेत्रों में भी अंग्रेजी भाषा के सर्वाधिक महत्त्व का सङ्केत लेख के प्रारम्भ में ही किया जा चुका है। उच्च न्यायालय द्वारा एक विवाद में प्रदान किये गये ऐसे निर्णय का महत्त्व, जो न्यायाधीश द्वारा प्रतिवेदन के लिये उपयुक्त घोषित कर दिया जाय, प्रकाशित हो जाने के उपरान्त एक प्रकार से स्थायी हो जाता है। उस निर्णय में विवदास्पद विषय पर किये गये विनिश्चय को अन्तिम प्रमाण के रूप में उपनीत किये जाने के लिये तत्सम्बन्धी प्राधिकार और प्रमाणत्व की क्षमता में समय-समय पर परिवर्तन हो सकते हैं किन्तु उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसका प्रथम कारण तो यह है कि संसद और विधान-मण्डलों द्वारा पारित विधि की व्यवस्थाओं का निष्पादन और उनके अनुसार देश का प्रशासन तो न्यायालयों द्वारा ही किया जाता है। और सम्प्रभुतापूर्ण राज्यों तथा केन्द्रीय सरकारों द्वारा ऐसी विधि का निर्माण उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये प्रकाशित अथवा अप्रकाशित निर्णयों अथवा विनिश्चयों द्वारा की गई प्रत्येक व्यवस्था को ध्यान में रख कर नहीं किया जाता। वैसा किया जाना सम्भव भी नहीं है। दूसरा कारण यह कि एक विवाद में दिया गया प्रकाशित विनिश्चय प्रत्यादिष्ट भी हो जाता है जिसके कारण तद्विषयक पूर्वगामी निर्णय का महत्त्व घट जाता है, किन्तु तत्सम्बन्धी उपयोगिता बनी रहती है। इसीलिये ऐसे प्रकाशित निर्णयों का महत्त्व स्थायी होता है और किसी भी देश के वाङ्मय के इस अङ्ग को विशिष्ट मान्यता प्राप्त होती है। पवित्र ग्रन्थों की भाँति ही न्यायतन्त्र और प्रशासन के क्षेत्रों में ऐसे साहित्य की एक बन्धनकारी मान्यता होती है और अनिवार्य उपयोगिता भी।

विधि के क्षेत्र में उक्त स्थिति के प्रकाश में जब हम अंग्रेजी शासनकाल में विधि से सम्बन्धित साहित्य (यहाँ, 'साहित्य' से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण वाङ्मय के एक विशेष भाग से है) के निर्माण और विकास के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो वस्तुस्थिति कुछ इस प्रकार सामने आती है। हिन्दी भाषा के सन्दर्भ में प्रिवी कौंसिल के निर्णयों के बारे में कुछ न कहना ही उचित होगा। इङ्ग्लैण्ड स्थित न्यायालय में भारत के अधिवक्ताओं द्वारा अंग्रेजी में किये गये उपयन्दल को सुन कर उसी के आधार पर अपना निर्णय लिखने वाले किसी अंग्रेज न्यायाधीश से हम हिन्दी में निर्णय लिखने की आशा नहीं कर सकते। इस प्रकार की कल्पना भी स्वयं में हास्यास्पद है भारत में स्थित न्यायतन्त्र में भाषा सम्बन्धी स्थिति का पर्यवेक्षण हम संक्षेप में करेंगे। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है समस्त उच्च न्यायालयों में लगभग सम्पूर्ण कार्य अंग्रेजी

में सम्पन्न किये जाने की एक परम्परा स्थापित सी हो गई है। इनमें और कार्य तो गौण हैं, किन्तु भाषा की दृष्टि से दो कार्य अत्यधिक महत्त्व के हैं। प्रथम यह कि उच्च न्यायालयों में विचारार्थ प्रस्तुत पुनरावेदनों, पुनरीक्षणों, पुनरावलोकनों, विभिन्न प्रकार के लेखों तथा याचिकाओं की सुनवाई के समय उभय पक्ष के वादार्थियों का प्रतिनिधित्व करने वाले अधिवक्ताओं द्वारा किया गया उपपादन अंग्रेजी में ही सुना जाता है। 'अंग्रेजी में ही सुना जाता है'—का अर्थ यह है कि अधिवक्तागण यदि अपना उपपादन हिन्दी में करना चाहें, तो उनकी बात का कोई कानूनी महत्त्व नहीं होगा, उस उपपादन की कोई 'जुडिशियल नोटिस' नहीं ली जायगी। इस सम्बन्ध में अभी कुछ दिन पूर्व उच्च न्यायालय, इलाहाबाद द्वारा एक सराहनीय कार्य किया गया है। उक्त न्यायालय द्वारा इस आशय का एक आदेश प्रसारित किया गया था कि अधिवक्तागण चाहें तो आपराधिक विवादों में वैकल्पिक रूप से अपना उपपादन हिन्दी में प्रस्तुत कर सकते हैं। इस आदेश को कितनी मात्रा में और भाषा सम्बन्धी किस स्तर पर व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया, इसकी जानकारी प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को नहीं है। किन्तु ऐसा आदेश प्रशंसनीय अवश्य है।

इस सम्बन्ध में भाषा सम्बन्धी दूसरा प्रमुख विषय है निर्णयों का प्रदान किया जाना। यह एक अत्यन्त ही स्वाभाविक बात है कि यदि विवादों के सम्बन्ध में उपपादन अंग्रेजी भाषा में किये जायँगे तो उन पर किया गया निर्णय अथवा विनिश्चय भी अंग्रेजी में ही लिखा जायगा। किन्तु अंग्रेजी में लिखे गये निर्णयों के कारण भाषा सम्बन्धी जो स्थिति उत्पन्न होती है, वह विचारणीय है। निर्णयों का लिखा जाना और उपपादन का प्रस्तुतीकरण दोनों अन्योन्याश्रित हैं। उच्च न्यायालय में कोई भी अधिवक्ता निर्णयों का अध्ययन किये बिना उपपादन नहीं कर सकता और तद्विषयक अध्ययन यदि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से किया जायगा तो उपपादन भी अनिवार्यतः अंग्रेजी में ही होगा। क्षेत्र-विशेष में अध्ययन-सामग्री की उपयोगिता के स्थायित्व की ऐसी स्थिति अल्पावधि में नहीं बन पाती है। वैसे यह परम्परा केवल उच्च न्यायालयों तक ही सीमित नहीं है। अवर न्यायालयों तथा दण्डाधिकारीवर्ग द्वारा प्रदान किये जाने वाले निर्णय भी अंग्रेजी में ही लिखे जाते रहे हैं, जहाँ अंग्रेजी में उपपादन की परम्परा का व्यतिक्रम भी होता रहा है। इधर अवर न्यायालयों द्वारा कुछ निर्णय हिन्दी भाषा में भी दिखाई पड़ने लगे हैं, जो अपवाद स्वरूप ही माने जायँगे।

ब्रिटिश शासन को सुव्यवस्थापित करने के लिये अनेक अंग्रेज मनीषियों ने विभिन्न क्षेत्रों में अपना बौद्धिक योगदान दिया था। भाषा के क्षेत्र में लॉर्ड मेकॉले का योगदान सर्वाधिक महत्त्व का है। भाषा के सम्बन्ध में उनका यह वक्तव्य बहुत ही प्रसिद्ध है—'अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हम भारतीयों को ऐसा बना देंगे कि शरीर से तो वे भारतीय रहेंगे किन्तु उनका मस्तिष्क अंग्रेज होगा।' अंग्रेजी के वक्तव्य का यह शब्दानुवाद नहीं, किन्तु उस भविष्यद्रष्टा के भाव यही थे। यह बात अपनी जगह पर सही है कि भारत के न्यायतन्त्र को चलाने के लिये जिस बौद्धिक साहित्य का उपयोग किया जाता है, उसकी परम्परा लगभग दो-सौ वर्षों की है। दो-सौ वर्षों की दीर्घावधि में स्थापित एक उपयोगी साहित्य की परम्परा में भाषा के स्तर पर दस-पन्द्रह वर्षों में एक सीमित परिवर्तन ही किया जा सकता है।

चूँकि विधि सम्बन्धी पूरा उपयोगी है इसलिये हमारे समक्ष इस

साहित्य के प्रामाणिक अनुवाद की समस्या प्रमुख रूप से उपस्थित होती है। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रामाणिक अनुवाद की आवश्यकता को स्वीकार कर लेने के उपरान्त व्यावहारिक स्तर पर हमारे लिये उससे सम्बन्धित अनेक समस्याओं पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। अनुवाद से सम्बन्धित जो समस्या प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है, वह है प्राविधिक शब्दावली के निर्माण की। शब्द-निर्माण की प्रक्रिया कैसी हो, उसे किन सिद्धान्तों के आधार पर सम्पन्न किया जाय, इस सम्बन्ध में, 'भारत के संविधान' के अनुच्छेद ३५१ में स्पष्ट रूप से व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध में की गई व्यवस्था को भलीभाँति समझने के लिये उस अनुच्छेद के अनुवाद को उद्धरण के रूप में देना अप्रासङ्गिक न होगा।

"३५१—**हिन्दी भाषा के विकास के लिये निदेश**—केन्द्रीय सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा के विकास को इस प्रकार उन्नत बनाये कि वह भारत की मिश्रित संस्कृति के समस्त तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उपयोग में लाये जाने के लिये विकसित हो सके तथा हिन्दुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों को रूप और शैली में हस्तक्षेप किये बिना आत्मसात करते हुए और अपनी शब्दावली के लिये जहाँ आवश्यक अथवा अपेक्षित हो, प्राथमिक रूप में संस्कृत तथा गौण रूप में अन्य भाषाओं से शब्द लेकर उसे सम्पन्न बनाये।"

ऊपर उद्धृत अनुच्छेद द्वारा हिन्दी के विकास के लिये की गई व्यवस्था का यदि हम विश्लेषण करें तो हमारे सम्मुख प्रमुख रूप से चार बातें आती हैं। प्रथम यह कि केन्द्रीय सरकार पर भारत के संविधान द्वारा इस कर्त्तव्य को आरोपित किया गया है कि वह हिन्दी भाषा के विकास के लिये अपने को उत्तरदायी समझे। दूसरा यह कि सम्पूर्ण भारत की मिश्रित संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिये हिन्दी को ही मान्यता प्रदान की गई है। इस सन्दर्भ में इतना और कहना अपेक्षित है कि यह मान्यता अत्यन्त ही व्यापक धरातल पर प्रदान की गई है और 'मिश्रित संस्कृति की अभिव्यक्ति' का निर्वचन हिन्दी साहित्य को अखिल भारतवर्षीय स्तर पर ही विकसित किये जाने के सन्दर्भ में किया जाना चाहिये। तीसरा यह कि हिन्दी शब्दावली के निर्माण के लिये प्राथमिक रूप से संस्कृत भाषा के शब्द लिये जायँ। शब्द-निर्माण के प्रयोजनों के निमित्त संस्कृत भाषा का महत्त्व और उपयोगिता सर्वमान्य है। इस सम्बन्ध में सभी क्षेत्र के विद्वानों में मतैक्य है। किन्तु इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संस्कृत भाषा को प्राथमिकता प्रदान करते समय संविधान का निर्माण करनेवालों का ध्यान निश्चित रूप से वाङ्मय के प्राविधिक अङ्गों; मुख्य रूप से विधि, प्रशासन और विज्ञान की ओर ही रहा होगा। इन प्राविधिक विषयों की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य बहुत ही सम्पन्न तथा समुन्नत है और ऐसे विशिष्ट साहित्य से सम्बन्धित पर्याप्त अनुवाद कार्य के बिना हिन्दी भाषा के माध्यम से न तो अन्तरिम उपयोगिता का ही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है और न ही स्थायी महत्त्व के अनुवाद की कोई परम्परा ही स्थापित हो सकती है। चौथा यह कि 'गौण रूप से अन्य भाषाओं से शब्द लेकर' वाक्यांश भी महत्त्वपूर्ण है। 'अन्य भाषाओं' का निर्देश संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं से है।

संविधान के उक्त अनुच्छेद के विवेचन के प्रकाश में अब हम पुन विधि के क्षेत्र में प्राविधिक हिन्दी शब्दावली क निर्माण सम्बन्धी विषय की ओर ध्यान केन्द्रित कर, विधि के क्षेत्र में सम्पूर्ण साहित्य को, सुविधा की दृष्टि से हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम, परिनियम विधि और दूसरा वाद विधि। प्रथम भाग के अन्तगत केन्द्रीय और राज्य शासन द्वारा पारित अधिनियमों, नियमों, उपविधियों, अध्यादेशों और अधिसूचनाओं आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित इस प्रकार की सम्पूर्ण सामग्री अंग्रेजी में ही रहती है। किन्तु कतिपय राज्य-सरकारों द्वारा इस आशय के नियम भी बनाये गये हैं कि उनके द्वारा पारित किये जाने के लिये उपस्थापित विधेयकों को हिन्दी भाषा में ही प्रस्तुत किया जाय। पर उनमें सन्निहित किसी प्राविधिक अंश के निर्वचन के सम्बन्ध में किसी प्रकार के मतभेद के उत्पन्न होने की अवस्था में उनके अंग्रेजी मूलपाठ को ही प्रामाणिक माना जाय। विधि और प्रशासन के क्षेत्र में हिन्दी को उचित स्थान प्राप्त करने की दिशा में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा किया गया यह प्रयास सराहनीय है। किन्तु इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न चिह्न तब तक बना रहेगा, जब तक हिन्दी के मूलपाठ को ही निर्वचन के प्रयोजनों के लिये प्रामाणिक बनाने के निमित्त स्थायी नियम नहीं बना दिये जाते। इस सम्बन्ध में अग्रसर होकर कार्य करने की दिशा में सर्वाधिक दायित्व हिन्दी भाषाभाषी राज्य-सरकारों पर है। यदि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाञ्चल प्रदेश की सरकारें सम्मिलित रूप से अथवा पृथक् रूप से भाषा सम्बन्धी और प्राविधिक शब्दावली के निर्माण के लिये अपेक्षित आधारभूत सिद्धान्तों की एकरूपता के सम्बन्ध में समान नीति के आधार पर विधि और प्रशासन के क्षेत्रों में सम्पूर्ण कार्यों को हिन्दी के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाने के लिये अवश्य पालनीय नियम बना दें तो कोई कारण नहीं कि अहिन्दी भाषाभाषी सरकारें उनका अनुसरण न करें। अस्तु।

जहाँ तक परिनियम विधि के हिन्दी भाषान्तर का प्रश्न है, यह बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ कार्य हुआ है। विशेष रूप से समसामयिक अधिनियमों, नियमों आदि के सम्बन्ध में। किन्तु विधि के क्षेत्र में कार्य करने वालों और हिन्दी के समर्थक विधिज्ञों और ऐसे साहित्य के सामान्य उपयोग का अवसर प्राप्त करने वाले जागरूक व्यक्तियों में इस कार्य की मात्रा और तत्सम्बन्धी गुणिता की समीचीनता के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी इन लोगों में मतभेद है। यहाँ नीति विषयक मतभेद के मूलभूत आधारों की संक्षिप्त चर्चा अप्रासङ्गिक न होगी। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में दखल रखने वाले विद्वानों में एक वर्ग ऐसा है जो सीधे सरलीकरण की नीति पर बल देता है और संस्कृतनिष्ठ तथा क्लिष्ट भाषा की दुरूहता को समाप्त करना चाहता है। दूसरा वर्ग ऐसा है, जो वैज्ञानिक सूक्ष्मता पर बल देता है और वैधिक क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की बहुमुखी अर्थवत्ता को अंग्रेजी की तुलना में किसी भी रूप में कम नहीं होने देना चाहता।

वैधानिक क्षेत्र में भाषा की अर्थवत्ता का महत्त्व साहित्य की भाषा के समान मात्र शैली और नहीं है इस क्षेत्र की भाषा मे प्राविधिक शब्द के अर्थ के साथ

उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी जुड़ा रहता है जिसका प्रभाव हानि और लाभ के रूप में तत्काल ही नागरिकों के जीवन पर पड़ता है यदि हम अधिनियमों उपविधियों और नियमों आदि के संशोधनों का अध्ययन करें तो हमें ऐसे बहुत से संशोधन प्राप्त होंगे, जिसमें किसी एक शब्द को ही जोड़ने अथवा निकालने के लिये संसद अथवा विधान सभाओं के समक्ष विधेयक प्रस्तुत किये गये है। यही अवस्था उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की भी है। विधि प्रतिवेदन की कोई भी पुस्तक उठाइये, आपको अनेकों ऐसे पुनरावेदनों पुनरीक्षणों और लेखों आदि के प्रतिवेदन प्राप्त होंगे, जिनमें निर्णय का आधार किसी प्राविधिक शब्द का निर्वचन है। प्राविधिक शब्दों के निर्वचन का महत्त्व इतना अधिक है कि उसके कारण अनेकों बार अनेकों अधिनियमों, नियमों, और भारत के संविधान तक में संशोधन करने पड़ते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वैधिक क्षेत्र में प्राविधिक शब्दों की अर्थवत्ता के महत्त्व का अनुमान हम लगा सकते है। भाषा के लालित्य और शुष्कता का प्रतिपादन करने वाला संस्कृत साहित्य के व्याकरणाचार्य और साहित्याचार्य की उक्तियों का एक बहुत ही प्रसिद्ध उदाहरण है। 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः'। बात एक ही है लेकिन अन्दाजे बयाँ अलग-अलग हैं। एक कथन में व्याकरण सम्बन्धी शुद्धता और शुष्कता है किन्तु दूसरे कथन से सहृदय मानस की रागात्मक संवेदना की अनुभूति होने लगती है। भाषागत यह उत्कृष्टता परम महत्त्व की है। किन्तु विधि के क्षेत्र में एक-एक प्राविधिक शब्द के साथ एक-एक सीमित अर्थ जुड़ा हुआ है, जिसका प्रभाव व्यावहारिक जीवन पर पड़ता है। हम उन विशिष्ट शब्दों के स्थान पर, चाहे सरलीकरण के नाम पर अथवा भाषा के लालित्य के नाम पर अन्य शब्दों को नहीं रख सकते। विषय को स्पष्ट करने के लिये कुछ उदाहरण आवश्यक है। वैधिक क्षेत्र में नित्य-प्रति प्रयोग में आने वाले कुछ शब्दों को हम लें। To decide; To decree; To adjudicate; To adjudge; To Settle, To dispose आदि। यदि हम चाहें तो इन सभी शब्दों के अर्थ को सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य भाषा के एक शब्द 'तै करना' द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। किन्तु ऐसा करना सरलीकरण की प्रक्रिया को अति पर ले जाना होगा। वास्तविकता यह है कि इन शब्दों के साथ एक प्राविधिक अर्थवत्ता जुडी हुई है। हमें इनमें से प्रत्येक शब्द के लिये हिन्दी के पृथक् शब्दों का निर्माण और निर्धारण करना होगा, जो व्यावहारिक स्तर पर उतने अर्थ को व्यक्त करने में सक्षम हो, जितना अंग्रेजी के शब्दों की अर्थ-परिधि के अन्तर्गत है। उपर्युक्त अंग्रेजी शब्दों के लिये यदि क्रमानुसार—विनिश्चित करना, आज्ञप्ति प्रदान करना, न्यायनिर्णयन करना, निर्णय देना, तै करना और निर्वर्तन करना—शब्दों को रक्खा जाय तो उनके प्राविधिक अर्थ की प्रभिन्नता भी बनी रहेगी और प्रत्येक शब्द का सुनिश्चित अर्थ भी सुरक्षित रहेगा। दीर्घावधि के सतत प्रयोग द्वारा ही इन शब्दों और इनके अर्थ की सुस्पष्टता अपने आप प्रतिष्ठित हो जायगी। विधि के क्षेत्र में कार्य करने वाले लोग यदि विनायमुखासमत, नालिश, हाजा, तजवीज़ सानी, कबिलेदस्तन्दाज़, हस्फज़ैल आदि अरबी-फारसी के शब्दों को समझ सकते हैं, तो उन्हें उक्त हिन्दी के शब्दों को समझने में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होनी चाहिये

जहाँ तक परिनियम विधि का सम्बन्ध है अनुवाद के लिये हमे अधिक संख्या में प्राविधिक और अर्द्ध-प्राविधिक शब्दावली ही प्राप्त होती है। किन्तु वादविधि की सामग्री के अनुवाद में हमें प्राविधिक और अर्द्धप्राविधिक शब्दावली के अतिरिक्त सामान्य शब्दावली भी अधिक मात्रा में प्राप्य होती है। इसका कारण यह है कि वादविधि में विवादों के तथ्यों का वर्णन भी अपेक्षित होता है और उन तथ्यों का परिनियम विधि के सन्दर्भ में विवेचन और विश्लेषण करने की प्रक्रिया में सामान्य शब्दावली का प्रयोग भी करना पड़ता है। विशुद्ध रूप से वैधिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और विवाद के सन्दर्भ में उनके आधार पर निष्कर्षात्मक रूप से विनिश्चयन करते समय तो प्राविधिक तथा अर्द्धप्राविधिक शब्दों का प्रयोग करना होगा और तत्सम्बन्धी अनुवाद की भाषा को भी हमें उसके अनुसार ही रखना होगा।

वैसे प्रस्तुत लेख का विषय अत्यन्त ही व्यापक और व्यावहारिक स्तर पर कठिनाइयों की दृष्टि से बहुत ही जटिल तथा दुरूह है। किन्तु इस सम्बन्ध में परिनियम विधि और वाद विधि के अंशों का उदाहरण देकर उसमें प्रयुक्त किये जाने के लिये प्रस्तावित शब्दावली तथा उसके वैज्ञानिक औचित्य का विशद विवेचन, विश्लेषण तथा प्रतिपादन करके भाषा सम्बन्धी एक आदर्श प्रस्तुत किया जा सकता है। विधि के क्षेत्र में भाषा के ऐसे आदर्श रूप का निर्माण, प्राविधिक, अर्द्ध प्राविधिक तथा सामान्य रूप की शब्दावली का सन्तुलित, विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक उपयोग उसमें अन्तर्हित विधि सम्बन्धी अर्थवत्ता के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक रह कर ही कर सकते हैं।

तीन

•

पन्द्रहवीं शती ईसवी के अवधी कवि सूरजदास और उनकी कृति 'रामजनम'

•

• गोविन्दजी

'हिन्दुस्तानी' के जुलाई-सितम्बर १९६२ ईसवी के अंक में 'सूरजदास-कृत रामजनम' शीर्षक से मेरी एक परिचयात्मक रचना प्रकाशित हुई है। सूरजदास की इस कृति (रामजनम) तथा एक अन्य कृति एकादसी कथा' को हिन्दी साहित्य के ने महाकवि सूरदास कृत

मान लिया था[१] किन्तु इधर के शोध से यह स्पष्ट हो चुका है कि उक्त दोनो रचनाएँ महाकवि सूरदास की न होकर अवधी के कवि सूरजदास की हैं।[२]

सूरजदास के काल के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित निर्णय नहीं लिया जा सका है। अपनी उक्त दोनो रचनाओं में कवि ने इस सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। सूरजदास का उल्लेख उनके एक परवर्ती कवि ईश्वरदास ने अपनी एक कृति 'स्वर्गारोहिणी' कथा में इस प्रकार किया है:—

सुरजदास सीतापद गायो।
ऊखा प्रचहरि सिह देव गायो।।४।।[३]

ईश्वरदास के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि सूरजदास ईश्वरदास के पूर्ववर्ती थे। ईश्वरदास का समय डॉ० हरिहरनिवास द्विवेदी ने ईश्वरदास की एक कृति 'सत्यवती कथा' के एक पद के आधार पर सन् १५०१ ईसवी (संवत् १५५८ वि०) निश्चित किया है।[४] अतः इससे निश्चित हो जाता है कि सूरजदास का समय सन् १५०० ई० के पूर्व का है।

सूरजदास की तीन कृतियों का उल्लेख अब तक मिला है। दो कृतियाँ 'रामजनम' तथा 'एकादशी कथा' उपलब्ध है तथा तीसरी कृति 'सीतापद' का उल्लेख ईश्वरदास ने 'स्वर्गारोहिणी कथा' मे किया है। यह कृति अभी तक नहीं मिली है। डॉ० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित 'ईश्वरदास कृत सत्यवती कथा तथा अन्य कृतियाँ' में ईश्वरदास रचित चार कृतियाँ 'सत्यवतीकथा', 'भरतविलाप', 'स्वर्गारोहिणी कथा' तथा 'एकादशी कथा' सङ्कलित हैं। इस ग्रन्थ के प्रस्तावना भाग मे डॉ० हरिहरनिवास द्विवेदी ने 'भरतविलाप' को ईश्वरदास रचित होने में सन्देह प्रकट किया है और लिखा है कि "भरत-विलाप सम्भव है ईश्वरदास की कृति न होकर सूरजदास की हो जिनका उल्लेख 'स्वर्गारोहिणी कथा' में आया है।"[५] डॉ० द्विवेदी का यह अनुमान निराधार नही कहा जा सकता, क्योंकि 'भरत–विलाप' की उपलब्ध कतिपय प्रतियों में नाम-छाप 'सूरजदास' ही मिलता है।[६] फिर, 'रामजनम' और 'भरतविलाप' की भाषा में साम्य भी बहुत है और जो कवि 'रामजनम' और 'सीतापद' लिखता है उसके लिए 'भरतविलाप' लिखना स्वाभाविक ही है। अतः मेरा भी अनुमान है कि 'भरतविलाप' सूरजदास कृत ही है।

इस सन्दर्भ में यहाँ एक और बात उल्लेखनीय है। अपनी सम्पादित पुस्तक में डॉ० मिश्र ने लिखा है कि "ईश्वरदास की 'एकादशी कथा' तथा सूरजदास की 'एकादशी कथा' में साम्य है। .. सम्भव है कि उन्होने सूरजदास कृत 'एकादशी कथा' के आधार पर अपनी यह कृति बनाई हो।" मिश्र जी के इस कथन में बहुत कुछ सत्यता प्रतीत होती है, क्योंकि सूरजदास को इतनी श्रद्धा से स्मरण करनेवाला कवि उनसे कुछ ले लें तो क्या आश्चर्य! 'रामजनम' की एक चौपाई थोड़े से परिवर्तन के साथ 'स्वर्गारोहिणी कथा' में भी पायी जाती है। यथा—

(१) मात पिता बंदौं गुरु पाऊँ।
जिन्ह मोहि निरमल ग्यान सिखाऊँ स्वर्गारोहिणी कथा—मिश्र)

(२) बरनौ देव विप्र गुरु पाऊँ।
जिन्ह मोहि निरमल ज्ञान सिखाऊँ॥ (रामजनम-मेरी प्रति)

जैसा कि 'हिन्दुस्तानी' के उक्त अङ्क में उल्लेख कर चुका हूँ कि बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का खोज विवरण' में सूरजदासकृत 'रामजनम' की उपलब्ध ४-५ प्रतियों का उल्लेख किया गया है। ये प्रतियाँ बिहार से उपलब्ध हुई हैं। सूर-साहित्य के अध्येता श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी को भी बहराइच, फैजाबाद, तथा उन्नाव में इस ग्रन्थ की प्रतियाँ देखने को मिली हैं। मेरे पास जो पूर्ण प्रति है वह बलिया जिले (उत्तर प्रदेश) के रेपुरा ग्राम से प्राप्त हुई है। प्रतियों के प्राप्ति-स्थानों को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सूरजदास और उनकी कृति 'रामजनम' हिन्दी-प्रदेश में कितनी लोकप्रिय रही होगी।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मुल्लादाऊद कृत 'चन्दायन' के पश्चात् सूरजदास का 'रामजनम' अवधी का प्राचीनतम प्राप्त ग्रन्थ है जिसका राम-कथा के विकास-क्रम की दृष्टि से तो महत्त्व है ही, भाषा के विकास-क्रम की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्व है। अतएव इस दिशा में कार्य करनेवाले अन्वेषकों के लिए 'रामजन्म' का पाठ नीचे प्रस्तुत है—

। श्री रामजी शहाऐ ।
। श्री गंगाजी शहाऐ ।
। श्री भवानी जी शहाऐ ।
। श्री गणेश जी शहाऐ ।

श्री पोथी राम जनम

बरनो गनपति बिघिन विनाशा । राम रूप होए पुरवहु आशा॥
कंठे स्रोस्ती ह्रीदे महेशा । विद्या देहि श्री दाता गनेशा॥
बरनो स्रोस्ती अस्रोत बानी । राम रूप तुम्ह भलि गति जानी॥
बरनो चांद सुरुज की जोती । राम रूप रस निर्मल मोती॥
बरनो देव बिप्र गुर पाउं । जिन्ह मोहि निरमल ग्यान सिखाउं॥

दोहा—सुरजदास कवि बरनो, प्रान नाथ ज...मोर।
राम कथा किछु भाखो, कहत न लागे...र॥१॥

बालिमीक रामायेन भाखा । तीनि भुअन जे भरि पुर राखा॥
श्री रामकथा जिन्ह कीन्ह बिचारा । सातो खंड कीन्ह विस्तारा॥
राम कै जनम पढ़े जो सुनई । सहस होम सो दिन दिन करई॥
हुदै माह तिरबेनी कीन्हा । कोटि गाय बिप्रकह दीन्हा॥
कोटि बिप्र जो नेवति जेवावा । कोटि भार कचन पहिरावा

जाहां ताहां ब्राभन नेवते आए । दछिना देइ के बिदा कराए।।
कोटि अशमेध जग्य जो कीन्हा । सो फल राम जन्म नर दीन्हा।।

दोहा—कोटि तीरथ जो कोन्हा, गहने दीन्हा दान।
सुरजदास कवि बरनो, सुनते राम पुरान।।२।।

नगर अजोधा दशरथ राउ । जानहु अवध पुरन्दर छाउ।।
नव खण्ड लछीमी जीतिहु आनी । बिआही त्रिआ तीन सै रानी।।
तेहि मह तीन पाटकी रानी । कौशिल्या सुमित्रहि जानी।।
रूप-राशि पुनि केकइ कैसी । शिव के संग सती रहु जैसी।।
राज करत बहुत दिन गैउ । आनंद मंगल बहु विधि भैउ।।
एक दिन राजा अहेरहि जाई । तहवां राजा गए भुलाई।।
बन बन फिरत पंथ न पाएउ । तहवां राजा बैठ गंवाएउ।।
सरवर देखु ताहां एक राउ । संझा काल भए तेहि ठाउ।।

दोहा—सरवर तीर बैठे तब, राजा करे अनुमान।
राजा बैठि तब झंखहि, हाथ लिए धनुबान।।३।।

विधि संजोग जो शरवन आवा । मातु पिता कह तिरथ करावा।।
अवध रीखैशर अवध नसोई । कहो न पुत्र जल त्रिखा मन होई।।
पिअहि नीर रहे प्रान हमारा । सुनि शरवन मन कीन्ह बिचारा।।
हेठ धरो त बाघ सिध खाई । उपर धरो शहद्रुल ले जाई।।
तरुअर शाखा काँवरि बोठधाई । लौआ ले के नीर कह धाई।।
निशा निरानि जन्म भा जबही । लौकी भभकि उठी गौ तबही।।
तब दशरथ मनहि बिचारी । छुधावंत म्रिगाउ आयी करारी।।
म्रिगा धोखे नृप बान जो मारा । जाए शरवन के लागु लिलारा।।
राम नाम के पर मुरुछाई । सुना बचन न्रिप देखा जाई।।

दोहा—दशरथ जाए के देखा, मानुख एक जो आही।
मुरुछा देखि कै राजा, बहु विशमै तब कीन्ह।।४।।

तब शरवन अब पूछा ताही । आरे अधम कवन ते आही।।
मात पिता त्रिखा दुख पावा । तेइ पापी मोहि मारि गिरावा।।
कहे राजा मैं अवध के राउ । पशु धोखे मैं कीन्ह जो घाउ।।
मै रीखै अपराधि तोहारा । करु मोकै जस परै बिचारा।।
कहै श्रवन तुम तुरित सिधावहु । उन्ह तपसी कह पानी पिआवहु।।
हम कह बिधि ऐसी रचि राखा । तुम जो करहु पिता जो भाखा।।
चलो भोप लौका ले पानी तबहि रिख अस कहा भवानी

अध पुकारहि उठि उठि पानी । श्रवन पुत्र ले आवहु पानी।
त्रिखा बहुत हम दूनहु प्रानी । बोलहु पुत्र जो अम्रीत बानी।।
कीते राकश कीते दूता । कीते आहिशि मोर श्रवन पूता।

दोहा—वेगि पानि ले आवहु, श्रवन पुत्र जो धाय।
त्रिखा बहुत हम पावा, पानी आय पिआय।।५।।

तब दशरथ कहा बिचारी । सुनहु रिखै अस बचन हमारी।।
न हम राकश न हम दूता । मैं मारा तोर शरवन पूता।।
शरवन तुम कह नीर पठावा । रीखै अधम पापी लै आवा।।
पिअहु नीर रहै प्रान तोहारा । करु मोकहुँ जस परे बिचारा।।
अरे अधम हतेसी संतापी । बड़ अपराध कीन्ह ते पापी।।
मै रीख हो अजोधा के राउ । पशु धोखे जो कीन्ह जो घाउ।।
मै अपराधी रिखै तोहारा । करु मोकह जस परे बिचारा।।
दीन्ह तोरि जो मोरि गति आई । पुत्र शोग तुम्ह प्रान गवाई।।
एतना कही प्रान दुहु त्यागा । परी स्राप त्रिप चले बैरागा।।
जो परमेशर संतति देही । तिन्ह के शोग भले जीव लेही।।
एतना कही नग्र चलि आए । पाट उपर भे बैठे जाए।।
भूजत राजा भरम भुलाना । वृद्ध भए पाछे पछताना।।

दोहा—दरपन लै मुख देखा, देखि बदन अकुलान।
सपने सोअत राजा, झंखत भैउ बिहान।।६।।

चिहुकि उठे राजा पुनि कैसे । गाठि के रतन छूटि परु जैसे।।
शुमत महथा राज हकरावा । गुर वशिष्ठ के आश्रम आवा।।
गुर के चरन धै पूछु भुआरा । स्वामी मोर करहु उपकारा।।
लछमी मोर सब गई असारा । एक पुत्र बिनु जग अंधारा।।

दोहा—काके टीका सारो, काके सौंपो शहन भंडार।
एक पुत्र बिनु सामी, गए बंश बेवहार।।७।।

बालापन ते भुआवल होई । अन धन कह चीन्हें सब कोई।।
सुनु राजा कुल वंश भुआरा । एह जग कै है एह बेवहारा।।
कहै वशिष्ठ रिखै शतभाऊ । पहिलै निरधन धन गोहराऊ।।
धन भए कलंत्र जो होई । भए कलंत्र पुत्र जो होई।।
सुत भए व्याह के साती । भए व्याह जो होखहि नाती।।

दोहा—नाती भए परनाती, तबहु ना पूजी आश।
मत त्रिशु मा माने काल स्मिये ८

जो तोहि राजा पुत्र के आशा । चोखे जाहु सींगी रिखि पाशा ॥
चरन लागि कै रिखै मनावहु । होहि प्रसन्न तबहि सिघावहु ॥
रथ चढ़ि राव चले पुनि ताँहा । शींगी रिखि कै आश्रम जाँहा ॥
शींगी रिखि गौतम के बेटा । सुरजदास कवि राजे भेंटा ॥
कटि बाँधे जेवरी एक मोटी । कुभ के बोकला कीन्ह कछोटी ॥
देखि शींगी रिखि आगे ठाढ़ा । अग्नि शिखा जनु धै कै काढ़ा ॥

दोहा—रथ से उतरे राजा, गए चरन पर लोटि।
शींगी रिखि का मन भो, दाया उपजो मोटि ॥९॥

कहु राजा ते कथिकर दुखी । बेगि कहो कै घालों सुखी ॥
इन्द्र सरग से डारि अड़ाओ । ताहि राज लै तोहि बैसाओ ॥
कहे राजा मैं सभकर सुखी । एक पुत्र बिनु मैं बड़ दुखी ॥
एक पुत्र जो तोहि सो पावो । जनम जनम तोहार गुन गावो ॥

दोहा—तीनि भुबन फिरि आए, कतहु न पूजो आश।
गुर उपदेश गोसाई, आए तोहरे पास ॥१०॥

सुनि के रिखै समाधि तब कीन्हा । अग्नि बारि के आहुति दीन्हा ॥
मूल मंत्र तबही अहि बानर । हिदैआ चेति नरायन आना ॥
चाउर चुरि पींड एक कीन्हा । सो राजा के कर लेइ दीन्हा ॥
माथ नाइ के राजा लीन्हा । तबहि रिखैशर अग्या दीन्हा ॥

दोहा—प्रान वालभी रानी, ताहि खिआवहु जाइ।
त्रिभुअन सुन्दर बेटवा, सो जग जनमिहि आइ ॥११॥

सो लेइ राउ चले पुनि कैसे । दुखी परा धन पावै जैसे ॥
तब राजा अन्तहपुर गएउ । सभ रनिवास धाय कै अएउ ॥
तेहि मह राजा रहे निहारी । काहि देउ मोहि सभै पिआरी ॥
तेहि मह तीनि पाटकी रानी । केकइ कौसिल्या सुमित्रा जानी ॥
तेहि मा राजा शोभै कैसे । तारा माह चदरमा जैसे ॥

दोहा—भौरि ना छाड़े रानी, तब दुइ खंडा कीन्ह।
कोसीला औ केकई, बाटि दुनो के दीन्ह ॥१२॥

दुनो जनी जब लागी खाए । चली चली सुमित्रा आए ॥
कहे सुमित्रा सवति पिआरी । हमहू आज अतीथ तोहारी ॥
दुनो जनी रहीं कर खैंची । कैसे खाइ अतीथहि बाची ॥
अतीथ बाची जो नर खाई । जनम जनम सो नरकहि जाई ।

दोहा—आदर कैं सुमित्रहि , पास बैठाइन्ह आइ।
कछु कछु उन्हके दीन्ह , पाछे लागी खाइ ॥१३॥

तीनो रानी गरभ सु भाऊ । आनँद करे तब दसरथ राउ ॥
मन मो कंचन कलस धरावा । — — — —
मनमो दासी मनमो दासा । मनमो लोग बसे चहुं पासा ॥
सुफल मनोहर बाजन बाजा । निति उठि दान देत है राजा ॥
पाच मंगल गावहिं वर नारी । ब्राभन वेद पढ़े ब्रह्मकारी ॥

दोहा—सुफल मनोहर पूजा , उछहत भैं सब काम।
कोसिल्या के प्रथम ही , जन्म लीन्ह श्रीराम ॥१४॥

चइत मास नवमी गुरवारा । तेहि दिन राम लीन्ह अवतारा ॥
जब जनमे सबसार के सारा । केकइहि जनमे भरथ कुमारा ॥
सुमित्रा जनमे दुई बलबीरा । लछन चतुरगुन रन के धीरा ॥
सुर नर मुनि सभ नाचन लागे । तीनि भुअन के दालिद्र भागे ॥
राम को जनम सुने मन लाई । सो नर सदा बैकुंठहि जाई ॥

दोहा—सहन भंडार उघारा , जो लेवैं सो पार।
श्री रामचन्द्र को जनमे , हरख करे सबसार ॥१५॥

बाहर भीतर राउ न जाई । दिन दिन चौगुन होत बधाई ॥
चारो पुत्र खेलावहि कैसे । दुइ ले आँखि चारि भौ जैसे ॥
दिनहि खेलावहि दिनहि दुलारा । दिन दिन लोग करहि प्रतिपाला ॥
चारों पुत्र खेलावही कैसे । दुइ लें आंखि चारि भौ जैसे ॥

दोहा—चारों पुत्र के आदर , सम सम होय दुलार।
राम छाड़ि के राजा , बेगर होय ना पार ॥१६॥

एक खेलवना जो लेई आवे । कोटि कंचन सो तबही पावे ॥
पाशनि मुंडनि जब जब होई । तब तब धन पुछे नहि कोई ॥
तबहि सो धन मेलि लंडावैं । राम के दरस महा धन पावैं ॥
धन देई जो होखे दुखी । राम के जनमे सभे भा सुखी ॥

दोहा—एहि रंग रहे राजा , बारह बरख तुलान।
बेटवन्हि दीन्ह जनेउ , अस बोले मतिमान ॥१७॥

राम मनोहर राम पिआरा । राम छाड़ि नहिं आन अधारा ॥
रामे माता रामे पीता रामे बाता रामे मुगुता ।

रामे बोलिये रामे कहिए । अह निशि राम नाम चित धरिए ॥
राम नाम सबसार के सारा । राम नाम तिहुँ लोक पिआरा ॥

दोहा—राम रंग रस लावहु, सुरजदास कवि भान।
राम छाड़ि के राजा, बेगर होय न पार ॥१८॥

गुरु हंकारि के लगन धरावा । उठि माटी मंगल तेल चढ़ावा ॥
नव खंड बिप्र जो नेवति जेवावा । विप्रन्ह वेद पढ़े मन लावा ॥
अस्तुति भाट जो करे दुआरा । कनक रतन सभ दीन्ह भंडारा ॥
उतिम भांति पहिती भरि थारी । ताहि उपर भ्रित सुवासित ढारी ॥
बैंगन, सेमि, करइला, पोई । भोजन बिबिध अम्रित सम होई ॥
कंद मूल किछु उत्तिम सागा । उत्तिम भोजन जेवहि आगा ॥
कोरा पारा दहि लपटावा । नृप का जग्य संत का भावा ॥
परोसन बहुत छपन परकारा । एहि विधि लोग करे जेवनारा ॥
कोई ना पवरी दुआरा । — — — — ॥
पाचो दिन तब आए तुलाना । कीन्ह भेख तब चारों जाना ॥
दीन्ह जनेव मटुक पहिरावा । पहिरी कंचन द्रोन बधावा ॥
धनुष बान तब कर ले दीन्हा । तीनि भुवन तब जै जै कीन्हा ॥

दोहा—बेटवन्ह कीन्ह जनेऊ, हरख करे तब राउ।
विस्वामित्र रिखेसर, एहि अंतर चलि आउ ॥१९॥

उठि के राजा डंडवत कीन्हा । आनि सिंघासन बैठि के दीन्हा ॥
कहे राजा अब सुदिन हमारी । बिस्वामित्र पांव अब धारी ॥
सींगी रिखि मोहि कीन्ह पसाउ । तिन्ह प्रशाद पुत्र फल पाउ ॥

दोहा—तिन्ह रिखिअन्ह के दाआ, सुफल भए सब काम।
अग्या कवन गोसाईं, आयहु कवने काम ॥२०॥

आयहु राजा भेंटन तोही । तोहरे हरख हरख भा मोहीं ॥
दुष्ट तालुका जग्य नशावा । एको काम न होखे पावा ॥
बन मों ब्राभन होते सुखी । ओहि के करत सभे बा दुखी ॥

दोहा—ओहि के देखत राजा, होए ना एको काम।
ताहि बधे की कारने, मागत हौं श्रीराम ॥२१॥

निठुरि बचन जनि बोलु गोसाईं । खेड़ा करत जीव चलि जाई ॥
मांगहु गज रथ सहन भंडारा । सरबस देत न लाओ बारा ॥
औ मागहु परिजन परिवारा । —ये मह मागहु एक बारा ॥

दोहा—(काढ़ि लेउ?) जीव मोरे, के वहु लेवैं पार।
जीव देवैं बखपारो, राम के देवैं पार॥२२॥

सुनि के बचन रिखै रिसियाना। राम छाड़ि नाँहि मांगे आना॥
पहिले लेइ तालुका भराओ। पाछे धनु गुन वेद पढ़ाओ॥
कवन बोल तुम बोलन लागे। हठ ना रहि हैं हमरे आगे॥

दोहा—चोखे देहु रामहि मोहि, का लावहु पडिवार।
नाँहि तो नग्र अजोध्या, जारि करों घै छार॥२३॥

सुनि के राउ परा भुइ कैसे। मंत्र के मारल विखिधर जैसे॥
राजा मुरछि परे अंगनाई। सभ रनिवास धाइ के आई॥
सीतल चंदन सीतल पानी। सीतल पवन डोलावहि रानी॥
आपु परारन कीन्है भुवारा। राम नाम मुख करे पुकारा॥
नग्र के लोग आए तब धाई। घर बाहर तब कछु न सोहाई॥
कहवा के बाभन ए हठुआरा। दहि मह मैलिसि काठ के फारा॥

दोहा—मंगत सोइ जो मांगिए, जो दाता देवै पार।
राम का मांगे का पाइए, जो सभके प्रान अधार॥२४॥

अधिको रिखै उठा रिशाई। धुंआ धुरी अकाश ते आई॥
ते धूँवे सवसार बीआपा। सुर नर मुनि सब देखि कै कांपा॥
सब देवन्ह अकाश गोहिरावा। देवन्ह कहिकै राव बुझावा॥
विश्वामित्र छोट जनि जानहु। देहु राम भरम जनि जानहु॥

दोहा—सुफल काम सब होइहै, मांगत हैं जेहि लागि।
विश्वामित्र मनावहु, जब लगि उठे न आगि॥२५॥

देवन्हि कहिके राव बुझावा। कर गहि राउ राम लेइ आवा॥
लेहु रिखै अब आँखि हमारी। जस जानहु तसि करहु विचारी॥
पांव परी तीनु सै महतारी। — — — ॥
सभ कर नैन राम संग धावा। आंधर के से भै बैशावा॥
इन्ह अधरन्ह पुनि देखबि कहिआ। पलटि राम घर अइहै जहिया॥
कहे रिखैशर सुनहु हो राजा। करब तोहार सभे हित काजा॥

दोहा—सत् बचन सुनु राजा, अस भाखो मन जानि।
करी विआह राम के, पाछे सौंपो आनि॥२६॥

रामहि लेइ रिखैसर चले। लछन आए राम संग मिले॥
सरो करे हम जाइबि भाई राम छाडि मोहि रहा न बाई

राम समवि के फल्टु मुवारा । चले रिखं ले आसि हमारा।
देखहु बाभन के सरिआई । हरि ले चले दास की नाईं।
आगे रिखं पाछें दुनो भाई । राम लखन दूनो संग जाई॥
पहिले लेइ गंगा नहवावा । पाछे धनु गुन वेद पढ़ावा॥
विश्वामित्र के आश्रम आवा । संझा बेरि कछु वेद पढ़ावा॥

दोहा—श्रम कथा कछु कहिके , सूते सेज बिछाई।
आधी रात जब बीती , तबहि तालुका आई॥२७॥

भैं उतपात तालुका आऐ । बाभन सब तब गए डेराऐ॥
टूटे रुख पात उधिआई । गरजत आवैं मेघ की नाईं॥
टूटे तरिवर जब छाड़े स्वाशा । भुइ पाव सिर देखु अकाशा॥
उठि के राम धनुख तब लीन्हा । काढ़े बान फेंक शर दीन्हा॥
अति अंधार कछु बरनि न जाई । जानहु रहा प्रीथीमी छाई॥
दांत के चमकत भौं उजियारा । बीसो बाहु राम तब मारा॥
जैं जैं जैं बाभन गोहरावा । माथ काटि के भूमि खशावा॥
काढ़े काट करक जश जाई । तैसे बाभन गऐ जुड़ाई॥

दोहा—मारा तालुका राम तब , बाभन के सुख लागि।
जैसे जठरत कुसुम बन , मेघ बतावत आगि॥२८॥

मारा तालुका बहुत गंधाई । खनि गाड़ा तब गंधि न जाई॥
चौदह लहस्र दइत संग धावा । ताहु मारि के जग्य करावा॥
बाभन सभ तो नाचन लागे । अस्तुति करहि राम के आगे॥
एह पापी बहुत दुख दीन्हा । भलेही राम निकंदन कीन्हा॥

दोहा—सरो करावैं रिखंसर , वेद पढ़ावै मन लाइ।
बाभन के सुख कारने , बन मो दुनो भाइ॥२९॥

बरिश देवस बन रहेउ कुमारा । बाभन केर कीन्ह प्रतिपारा॥
पुनि ले चले रिखंसर काँहा । जनक शुअम्बर सुनिऐ जाहाँ॥
उतरे गंगा बिलंब न लाई । दीना दुइ मह तिरहुत जाई॥
देखा जाए जनक दरबारा । उतरे चहुँ दिसि बहुत भुआरा॥
बाहर नग्र धनुख है धारा । शेश नाग जनु सोहै पारा॥

दोहा—केहु ना छुवै पारै , जे छुवै तेहि खाइ।
देस देस के राजा कुछ छुइ गए रुखाइ ३०

उठि के राउ जनक तब धावा । विश्वामित्र के आश्रम आवा ॥
पाँव लागि के पूछु भुआरा । तोहरे पाछे के दुइ बीरा ॥
धनुख धरे पुनि देखिय कैसा । सहस्र कला रवि उगै जैसा ॥

दोहा—कहै रिखै सुनु राजा , छाड़हु मन के विराम ।
सिआ शुअमर कारने , लै आए श्रीराम ॥३१॥

सुनि के हरख करे तब राजा । पाँच शबद तब बाजन बाजा ॥
सुनि के सिआ सहे नहि पारी । चढ़ी धवरहर राम निहारी ॥
देखत राम पांचशर छूटी । कोमल बदन शीत पहि फूटी ॥

दोहा—कठिन धनुष रे भाई , राम के तन सुकुमार ।
सिआ मनाउ विधाता , चढ़त न लागे वार ॥३२॥

राम कहा मैं देखो जाई । बाँए हाथ तब धनुष उठाई ॥
चढ़ा धनुख तब भाखा फूटी । तबहि जनक के शंसै छूटी ॥
गुन चढ़ाइ स्रवन ले ताना । भऐं टंकोर शबद घहराना ॥
लीन्ह धनुष कीन्ह तब जोरा । खेंची धनुख अपने कर तोरा ॥

दोहा—दारुन शबद उठा तब , तीनि लोक अकुलान ।
परशराम जाहाँ होते , शबद परोगौ कान ॥३३॥

टूटा धनुख तब हरख भुआला । हरखित सिआ मेल जै माला ॥
राम सिआ के दिस्टी निहारी । छुटा मदन गाँठि जनु बारी ॥
कहे लोग सब अम्रित बानी । धन्य राम तिहु लोक बखानी ॥

दोहा—कहे लोग सुनु राजा , सोचहु लगन नपूत ।
दशरथ राऐ हंकारहू , अवध पठावहु दूत ॥३४॥

लगन निरुपि के पत्रि लिखावा । दूत हाथ दे अवध पठावा ॥
तब राजा कै अग्या भएउ । पलटि सिआ धवराहर गैउ ॥
राम के बास धवराहर दीन्हा । विश्वामित्र के आदर कीन्हा ॥

दोहा—दूत अवध गए चोखे , जाय सुनाएउ बात ।
राम के ब्याह जनकपुर , चोखे चलो बरात ॥३५॥

सुनि के हरख करे तब राजा । पाँच शबद तब बाजन बाजा ॥
साजा रथनि शरि बरिआता । जानहु सरग से चले बिधाता ॥
भरथ शतुरघन चले कुमारा विक्रम बुधि के बीतनि हारा ।

आगे पाछ हस्ती असवारा । बाँए दहिने रथ अंगुसारा ॥
पाइक आइ राम संग मिले । सभ दल राम बिआहन चले ॥

दोहा—सभै लोग औ राजा, दोसर अवर न काम।
चोखे चलो रे भाई, जाय देखो श्रीराम ॥३६॥

सुना जनक आवत है राजा । आगे चले जनक दल साजा ॥
विश्वामित्र राम संग मिले । दुनो जना रथ चढ़ि चले ॥
नग्र के लोग आए सब धाई । राम छाड़ि के रहा न जाई ॥

दोहा—देखा देखी जब भए, दुइ दल उतरे झारि।
आए जनक औ दशरथ, गहि लागे अकवारि ॥३७॥

दुनो जना पहिरे जै माला । भरथ चत्रुगुन करे जोहाला ॥
राम धरा दशरथ के पाउ । राम उठाइ के अंक में लाउ ॥
दशरथ राउ राम कह धाये । जानो हंस सरोवर पाये ॥
भरथ कुंअर समदु भुआरा । सभको कीन्ह प्रनाम कुमारा ॥

दोहा—दशरथ राए राम कह, अंक में लीन्ह लगाय।
विश्वामित्र रिखेश्वर, बेगर कीन्ह छड़ाय ॥३८॥

चले पलटि रथ दुनौ राजा । चली कटक तब बाजन बाजा ॥
चला बरात नग्र मँह आवा । देखन कह सब लोग सिधावा ॥
परिछन करे सेवकनि चली । जनु उरभसी आई भली ॥
राम बिआहि सिआ कह लीन्हा । उरमीला लछन कह दीन्हा ॥
भरथ कुमार मंडली व्याही । सामकातिकी चत्रुगुन पाही ॥

दोहा—कनक मटुक औ हस्ती, दीन्हा सकल भण्डार।
चारों पुत्र बिआहिनी, दाइज गने को पार ॥३९॥

भा बिआह समदु बरिआता । दान देत है दशरथ दाता ॥
बेटी समदत करुना होई । आपु परार ना चीन्हे कोई ॥
जनक बिनै कै बहुरे राजा । चली कटक तब बाजन बाजा ॥
विश्वामित्र राम संग मिले । दे आशीश आश्रम कहँ चले ॥

दोहा—चारों रथ बेटवन्ह कै, आगे दीन्ह चलाइ।
पाछे पाछे राजा, राम निहारत जाइ ॥४०॥

चला कटक तब बान मोये । परशराम तबहि सुधि पाये ॥
धारग धमुस तब लीन्ह चढ़ाई फरसा चमके बिजुली की नाई।

परशराम कहे रन को धीरा । तोरा धनुख सो कवने वीरा ।
दशरथ देखि तब गए डेराई । हरख माह विशमै भौ आई ॥
छुटा पशेव आवै नहिं बाता । काँपे जाँघ जस केदलि पाता ॥
रामचंद्र तब कहा रिसाई । पुरुख प्रतग्या भल बौराई ॥
बाभन होइ करो जनि दापा । सहसा के सिंघ भै कांपा ॥
कि दछिना कछु मांगन आये । बचन सत्य तुम्ह मोहिं सुनाये ॥
सुनत परशराम चुप भए रहा । एतना मांगत तु पर ब्याहा ।.

दोहा—राम कहा मैं तोरा, का बोलहु रिसिआइ ।
उहो देहु धय तोरो, जो ले आय चढ़ाइ ॥४१॥

तोरे धनुख राम जब कहा । परशराम तब चितइ के रहा ॥
तबही धनुख हाथ के लीन्हा । इ तोरो तब जानो तोहिन्हा ॥
खैंचि धनुख तब कहा रिसाई । मोर बान निहफल नहिं जाई ॥
बिप्र बधौं तौ धरम न माना । धन्य राम तिहुँ लोक बखाना ॥
छुटा बान तब गति भइ भारी । परशराम तब चला जोहारी ॥

दोहा—बान लाइ के झोका, मारा गति रिसिआइ ।
परसराम तब समुझा, बन मो चला पराइ ॥४२॥

परशराम जीता उत करखा । दशरथ राउ देखि के हरखा ॥
तब दशरथ के मन पतिआना । राम छाड़ि दोसर नहिं आना ॥
ऐकइश बार न छत्री कीन्हा । ताकर धनुख जीति के लीन्हा ॥
राम ब्याहि अवध पइसारा । बहु बंदीजन करहि केवारा ॥
ब्राह्मन वेद पढ़े मन लाई । तरुनी कलस ले आगे आई ॥

दोहा—अंतहपुर गौ राजा, परिछन भौ गुरवानि ।
सासु पतोहुन देखिन, आइ तीनि सौ रानि ॥४३॥

जिन्ह जिन्ह सीता के मुख जोआ । आपन बदन लाज तिन्ह गोआ ॥
गढी बिधाता आपु सँवारी । गुन औ रूप की भंजनिहारी ॥
पुरनिमा के चाँद गगन ते बाढ़ी । तेहि भाँति ते विधने काढ़ी ॥

दोहा—नख ले दरपन देखा, ग्रीव ले मधुर स्वभाव ।
सतीन्ह माह सत सीता, रानिन्ह मंगल गाव ॥४४॥

कनक मटुक सिर कंगन बाहा । छोरी गाँठि राम नर नाहा ॥
तेहि मंह सोह सोहागिन सीता । कनक कछोटी कंगन जीता ।
राम सिया के बिस्टी निहारी से नव जोबन महली कुमारी ।

सीता राम जो देखन आवा। तिन्ह बुढ़िअन्ह तरुनापा पावा॥
जो तरुनापा होती नारी। ते नव जोवन भइली कुमारी॥
नारी पुरुख एक संग मिले। सीता राम के अग्धा चले॥

दोहा—आनंद भैं अवधपुर, घर घर मदन सुभाव।
गन गंध्रब सब देवता, राम राम गोहराव॥४५॥

तवहि कहा जो मनहि बिचारी। गुन ओ रूप की भंजनिहारी॥
जस कौसिल्या दशरथ राउ। सीता राम दशरथ के भाउ॥
बेटा कहे लाज महतारी। सभ मिलि के अस कहा बिचारी॥
राम लखन तुरित पढ़ि आए। भरथ चत्रुगुन पढ़ें बैठाए॥
सीता के मन बड़ बिस्वासा। परिवा पढ़ेत त विद्या नाशा॥

दोहा—सभरेनी अस बोले, बेटवा कहे त बाप।
सीता सभके माता, राम सभे के बाप॥४६॥

छोरा कंगन तब बाजन बाजा। सीता राम चढ़ीगौ छाजा॥
भरथ कुंअर और लछनकुमारा। निज मंदिल महँ कीन्ह बैसारा॥
राम के जन्म मह बड़ सुख भैंउ। ऐह बड़ पुन्य जो सीता पाएउ॥
राम विजै राजा ग्रीह आए। सुरजदास कवि ते शिर नाए॥
राम नाम पुहुमी मो कैसा। अति गंगा जल निरमल जैसा॥
राम के जन्म सुने मन लाई। बढ़े ध्रम पाप छै जो होई॥

दोहा—सभे लोग अनंदित, घर घर बाजन बाज।
विसमे कतहुँ न देखिए, रामचन्द्र के राज॥४७॥

राम के जनम सुने जो काना। ताकह ध्रम होइ कैल्याना॥
गया बनारस जत फल होई। तत फल राम जनम सुने सोई॥
राम के जनम पुहुमी मो कैसा। कोटि तीर्थ फल पावै सो तैसा॥
अति निरमल मुख राम के बानी। बाझहि पुत्र अंध चछु दानी॥
कुस्टी सुने निरमल होइ काआ। पाप छुटैं तन ध्रम बसाआ॥

दोहा—कोटि तीरथ फल पावैं, सुने जो राम पुरान।
जो नर पढ़ें प्रातः उठी, सदा होइ कल्यान॥४८॥

ति श्री पोथी राम जन्म कथा शपुरन जो प्रति देखा सो लिखा मम दोख न दी
नती मोरी, छुटल अछर लेब सब जोरी। संवत् १८६५ समै नाम मीती कुअ
शी वार अतवार के लिखा दशखत लाला झामलाल काएथ मोकाम कोसुनगं
ल पोथी तेआराम।

सन्दर्भ-सङ्केत

१. (क) खोज रिपोर्ट : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९२३-१९२५,पृ० १४३९
(ख) खोज रिपोर्टः नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सन् १९२६-२८,पृ० ६९६,६९८,
(ग) डॉ० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ६१७-२०
(घ) श्री सूर्यकांत शास्त्री : हि० सा० का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० २९८
२. श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी : सूरदास की कोमल काव्य कृतियाँ, कल्पना, जनवरी १९६१
३. डॉ० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित 'ईश्वरदास कृत सत्यवती कथा तथा अन्य कृतियाँ'
४. वही, प्रस्तावना भाग, पृष्ठ १३-१४। ५ वही, प्रस्तावना भाग, पृष्ठ १९,
६. भरत-बिलाप संपूरन भैउ।
सुरुजदास कवि तासु लै गैउ॥ (प्रयाग संग्रहालय की प्रति, सं० १९०९)

चार

कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द

प्रा० कृ० गं० दिवाकर

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'[1] में श्रीमान् तामसकर जी का 'कवीन्द्राचार्य सरस्वती' नामक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मुगल सम्राट शाहजहाँ के आश्रित कवीन्द्राचार्य सरस्वती और छत्रपति शिवाजी महाराज के संस्कृत चरित्र 'शिवभारत' के रचयिता कवीन्द्र परमानन्द दोनों अभिन्न व्यक्ति थे। अनुसन्धान कार्य के सिलसिले में मुझे कवीन्द्राचार्य सरस्वती तथा कवीन्द्र परमानन्द के चरित्रों एवं ग्रन्थों का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। उक्त दोनों कवियों के सम्बन्ध में उपलब्ध समस्त अन्तर्वाह्य सामग्रियों का परिशीलन करने से ज्ञात हुआ कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द दोनों एक व्यक्ति नही अपितु भिन्न व्यक्ति हैं

कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द इन दोनों का अभिन्नत्व सिद्ध करते समय अपने मत की पुष्टि में श्रीमान तामसकर जी ने जो बातें लिखी हैं उनमें से लगभग सभी कल्पना एवं अनुमान पर आधारित हैं। कवीन्द्र सरस्वती बड़े विद्वान् थे तथा बनारस के रहने वाले थे परमानन्द भी 'कवीन्द्र' थे तथा बनारस के रहनेवाले बहुत बड़े विद्वान् थे। दोनों के सम्बन्ध में प्राप्त इतनी-सी सामान्य बातों में समता पाकर श्रीमान् तामसकर जी ने उन दोनों को अभिन्न व्यक्ति ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रारम्भ में ही उन दोनों के अभिन्न होने की बात स्वीकार की है और उसी दृष्टिकोण से हर बात पर बिना विशेष छानबीन किये अनुमान के आधार पर ही चर्चा की है और निष्कर्ष भी निकाले हैं।

कवीन्द्राचार्य सरस्वतीकृत 'कवीन्द्र कल्पद्रुम' नामक संस्कृत ग्रन्थ में कवीन्द्राचार्य के जन्मस्थान के विषय में स्थूल परिचय प्राप्त हो जाता है--

गोदातीरे प्रमोदाबलि विलिततमे जन्मभाक् पुण्यभूमा
ऋग्वेदी वेदवेदी जगति विजयते श्री कवीन्द्र द्विजेन्द्रः ॥[२]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवीन्द्राचार्य का जन्म महाराष्ट्रान्तर्गत गोदावरी नदी के तीरस्थ किसी पुण्यक्षेत्र में हुआ था। यह पुण्यक्षेत्र का स्थान या तो नासिक हो सकता है या प्रतिष्ठान (पैठण)। परन्तु श्री तामसकर जी ने यह स्थान निधिवास (नेवासे) मान लिया है, क्योंकि 'शिवभारत' के रचयिता का निवासस्थान निधिवास था। निधिवास को गोदातीर के पुण्यक्षेत्र के रूप में स्वीकार करते समय उन्होंने भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सूचनाओं की उपेक्षा-सी की है। वास्तव में निधिवास प्रवरा नदी के तीर पर है न कि गोदावरी नदी के।[३] और उस समय निधिवास की प्रसिद्धि भी पुण्यक्षेत्र के रूप में वैसी न थी जैसी नासिक अथवा प्रतिष्ठान की थी। अतः निधिवास को गोदावरी के तीरस्थ पुण्यभूमि मानकर उसे कवीन्द्राचार्य की जन्मभूमि ठहराना कोरी कल्पना मात्र है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती का जन्मस्थान गोदावरी के तीरस्थ पुण्यक्षेत्र नासिक अथवा प्रतिष्ठान (पैठण) था और कवीन्द्र परमानन्द का जन्मस्थान प्रवरा नदी के तीरस्थ निधिवास नामक ग्राम था। अतः यह निश्चित हो जाता है कि दोनों के जन्मस्थान भिन्न थे।

यह सत्य है कि दोनों विद्वान् थे, दोनों को 'कवीन्द्र' उपाधि प्राप्त थी परन्तु केवल इतनी-सी बात के आधार पर दोनों व्यक्तियों को एक ठहराना तर्क-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। किसी भी विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि को 'कवीन्द्र' की उपाधि देने की परम्परा बहुत प्राचीन है। परमानन्द के नाती गोविन्द कवि को भी 'कवीन्द्र' की उपाधि प्राप्त थी।[४] इसी प्रकार कालिदास त्रिवेदी के पुत्र उदयनाथ भी 'कवीन्द्र' नाम से प्रसिद्ध थे।[५] इस भाँति 'कवीन्द्र' उपाधिधारी कई संस्कृत तथा हिन्दी कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि 'कवीन्द्र' उपाधि उन्हें इसीलिये मिली होगी कि वे सभी अच्छे विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि होंगे। अतः केवल 'कवीन्द्र' की उपाधि तथा विद्वत्ता में साम्य होने से कवीन्द्र सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द को अभिन्न ठहराना समीचीन न होगा। अब रही बात दोनों के बनारस-निवास की। परन्तु यह भी कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, क्योंकि उस समय काशी के विद्या का केन्द्र होने से उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिये भारतवर्ष के

समस्त सुदूर प्रान्तो से विद्वज्जन काशी मे आते ही रहत थे इसलिये यद्यपि उन दोनो के काशी निवास का उल्लेख मिलता है तो भी उससे उनके अभिन्नत्व सिद्ध होने में कोई सहायता नही मिलती। 'कवीन्द्र चन्द्रोदय' में प्राप्त एक छन्द के द्वारा कवीन्द्राचार्य सरस्वती के संन्यास पूर्व नाम का अस्पष्ट सा सङ्केत प्राप्त होता है—

भट्टो नारायणः साक्षात् पुरासीच्छङ्करः शिवः।
तथैवात्र स्वयं कृष्णः कवीन्द्रस्वामिदण्डधृक्॥

श्रीमान् तामसकर जी ने इसका अर्थ देते हुए लिखा है—"नारायण भट्ट ही कवीन्द्र थे, जो संन्यासी हुए। वे शङ्कर के समान उपकारी थे और सब का उपकार करते थे। अब वे कृष्ण के समान सब को वेदान्त सिखाते हैं। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ऐसा ही हो सकता है, दूसरा नही ऐसा न होने पर किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे पहले 'शङ्कर-शिव' थे, बाद में कृष्ण हुए। एक ही जीवन में एक आश्रम के न तो दो नाम हो सकते हैं और न दो अवतारों की कल्पना की जा सकती है। शिव अर्थात् उपकारी शङ्कर और कृष्ण अर्थात् वेदान्त की शिक्षा देनेवाले कृष्ण ही अभिप्रेत हो सकते हैं।" अन्वय की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्रीमान् तामसकरजी द्वारा किया हुआ यह अर्थ योग्य नहीं है। वास्तव में इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि इसके पूर्व जिस प्रकार नारायण भट्ट साक्षात् शिव के समान कल्याणकारी थे उसी प्रकार यहाँ (तथैवात्र) ये कवीन्द्र स्वामी संन्यासी होकर भी कृष्ण के समान थे। अर्थात् संन्यासी होकर भी तपश्चर्यार्थ कहीं एकान्त में न जाकर इन्होंने अपना जीवन कृष्ण के समान सामाजिक कार्य के लिये व्यतीत किया था। इस छन्द के पूर्व के छन्दों में भी कवीन्द्राचार्य सरस्वती की तुलना अनेक महान् व्यक्तियों से की गयी है। डॉ० राघवन् ने[१] इसी श्लोक के आधार पर यह अनुमान किया है कि कवीन्द्राचार्य का वास्तविक मूल नाम या तो कृष्ण होगा या संन्यासाश्रम का कोई ऐसा नाम होगा जिसका मुख्य अंश 'कृष्ण' होगा। डॉ० राघवन् के इस कथन से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि तामसकरजी द्वारा लिखित अर्थ ठीक नहीं है। अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नारायण भट्ट कवीन्द्राचार्य का मूल नाम नही था।

श्रीमान् तामसकरजी ने अपने लेख में निष्कर्ष रूप में यह लिखा है कि "हमारा ऐसा मत है कि कवीन्द्राचार्य का मूल नाम नारायण था, पिता का नाम गोविन्द था, संन्यासाश्रम का नाम परमानन्द था और इन्होंने ही 'शिवभारत' नामक शिवाजी का चरित संस्कृत भाषा में लिखा।"[२] यह तो स्पष्ट हो चुका है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती का मूल नाम नारायण भट्ट न था। अब रहा प्रश्न पिता के तथा संन्यासाश्रम के नामों का। उन्होंने अपने निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त मत की पुष्टि में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। कवीन्द्राचार्य के किसी ग्रन्थ में अथवा तत्कालीन पण्डितों तथा कवियों द्वारा रचित उनके लिए अभिनन्दन-ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख तक नहीं मिलता कि कवीन्द्र सरस्वती के पिता का नाम गोविन्द था और संन्यासाश्रम का नाम परमानन्द था।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती कृत 'कवीन्द्र-कल्पलता' नामक हिन्दी ग्रन्थ में कवि ने स्वयं अपना परिचय देते हुए स्पष्ट लिखा है

पहले गोदातीर निवासी।
पाछे आइ बसे हैं कासी।।
सब विषयनि ते भये उदास।
बालदशा में लयो संन्यास।।[१०]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती को जीवन की प्रारम्भावस्था ही मे विरक्ति हुई थी जिसके फलस्वरूप उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। यदि श्रीमान् तामसकरजी की बात मान ली जाय तो जीवन की प्रारम्भावस्था में संन्यासाश्रम के 'परमानन्द' नाम से इनकी प्रसिद्धि हुई होगी। संन्यासी व्यक्ति, संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् केवल उसी नाम का प्रयोग करते हैं जो नाम संन्यासाश्रम मे स्वीकार किया जाता है। यदि 'परमानन्द' कवीन्द्राचार्य सरस्वती का संन्यासाश्रम का नाम था तो उस नाम के स्थान पर उन्होंने परम्परा के विरुद्ध कवीन्द्राचार्य सरस्वती नाम को ही क्यों ग्रहण किया? कवीन्द्राचार्य के समस्त ग्रन्थों में कहीं भी तो 'परमानन्द' नाम का उल्लेख होना चाहिये था, परन्तु वह भी नहीं मिलता।

काशी-प्रयाग जैसे हिन्दू तीर्थ क्षेत्रों को शाहजहाँ द्वारा करमुक्त करानेवाले कवीन्द्राचार्य सरस्वती के कार्य से प्रभावित होकर समकालीन दिग्गज पण्डितों एवं कवियों ने संस्कृत, मराठी और हिन्दी में जो प्रशस्ति काव्य लिखे हैं उनमें कवीन्द्राचार्य सरस्वती के मूल नाम से लेकर सभी उपाधियों का परिचय दिया गया है, परन्तु उनमें 'परमानन्द' नाम का कहीं भी उल्लेख तक नही है। अतः कवीन्द्राचार्य सरस्वती का संन्यासाश्रम का नाम 'परमानन्द' मानना काल्पनिक एवं निराधार ही है। नृसिंह सरस्वती, नारायण सरस्वती, माधव सरस्वती, दामोदर सरस्वती आदि श्रेष्ठ तथा वेदशास्त्रज्ञ संन्यासियों के नाम देखकर अनुमान होता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती नाम उन्होंने संन्यास दीक्षा के समय लिया होगा और परम्परा के अनुसार इसी नाम से वे प्रसिद्ध हुए। कवीन्द्राचार्य सरस्वती स्वयं वेदशास्त्र के ज्ञाता संन्यासी थे और उन्होंने शाहजहाँ के दरबार में 'ऋग्वेद' की व्याख्या सुनायी थी।[११]

इसके अतिरिक्त कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द के अभिन्न न होने के कई प्रमाण दिये जा सकते हैं। कवीन्द्र सरस्वती का संस्कृत तथा हिन्दी पर समान अधिकार था। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों के साथ 'कवीन्द्र कल्पलता', 'योगवाशिष्ठसार' आदि हिन्दी ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। कवीन्द्र परमानन्द के 'शिवभारत' तथा 'परमानन्द काव्य' (अंशावतरण) नामक दो संस्कृत ग्रन्थ ही मिलते हैं। उनके द्वारा रचित कोई हिन्दी ग्रन्थ अब तक न प्रकाश में आया है न इस बात का कहीं उल्लेख ही पाया जाता है। दोनो के ग्रन्थों में प्राप्त पुष्पिकाएँ भी भिन्न हैं। 'कल्पलता' में कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने लिखा है—

इतिश्री सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती विरचितायां
कवीन्द्र कल्पलतायाम् साहिजहां विषयक भाषा कवित्वामि।।[१२]

जहाँगीर की प्रशंसा में लिखित इनके 'जगद्विजय छन्दः' नामक संस्कृत ग्रन्थ में इस प्रकार पुष्पिका मिलती है—

श्री सर्व विद्यानिधान कवीन्द्रार्यं सरस्वतीनां
लघुजगद्विजय छन्दः पुस्तकम्। शुभमस्तु ॥[14]

कवीन्द्र परमानन्द की 'शिवभारत' में प्राप्त पुष्पिका इससे सर्वथा भिन्न है—

इत्यनुपुराणे सूर्यवंशे कवीन्द्रपरमानन्द प्रकाशितायां
शलसाहस्र्यां संहिता यां कुमार प्रभवो नाम प्रथमो ध्यायः ॥[15]

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की शैलियों, उपाधियो तथा नामों में भिन्नता है। दोनों को पढ़कर निश्चय हो जाता है कि दोनों दो भिन्न व्यक्ति थे।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती का अधिकांश काल जहाँगीर तथा शाहजहाँ के दिल्ली दरबार मे व्यतीत हुआ था। सम्भवतः सन् १६२२ ई० से सन् १६५८ ई० तक अर्थात् शाहजहाँ की पदच्युति तक वे मुगल दरबार में ही थे। 'शिवभारत' में परमानन्द ने शिवाजी के जीवन की घटनाओं को इतना विस्तार दिया है कि पढ़कर ज्ञात होता है कि परमानन्द अवश्य ही शिवाजी के सम्पर्क में बहुत काल तक रहे होंगे। 'शिवभारत' में परमानन्द ने शिवचरित्र का वर्णन सूक्ष्मता से किया है। बाल्यावस्था से लेकर शिवाजी के चरित्र का वर्णन उसमें किया गया है। उन्होंने कई स्थानों पर युद्ध में सम्मिलित योद्धाओं की नामावली भी गिनायी है। स्थल, काल तथा घटनाओं का इतना सूक्ष्म वर्णन उस व्यक्ति के लिये कैसे सम्भव है जिसने अपने जीवन का अधिकांश काल मुगल दरबार में बिताया। इसके अतिरिक्त दोनों की वर्णन शैली में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। परमानन्द द्वारा रचित 'शिवभारत' में जहाँ स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक घटनाओं का सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है, वहाँ कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति का अभाव दिखायी देता है। जहाँ परमानन्द की शैली आत्मनिष्ठ (विषयीगत) है वहाँ कवीन्द्राचार्य सरस्वती की शैली वस्तुनिष्ठ (विषयगत) है। कवीन्द्राचार्य का 'ध्रुपद' के प्रति विशेष आकर्षण था। परमानन्द के सम्बन्ध मे यह बात नहीं पायी जाती। दोनों के काव्यविषयों तथा नामकरण की पद्धति में भी भिन्नता है। जहाँ परमानन्द के विषय ऐतिहासिक हैं, वहाँ कवीन्द्राचार्य सरस्वती के विषय ऐतिहासिक, पौराणिक और दार्शनिक हैं। परमानन्द ने अपने ग्रन्थों के नाम 'शिवभारत', 'अंशावतरण' रखे है तो कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने अपने ग्रन्थों के नाम 'कवीन्द्र कल्पलता', 'कवीन्द्र-कल्पद्रुम', 'जगद्विजय छन्दः', 'योगवाशिष्ठसार' आदि रखे हैं। कवीन्द्राचार्य सरस्वती का कविताकाल सन् १६२२ से १६६० तक है और 'शिवभारत' के रचयिता परमानन्द का कविताकाल सन् १६६४ के पश्चात् है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सर्व विद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द इन दोनों में 'कवीन्द्र' उपाधि के अतिरिक्त ऐसा कोई साम्य नहीं मिलता जिससे दोनों की अभिन्नता सिद्ध हो सके। अतः यह निश्चिय हो जाता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द एक व्यक्ति के दो नाम नहीं थे अपितु दोनों **भिन्न व्यक्ति थे**

स्रोत

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, श्रावण-आश्विन, सं० २००५, वर्ष ५३, अङ्क २। इण्डिया ऑफिस कैटलॉग, भा० ७, न० ३९४७। ३. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश: डॉ० श्रीधर व्यङ्कटेश केतकर (१९२५ ई०)। विभाग १७, पृ० ३९३। ४. मराठी रियासत, भा० ४, गो० स० सरदेसाई, पृ० १६४। ५. दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान: डॉ० ग्रियर्सन, कविसंख्या ३३४। ६. कवीन्द्र चन्द्रोदय (सम्पादक शर्मा और पाटकर), छन्द संख्या १२३।

नारायण भट्ट नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण का समय सन् १५१३ ई० से १५८० ई० तक था। इन्होंने काशी में विश्वेश्वर मन्दिर बनवाया था। सम्पूर्ण भारतवर्ष के विद्वान इन्हें आदर-सम्मान देते थे। विद्वता एवं दयालुता के कारण इन्हें 'जगत् गुरु' की उपाधि प्राप्त हुई थी। ये अत्यन्त उपकारी व्यक्ति थे। इनके शिष्यों में ब्रह्मेन्द्र सरस्वती और नारायण सरस्वती प्रसिद्ध हैं। (भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश: सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, सन १९३७ ई०, पृ० ४८९-४९०)
"Kavindracharya Saraswati" Acarya Pushpanjali (D. R. Bandarkar, Com. Vol.) Page 160, Dr. Raghavan bases his argument on stanza from Kavindra Chandrodaya No. 123.

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, श्रावण-आश्विन सं० २००५, वर्ष ५३, अङ्क २।
कवीन्द्र कल्पलता (हस्तलिखित प्रति), भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टि०, पूना।
'कवीन्द्र चन्द्रोदय' में संस्कृत और मराठी के प्रशस्ति काव्य हैं जो शर्मा तथा पाटकर के सम्पादन में ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना से सन १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ है। 'कवीन्द्र-चन्द्रिका' हिन्दी प्रशस्तिकाव्य है, जो अप्रकाशित है और इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में प्राप्त है।
हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, पृष्ठभाग, (सम्पादक डॉ० नगेन्द्र।) पृ० ५।
कवीन्द्र-कल्पलता (हस्तलिखित प्रति), भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।
Jagatvijaya Chhandas by Kavindracharya Saraswati: Editor Dr. C. Kunhan Raja, Head of the Dept. of Sanskrit, University of Madras, 1945 A.D.
शिवभारत: सम्पादक स० म० दिवेकर (शके १८४९), पृ० १२।

पाँच

•

ईसा की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों के शिलालेखों में उपलब्ध प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य

•

रामचन्द्र राय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] ने 'ब्रजभाषा गद्य' शीर्षक के अन्तर्गत वि० सं० १४०० के आसपास में रचित जिस गद्य का उदाहरण दिया है उसका लिखने वाला 'पूछिबा' 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी बताया गया है। मुनि जिन विजय जी ने 'प्राचीन गुजराती गद्य' के सन्दर्भ में वि० सं० १३३०[2] तथा वि० सं० १३६९[3] के ताड़पत्रों तथा वि० स० १३३६ में रचित ग्रन्थ 'बालशिक्षा'[4] एवं वि० सं० १३५८ में रचित ग्रन्थ 'सर्व नमस्कारस्तवन'[5] में उपलब्ध जो गद्य का रूप प्रस्तुत किया है उसको डॉ० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल'[6] ने प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य के अन्तर्गत रक्खा है।

शिलालेखों में राजस्थानी गद्य १२ वी शताब्दी ईसवीं से प्राप्त है। ग्राम पाली (मारवाड़) से प्राप्त वि० सं० १२१० के शिलालेख[7] में उपलब्ध गद्य इस प्रकार है :—

पंक्ति १. संवत् १२१० श्रवण वदि
" २. ७ श्री विजय सिंहेन वा
" ३. लिग[8] सासणं[9] प्रदत्त
पंक्ति ४. खेडि[10] जु राणी[11] होई सु
" ५. जुको वालिगु लेई
" ६. कुहाडु[12] लेई तहि के
७. रिय गदह[13] चडइ

अर्थ—वि० सं० १२१० श्रावण वदि सप्तमी को श्री विजय सिंह ने 'खेड़ा' के 'वालिग' का 'सासण' दिया। 'खेड़ा' का जो 'राणा' हो सो जो कोई 'वालिगु' (अथवा) 'कुहाडु' ले उसके....

इसमें गाली का प्रयोग केवल भय दिखलाने के लिए किया गया है जिससे उक्त दान का किसी भी प्रकार से उल्लङ्घन न हो। इस प्रकार की परम्परा आज भी सुरक्षित है।

इस लेख में भाषा का रूप अपभ्रंश मिश्रित है। व्याकरण की दृष्टि से 'केरिय' सम्बन्धवाची परसर्ग, 'जु' 'जुको' सम्बन्धवाची सर्वनाम, 'तहि' सङ्केतवाची सर्वनाम, 'लेई' 'होई' तथा 'चडइ' वर्तमान एवं कृदन्ती क्रिया रूप हैं

ग्राम नाडलाइ[१५] (मारवाड़) से प्राप्त वि० स० १२२८ के एक शिलालेख में प्रथम एव तृतीय पंक्तियों में गद्य का यह रूप प्रयुक्त है :—

पंक्ति १.ओं संवत् १२ अठावीसा वरषे मागसिर सुदि १३ सोमे श्री भिवडेश्वर

पंक्ति ३. कर्तव्या पाषाण इटकायां घटितः चहूटापनेद्र ३३० लागे ।

अर्थ—वि० सं० १२२८ मार्ग शीर्ष सुदि तेरस सोमवार के दिन. . . .कर्तव्य हेतु पाषाण की ईंटों से चहूटा (चारदीवारी) बनवाने में ३३० द्रम्म लगे।

संख्यावाची विशेषण तथा संज्ञाओं के उपलब्ध रूपों के साथ ही सामान्य भूतकालिक कृदन्ती क्रिया रूप 'लागे' उपलब्ध है।

अर्बुदाचल (माउण्ट आबू) से उपलब्ध वि० सं० १२४५ के शिलालेख[१५] में गद्य का उत्कृष्ट रूप प्राप्त है :—

पंक्ति १. संवत १२४५ वर्षे वैसाख सुदि १ सोमे गोहवलि वास्तव्य[१६]
" २. रणधवल रा० भुंजल देवि अंप कुआर केराः आदाने
" ३. दियः जवां से १६ चडावली[१७] । जुको लोपई तह केरीयः
" ४. गादहु चडइ जेयलं[१८] भाउ नु वी दत्तः[१९] ।

अर्थ—वि० सं० १२४५, वैसाख सुदि १ सोमवार को 'गोहवालि' (ग्राम का नाम) मे वसनेवाले (अर्थात् निवासी) रणधवल, रानी मुंजल देवी तथा अंप कुमार के द्वारा जेयल माता के निमित्त चडावली के लिए सोलह सेर जवा आदान में दिया गया। जो लोप करेगा उसके . . . . . .

इस लेख में सम्बन्धवाची परसर्ग 'केराः', 'केरीयः', सम्बन्धवाची सर्वनाम 'जुको', सङ्केत-वाची सर्वनाम 'तह' तथा वर्तमान एवं भविष्यकालिक कृदन्ती क्रिया रूप 'लोपइ' एवं 'चडइ' उपलब्ध है। प्रस्तुत गद्य रूप वि० सं० १२१० के उपर्युक्त शिलालेख में उपलब्ध गद्य रूप की पुष्टि करता है। इसमें गाली का प्रयोग 'भय' प्रदर्शन हेतु है।

आचार्य परमेश्वर सोलंकी[२०] द्वारा सम्पादित एवं श्री सीताराम लालस[२१] द्वारा उद्धृत नाथूसर (बीकानेर) के वि० सं० १२८० के शिलालेख में उपलब्ध गद्य का रूप इस प्रकार है:—

पंक्ति १. समत १२८० वेरखे मतीमाह सुद्ध २ राग
" २. ड कुसलो गारधनत काम यायो छै गाधनै स
" ३. सर माह रगड़ । कुसलोरणधीर तु झुझार
" ४. हवाछै पाता आरथीयौ रै वीरै महे कम या
" ५. या भटी कस (ल) संघ अखराज तरै भ
" ६. हड आ काम यया छ।

इस लेख को प्रामाणिक स्वीकार करने में प्रधान आपत्ति इसमें उपलब्ध व्याकरण रूप के सम्बन्ध में है। इस काल में संयुक्त कालों के प्रयोग (वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ —

काम यायो छै, झुझार हुवा छै, काम याया छै) को उस समय तक स्वीकार नहीं किया जा सकता है जब तक कि इनका प्रयोग किसी अन्य शिलालेख से अथवा साहित्यिक ग्रन्थ से उपलब्ध न हो। इन दो शताब्दियों में शिलालेख के आधार पर भाषा की सामान्य प्रकृति सामान्य कालों (सामान्य वर्तमान, सामान्य भूत, सामान्य भविष्य) के प्रयोग की रही है। पूर्णता और अपूर्णता का भेद शिलालेख के अनुसार १५ वीं शताब्दी से मिलता है। तभी सहायक क्रियाओं का भी प्रयोग मिलता है। विद्वानों के लिए यह विचारणीय प्रश्न है।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, वि० सं० २००३, पृ० ४०३। २. प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ, अहमदाबाद, वि०, सं० १९८६, पृ० २१८। ३ वही, पृ० २२१ ४. वही, पृ० २०५। ५. वही, पृ० २१९। ६. राजस्थानी गद्य साहित्य, बीकानेर, १९६१ ई० पृ० ३४। ७. प्राचीन जैन लेख संग्रह, भावनगर, ई० स० १९२१, पृ० २५८, लेखाङ्क ४२३। ८. दो सम्भावित अर्थ हैं:—(अ) राजकर (ब) धार्मिक क्षेत्र में प्रयुक्त कोई विशिष्ट दान। प्राकृत-वालुग=परमाधार्मिक देवों की एक जाति जो नरक के जीवों को तप्त बालुका में चने की तरह भूनते हैं (पाइअसद्दमहण्णव, पृ० ९४७) तथा अप० वलग्गइ=आरोहति (भविसयत्त कहा, बड़ौदा १९२३)। ९. आलेखित दान अथवा मुक्ति का आदेश। १०. स्थान का नाम। ११. स्वामी। १२. वालिगु के ही सदृश कोई कर। १३. सं० गर्दभ। १४. एपीग्रैफिक इण्डिका, ख० ११, पृ० ४८। १५. जैन लेख संदोह, ले० सं० २४०। १६. वसनेवाला। १७. अवली=नवान्न (नये अन्न के आगम के निमित्त किया जाने वाला कृत्य विशेष) १८. किसी देवी का नाम। १९. निमित्तं दत्तः। २०. वरदा; बिसाऊ, राजस्थान, वर्ष ४, अङ्क ३, पृ० ३। २१. परम्परा, जोधपुर, भाग १२, पृ० ११९।

छह

•

'रहमत' बिलग्रामी

•

शैलेश ज़ैदी

'रहमत' बिलग्रामी बिलग्राम जिला हरदोई के रहनेवाले एक श्रेष्ठ हिन्दी कवि थे। इनका पूरा नाम सैयद रहमत उल्लाह था हिन्दी कविता मे इनका 'रहमत' था।

मीर गुलामअली आजाद ने 'सर्वे-आज़ाद' में इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है किन्तु इनके किसी भी उपनाम का उल्लेख नहीं किया है। डॉ० आज़म कुरैवी ने 'हिन्दी शायरी' नामक पुस्तक मे इनका उपनाम 'रहमत' बताया है।[1] इनकी अब तक की प्राप्त स्फुट रचनाओं में भी इनका कोई उपनाम नहीं मिलता।

वंश परिचय

सैयद रहमत उल्लाह बिलग्रामी, बिलग्राम के अन्य प्रसिद्ध मुसलमान कवियों की ही भाँति सैयद मुहम्मद सुग़रा के वंशज थे। इनका वंश 'सादाते-हुसैनी अल्-वास्ती' के नाम से प्रसिद्ध है। रहमत जी के पिता का नाम सैयद खैरुल्लाह था। सैयद खैरुल्लाह दीवान सैयद भीका के पुत्र थे।[2] दीवान सैयद भीका की गणना तत्कालीन प्रतिष्ठित एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्तियों में की जाती थी। वे दानशीलता और शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध थे और नवाब इहतिशाम खाँ तथा नवाब मुहतशिम खाँ की सरकार में बड़ा दबदबा रखते थे। सैयद भीका की मृत्यु सन् १०९४ हिजरी अर्थात् सन् १६८३ ई० में हुई। सैयद भीका के पुत्र सैयद खैरुल्लाह प्रारम्भ में अपने पिता के साथ ही रहते थे, किन्तु सैयद भीका ने जब अब्दुर्रहीम नामक व्यक्ति को गोद लिया और उसे फौज का सरदार नियुक्त किया तो वे पिता से अलग हो गये और कबाद खाँ की सरकार में नौकरी कर ली। बाद में सैयद भीका को जब सैयद खैरुल्लाह की कमी का आभास हुआ तो उन्हें भीका ने पुनः बुलवा लिया। अन्त में सैयद खैरुल्लाह अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए एक युद्ध मे वीरतापूर्वक लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[3]

सैयद खैरुल्लाह का विवाह सैयद लुत्फ़-उल्लाह सुत सैयद हसन सुत सैयद नूह बिलग्रामी की कन्या से हुआ था। सैयद रहमत उल्लाह उक्त सैयद लुत्फ़-उल्लाह की कन्या से ही उत्पन्न हुए थे।

जन्म

सैयद रहमत उल्लाह के जन्म-संवत् का उल्लेख किसी भी सन्दर्भ-ग्रन्थ में नहीं मिलता। अनुमानतः इनका जन्म सन् १०६० हिजरी (१६५० ई०) के आस-पास स्वीकार किया जा सकता है। कारण यह है कि नवाब मुर्तुजा खाँ ने सैयद भीका को जिस समय 'मुहासिब' नियुक्त किया, उनकी अवस्था ९० वर्ष थी। यह नियुक्ति सन् १०९० हिजरी (१६७९ ई०) के लगभग हुई थी। इस आयु में सैयद भीका से मुहासिब का कार्य होना बहुत कठिन था। उस समय तक रहमत उल्लाह मुहासिब के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। रहमत जी ने इस अवसर पर सैयद भीका का कार्य स्वयं सँभाल लिया था और उन्हें इस कार्य से मुक्ति दिला दी थी।[4] अनुमानतः यदि उस समय रहमत उल्लाह की आयु ३० वर्ष मान ली जाय तो उनका जन्म संवत् १०६० हिजरी (१६५० ई०) के लगभग ठहरेगा।

शिक्षा-दीक्षा

सैयद रहमत उल्लाह ने अपने पितामह सैयद भीका की देख-रेख में शिक्षा प्राप्त की। सैयद

भीका अरबी और फ़ारसी के विद्वान् तथा प्रसिद्ध गणितज्ञ थे। सम्भव है उन्हें हिन्दी काव्य-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान रहा हो। रहमत उल्लाह ने गणित तथा अन्य विद्याएँ सैयद भीका से ही प्राप्त की; प्रतीत होता है कि हिन्दी काव्य-शास्त्र की शिक्षा भी उन्हें सैयद भीका से ही मिली थी।

पद-प्राप्ति

अपने पितामह के जीवनकाल में ही सैयद रहमत उल्लाह जाजमऊ और बैसवाड़ा के हाकिम नियुक्त हो गये थे। पितामह की मृत्यु के उपरान्त सन् १०९४ हिजरी (१६८३ ई०) में अपने सगे भाई सैयद हबीब उल्लाह को साथ लेकर दक्षिण में शाहजादा मुहम्मद आजमशाह की सेवा मे उपस्थित हुए। वहाँ उन्हें शाहजादे की ओर से साईपुर की जागीर और 'दोसदी' मनसब प्राप्त हुआ तथा सैयद हबीब उल्लाह को डेढ़-सौ के मनसब से सम्मानित किया गया। कुछ समय बाद सैयद हबीब उल्लाह का देहान्त हो गया। सैयद रहमत उल्लाह अपने भतीजे सैयद करम उल्लाह को लेकर बिलग्राम चले आये और फिर उसकी उचित शिक्षा के खयाल से सलीमपुर (उन्नाव) चले गये। सैयद हबीब उल्लाह का विवाह सैयद प्यारे 'उन्नामी' (उन्नाववासी) की कन्या से हुआ था। अतः सैयद करम उल्लाह अपने ननिहाल में ही रहने लगे और वहीं रहकर शिक्षा प्राप्त की।[5]

रहमत जी का स्वभाव

रहमत उल्लाह एक सज्जन तथा दानशील व्यक्ति थे। ईमानदारी तो उनका ईमान थी। उनके हँसमुख स्वभाव में अत्यधिक-आकर्षण था और उन्हें आजीवन इस बात का ध्यान रहा कि उनकी ओर से मनसा-वाचा-कर्मणा किसी को भी कष्ट न पहुँचे। वास्तविक बात तो यह है कि कवि होने के साथ ही साथ वे एक महापुरुष भी थे।

शूर-वीरता

शूरवीरता तो सैयद रहमत उल्लाह को 'वरसे' में मिली थी। सैयद खैरुल्लाह और सैयद भीका सभी रणकुशल सेनानी थे। सैयद रहमत उल्लाह भी उक्त महानुभावों की ही भाँति वीर और साहसी थे तथा अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि को इनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे इनकी शूरवीरता तथा अदम्य उत्साह से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने रहमत जी की प्रशंसा में 'झूलना छन्द' में अपने उद्गार व्यक्त कर रहमत जी की सेवा में भेजा था जो इस प्रकार है—

गरब गहि सिंह ज्यों सबल गल गाज मन प्रबल गज बाज दल साज धायो।
बजत इक जमक घन-घमक दुन्दुभिन की तरङ्ग खर धमक भूतल हिलायो।
बीर तेहि कहत हिय कंप डर चोर सन सैन को स्वर चहूँ ओर छायो।
कह्यो चल पाइ तम साह नाह सेनाह यह रहमत उल्लाह सर नाह आयो।[6]

रहमत उल्लाह उक्त छन्द को पढ़कर बहुत अधिक प्रसन्न हुए और उक्त छन्द के बदले में चिन्तामणि के लिए नकदी द्रव्य और जरी की पोशाक उपहारस्वरूप भिजवायी चिन्तामणि ने इच्छा प्रकट की कि वे उक्त उपहार सैयद रहमत उल्लाह जी के सामने ही लेना चाहते हैं और उनकी इच्छा है कि वे ज़री की पोशाक रहमत जी के हाथों से ही पहनें। रहमत जी ने कहलवाया कि यह चिन्तामणि जैसे कवि के सम्मान के लिए उपयुक्त नहीं जँचता। किन्तु चिन्तामणि जी रहमत जी की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने उक्त छन्द को सुनकर वह ज़री की पोशाक रहमत जी के हाथों से पहनी तथा पुरस्कार स्वीकार किया। उक्त छन्द चिन्तामणि कृत 'कवित्त-विचार' में सुलतान जैनुद्दीन मुहम्मद सुत शाह शुजाअ की प्रशंसा के बाद उद्धृत है।"

रहमत बिलग्रामी का आचार्यत्व

मीर आज़ाद बिलग्रामी ने रहमत जी को हिन्दी काव्यशास्त्र में अपने समय का आचार्य बताया है। एक बार जब कि रहमत उल्लाह जाजमऊ के हाकिम थे, हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्य के रूप में उनकी प्रसिद्धि सुनकर चिन्तामणि का एक शिष्य उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और अनन्वय अलङ्कार के उदाहरण स्वरूप चिन्तामणि के काव्य से एक दोहा पढ़कर रहमत जी को सुनाया। दोहा इस प्रकार है—

हियो हरत अरु करत अति चिन्तामणि चितचैन।
वा मृगनैनी के लखौ वाही के से नैन॥

रहमत उल्लाह ने हस्तक्षेप किया कि उक्त दोहा अनन्वय अलङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता। चिन्तामणि के शिष्य ने यह बात चिन्तामणि से जाकर बतायी और चिन्तामणि ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए दोहे के दूसरे चरण में परिवर्तन कर दिया—'वा सुंदरि के मैं लखौ वाही के से नैन'।

मृत्यु

रहमत बिलग्रामी की मृत्यु सलीमपुर में १३ रबीउल्आखिर सन् १११८ हिजरी अर्थात् २५ जुलाई, सन् १७०६ ई० को हुई। उनका शव सलीमपुर से बिलग्राम लाया गया और वे बिलग्राम में ही दफ़न किये गये।

रचनाएँ

रहमत बिलग्रामी के किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख हिन्दी की प्रकाशित खोज रिपोर्टों में नहीं मिलता। मीर आज़ाद बिलग्रामी ने इनके एक ग्रन्थ का उल्लेख 'सर्वे आज़ाद' में किया है और उससे कुछ दोहे भी उद्धृत किये हैं। मीर आज़ाद के अनुसार रहमत जी के उक्त ग्रन्थ का नाम 'पूर्ण रस' है। बहुत अधिक छानबीन करने के बाद भी 'पूर्ण रस' की कोई हस्तलिखित प्रति हाथ नहीं लग सकी सम्भव है, भविष्य में इसकी किसी प्रति का पता चल सके।

मीर आज़ाद ने उक्त ग्रन्थ से कुल २६ दोहे उद्धृत किये हैं जिनके प्रकाश में यह अनुमान किया जा सकता है कि रहमत जी ने उक्त ग्रन्थ को दोहा छन्द में ही लिखा होगा। इन २६ दोहों मे से प्रारम्भ के कई एक दोहे नख-शिख वर्णन से सम्बन्धित हैं तथा अन्य दोहों में नायिकाओ के क्रियाकलाप वर्णित हैं। किसी भी दोहे के साथ कोई शीर्षक नहीं हैं। मीर आज़ाद बिलग्रामी ने 'रसलीन' और जान बिलग्रामी के ग्रन्थों से छन्द उद्धृत करते समय उनके शीर्षक भी उद्धृत किये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रहमत जी के उक्त ग्रन्थ के छन्द विभिन्न भेदोपभेदो से युक्त शीर्षकों से मुक्त हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकाल का उल्लेख भी मीर आज़ाद ने नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ की भाषा और काव्यात्मक अनुभूतियों की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि रहमत जी ने इसे प्रौढ़ावस्था में रचा होगा। अनुमानतः हम इसे सन् १६९५ ई० के आस-पास की रचना स्वीकार कर सकते हैं; उस समय कवि की अवस्था ४५ वर्ष के लगभग रही होगी।

कविता के स्फुट उदाहरण

कारी सटकारी करी खरी सरस सुकुमारि।
लूटन हारी जगत की लूटन हारी बारि॥

सोहत बेनी पीठ पर झीनें पट की भाय।
लोटत नागिन कँवल दल अंग पराग लगाय॥

माँग सुहाग भरे अली बिब पाटी छबि छाय।
स्याम मनो घनस्याम मैं चपला लीक लखाय॥

भौंह कमान समान कै कत तकियत अनखाइ।
कध मन सौतिन तोरि कै धारो प्यारो पाइ॥

आम बान को कहत हैं नैनन बान समान।
दई लागत सालत जो ये देखत बेधत प्रान॥

ह्वै तिरछी तिरछे तक्यो बहुतौ भामिनि भौर।
चुभि चितवन चित मो गई काढ़त बाढ़त पीर॥

सुन्दरि मुख चौका चमक उपमा कोउ बरनै न।
आनंद मंदिर में जड़े हीरो जड़िया मैन॥

कर उचाइ जमुहाइ तें धारी भुज ऐंहि भाय।
मनो चपला द्वुई टूक ह्वै गिरो भूमि पर आय॥

सुबरन रंग मेंहदी रच्यो छला जड़ाऊ साथ।
हाथी कै साथी कियो मोहन मन उन हाथ॥

उपमा सुन्दर नखन की मन आवै नहि और।
अंबयपू करबिय की कलिन भई सिर मौर॥

छला छबीली छाँकुनी बिच छबि मिलि इक साथ
छलत छैल मन को करत छला कला के हाथ ॥

उदर लसत रोमावली मोहन मोहन भाँति ।
मानो सुबरन बान पर काम मंत्र की पाँति ॥

नाभि कूप नागिन निकस चली कमल मुख चाढ़ ।
ठिठकी देखि मयूर ग्रिव कुच करके कर आढ़ ॥

गोरी भोरी गोरटी थोरी बैस सुहाय ।
भोरी भोरी बात सों चोरत मन को आय ॥

लसत सेत पिचलौरिया अंग केसरी रंग ।
कनक बेल सी झिल-मिली बाल चाँदनी संग ॥

पिय तिय रति विपरीत कों पग गहिकर मन हार ।
नटल हँसत सयरांत दृग ललचावत रिझवार ॥

भुज उचाय अँगड़ाइ पुन पेम जनाइ जमुहाय ।
चट-पट हरहरनी कटी ठिग लाडो दिखराय ॥

हर मुरली हरि की लई धरी उरोज नवीन ।
राग रंगी परवीन तिय करी हरी परबीन ॥

खेलत फाग हुलास सों भाग भरी लख नाँह ।
मूठी डार गुलाल के मन कियो मूठी माँह ॥

झुकि झुकि खेलत है लली झूमर सखिन समाज ।
झूमि झूमि मन जगत कै परत पगन पर आज ॥

भौंह चढ़ाय जनाय रिस झूँठहि मान जनाय ।
अनहित ही पिय मन भठो ओंठन एहिं बनाय ॥

घट लै घाट चले अली नट के सन्मुख होत ।
घटकी पटकी सुधि घटी मटकी मुख की जोत ॥

ललन चलन के नाम सुनि गिरी घूम कै भूमि ।
प्यारी प्यारी लख पिया प्रान दई मुख चूमि ॥

फागुन मास न आइहौ प्यारे प्रानन ईस ।
खोरी होरी लपट संग कहिहैं प्रान असीस ॥

कहि कहि उठत जरी जरी, धरी धरी वह बाल ।
चलकै नेकु बिलोकिए इनहीं हित को हाल ॥

कहत सीस कर धर सुनों स्याम बाम प्रानेस ।
कठ निकट संसक धरी सौक करत अलेस ॥

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. डॉ० आजम कुरैशी: हिन्दी शायरी (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) सन् १९३१ ई०, पृ० ८० २. मीर गुलाम अली आजाद बिलग्रामी: सर्वे आजाद (मतबा वुखानी रिफ़ाहे आम, लाहौर), सन् १९१३ ई०, पृ० ३५९। ३. वही, पृ० ३६०। ४. वही, पृ० ३६२। ५. वही, पृ० ३६३। ६. वही, पृ० ३६६। ७. वही, पृ० ३६५-३६७। ८. वही, पृ० ३६७-३६९

सात

कबीर के कुछ अप्रकाशित पद

ओमप्रकाश सक्सेना

'गुजराती हस्तलिखित पद-संग्रहों में हिन्दी पद' विषय पर शोध-कार्य करने के सिलसिले में जब मैं गुजरात गया, तो मुझे कुछ समय तक अहमदाबाद में रहकर वहाँ की 'गुजरात विद्या सभा' तथा 'आचार्य निवास' और बड़ौदा के मगन भाई के हस्तलिखित संग्रहों को देखने का अवसर मिला। इन संग्रहों में गुजराती लिपि में लिखित हिन्दी की अनेकों प्रतियाँ है, किन्तु १ म; १,३ आ; ८९५, १०३८, १००० गु संख्या की प्रतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें कबीर के ऐसे पद संग्रहीत हैं जो आज तक किसी भी पुस्तक में प्रकाशित नहीं हुए।

छहों प्रतियाँ अच्छी दशा में हैं किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक ध्यानपूर्वक देखने पर भी लेखन-काल की जानकारी न हो सकी। लिपि के अध्ययन से पता चलता है कि ये छहों प्रतियाँ सत्रहवीं शताब्दी के आसपास की हैं। इन प्रतियों में कबीर के अतिरिक्त रामानन्द, तुलसीदास, परमानन्द, सूरदास, दादू और अग्रदास आदि के पद प्राप्त होते हैं। यदि कवि सगुण धारा का भी है तो केवल उसके निर्गुण पद ही इन प्रतियों में विशेष रूप से सङ्कलित किये गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रतियाँ किसी निर्गुण पन्थी साधु की हैं।

विभिन्न प्रतियों में ये सभी पद एक ही स्थल पर क्रम से नहीं प्राप्त होते। अतः एसा लगता है कि इनका सङ्कलन विभिन्न अवसरों पर विभिन्न सूत्रों से हुआ होगा

कबीर के प्रकाशित हिन्दी पद कबीर-ग्रन्थावली शब्दावली बीजक सन्त कबीर तथा गुरु-ग्रन्थ साहिब मे प्राप्त होते हैं। इन समस्त पुस्तकों में कबीर के ये पद प्राप्त नहीं होते। इसीलिए इन्हें 'अप्रकाशित' कहा गया है। सम्भव है कि इनमें से कोई पद अन्य पाठ-भेद से अन्यत्र प्राप्त हो जाय, किन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है ये पद इस रूप में अभी तक कहीं भी प्रकाशित नही हुए हैं।

पदों की प्रतिलिपि करने में मैंने पर्याप्त सतर्कता रक्खी है। जैसा पाठ प्राप्त हुआ है वैसा ही लिखा गया है। पाठ को शुद्ध करने की चेष्टा नही की गई है। लिपि और लिपिकार दोनों के गुजराती होने के कारण यह कहना कठिन है कि जो पाठ प्राप्त हैं, वह प्रामाणिक है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर के दो शताब्दी पश्चात् इन पदो का इस रूप में गुजरात में प्रचार था।

सातवें पद में 'हैरण', आठवें में 'मारण' तथा नवें में 'पकडावी' और 'थी' आदि शब्द गुजराती भाषा तथा उच्चारण के द्योतक हैं। 'ण' राजस्थानी प्रभाव का सूचक है। विद्वानो ने प्राचीन राजस्थानी तथा गुजराती को एक समान माना है। सम्भवतः ये पद राजस्थान से गुजरात की ओर गये है या इन पर किसी राजस्थानी लिपिकार या गायक का प्रभाव है। सप्तमी विभक्ति मे 'थी' शब्द का प्रयोग गुजराती भाषा की अपनी विशेषता है। इसके अलावा अन्य पदों की भाषा वही है जो उत्तर भारत के पदों की है। कबीर का रचनाकाल ईसा की १५वीं शताब्दी है। ये सभी पद १७वी शताब्दी की हस्तलिखित प्रतियों से प्राप्त हुए हैं। कबीर के दो सौ वर्ष पश्चात् उनके मत का प्रचार तथा प्रभाव गुजरात मे अधिक था, यह सर्वविदित है। आज भी गुजरात मे कबीर पन्थी साधुओं के अनेक केन्द्र है। नर्मदा के तटवर्ती स्थान भरौंच से १३ मील दूर पर शुक्रतीर्थ के निकट एक द्वीप में एक बहुत बड़ा वटवृक्ष है जिसे 'कबीर बट' कहते हैं। ऐसी किम्बदन्ती है कि अपनी गुजरात यात्रा के समय कबीर ने इसे स्पर्श कर हरा कर दिया था।[1] इसी यात्रा के दौरान में गुजरात के सोलंकी राजा ने पुत्र-प्राप्ति के लिए कबीर से प्रार्थना की थी।[2] फिर भी कबीर की गुजरात यात्रा एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है।

अन्त में एक प्रश्न उठता है कि वास्तव में ये पद कबीर द्वारा ही रचित हैं या कबीर के पश्चात् किसी अन्य कबीरपन्थी साधु के बनाए हुए हैं। पदों की भाषा तथा वस्तु के अध्ययन से पता चलता है कि इनके कबीरकृत होने में कोई सन्देह नहीं है। नीचे कबीर के उन अप्रकाशित पदो को दिया जा रहा है—

हस्तलिखित प्रति सं० १ स

(१)

कित गये पंच किसान हमारे।
आय दिवान गाव मध्य बैठे, लेखे कागद डारे।
निकसी बाकी पकर मुकदम सबही होय गये न्यारे

रुक गये कंठ शब्द नहिं उचरत, परे कष्ट अति भारे।
दगाबाज सो साझा किन्हों, वे साहु बिचारे।
सूको खेत बीज भयो निर्फल, रुक गये घार पनारे।
कबिरा गांव बोहोर नहि बसवो, उठि गये सीचन हारे।

हस्तलिखित प्रति सं० ९ आ

(२)

बुझउ खेल खिलारी रे।
चतुर सखी मिल खेल बिचारा आंखि मूंद अंधियारी रे।
परस पियारी बेठन हारी ढूंढत है कछु पानी रे।
वे दोउ फुनि चहु दिस धावे, सून्य ही सून्य समानी रे।
जब उन्ह सून्यरुप अवगाहा, तब इन्ध येक बनाया रे।
येक रूप औ एक नाम धरि, सून्य अकार छयाया रे।
उन्हें येक येक करि ढुडावो, दो ही तब सयानी रे।
वहीं वरन और वही नाम धरि, खोजत दोउ लजानी रे।
येहि भांति नव निधि भेदि देखों नाम येक नारी रे।
कहै कबीर आगीली बानी, नवधा भक्ति सवारी रे।

हस्तलिखित प्रति सं० ८९५ गु

(३)

प्रेम के वश पडे जन कोई, प्रेम (के) बस परे।
घाट ओ घाट बाट व सभी, कोटिन में कोउ तरे॥
दिपक देखी पतंग हुलस्यो, जीव देत न डरे।
नाद घंटा सुनत आधा, मुवे तरन न चरे॥
सकल बन में भ्रमत भरा, सो बास कमल की करे।
स्वांत बुंद कु रट तब पोय, निसदिन पीउ पीउ करे॥
चकोर कुं बल बोहोत चंद को, सो अंगन में परवरे।
जैसें हरिया लगत लकरी, सो भोमी पाउ न धरे॥
सुरा बांधी रन चडे तोहु, मरन सें न डरे।
सती अपने सत कारन, पीउ के संग जरे॥
नाम महातम रटत निसदिन, कारज उनका सरे।
कहै कबीर हरि तब पइये जो सीस ताही मरे॥

(४)

आजन आजीयें नीज सोय ।
जाही अंजन तिमरनासे नैन निरमल होय ।
गुरु सांई गुरु ज्ञान बतावे, दिल की दुबध्या धोय ।
वैद सांई जै पीउ मेरे, फैर पीउ न होय ।
सर्स साबु सूपड धोबी, गुरु का भी मल डारे धोय ।
कहै कबीर हरि तब पैये, जो एका एकी होय ।

हस्तलिखित प्रति सं० १००० गु

(५)

अपने साहब की बात री मैं कासे पूछूं।
जान सुजान पीआ प्रीत बना सबई बटाऊ लोक री ॥
बरहे ने मार दे वानी की तीईआ तन कस बेहाल री ।
नदिया नीर धार अति धार कोई न उतरा जात रे ॥
माया मोही मदन के माते फरे बलभ कि वाट रे ।
मूरख पांच अमांत संगी सुमर सुमर रे ॥
दास कबीर पिआ बोहरि ना मिलबो जउ तरवर जरे पात री ।

हस्तलिखित प्रति सं० ३ आ

(६)

जीवरे राम परम पद अपणा, प्रभु जी बिना नहीं कोई अपना ।
माटी वण वण मेहेल बणाये, मुरख कहे घर मेरा ॥
आवेगा जमरा तलब लगावे, तो नहीं मेरा नहीं तेरा ।
हिंदू बोले राम ही राम, तुरकी बोले खुदाई ॥
हिंदू जाले मुसलमान गाडे, तो खाक मां खाक मलाई ।
को लूटे धन जोबन बाबरे, को लूटे सुन्दर नारी ॥
राम परम पद कोउ न लूटे, कबीर भीखारी जप रे राम परम पद ।

हस्तलिखित प्रति सं० १०३८ गु

(७)

रमंना है रे माधानां, रमो मं रमना है रे।
छरचे गंधन वीचे अटकत नाहीं, कँवल मुती मेदांना ॥
लेहे लगाम ज्ञान कर घोड़ा, सूरत निरत चीत मटका ।
सेजे चड़ु सत्य गुरु जी के बचने, तो मीट गया मन का भटका ॥
हेरण नाद ने बुदह थोंड़ी, रवी ससी खाली ना पड़ना ।
आसन पाली मगन होकर बैठा, तो मीट गया आवागमना ॥
त्रीता नाक मां त्रीभोवन सूझे, सदगुरु अलख लखाया ।
जब कारण जोगी बाहर ढूंढत है, ते घट भीतर पाया ॥
अेक मां अनेक अनेक मां एक ते अनेक नी पाया ।
अेक देखी जब परचारे पाआ, तो अेक मां अनेक समाया ॥
नास कहु तो सदगुरु की लाजे वणना से कोई जोगी ।
कहेत कबीर सुनो भाई साधु, तो सत चित आनंद भोगी ॥

(८)

प्रेम कटारी जेहे ने प्रेम की रे यागी ,
मारण हारा रे सतगुरु सुरा, ते प्रेमासन पुरा ॥
सुरत कमान सबद कारे भलका, मारी रे मन की छांह रे करका ।
गहेल घु मेरे मरण की रे लागी, देवता पेवता मुंम तारे तागी ॥
भीतर भलका रहा रे तन माही, सालत बुझत कल जारे मांही ।
घायल की गति घायल बुझे, भीतर पीण पण बाहर नाही सूझे ॥
कहेत कबीर मुवरि मन माही, फेर मरने की आसा नाही ।

(९)

आर भआ रे अला यार हमारा ।
सब जीवन का प्राण अधारा ।
में जुल अेक ने दस दरवाजा ।
तापर मला पढ़े नीवाजा ।
पांच पीर करे कफराना ।

भरी भरी रे मारे मोहना रे माण ।
पांच पीर बसे एक थान ।
अन भंगर जे नाबत खाना ।
चंचल चित्त वाहां रे डरावी ।
अन पांणी तो पकडावी ।
सेत पान जो पावे बीडा ।
सत लोक मां करत है क्रीड़ा ।
नाम अक्षेर सतगुरु ने पाइ ।
आवागमन थी लीओ है छांडाई ।
केहेत कबीर सुनो नर सोही ।
प्रेम भगती बिना मुगती न होई ।

सन्दर्भ-सङ्केत—

१. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० १६५। २. कबीर एण्ड हिज़ फालोवर्स, पृ० १९।

समीक्षकों की दृष्टि में

हिततरंगिनी

सुधाकर पाण्डेय द्वारा सम्पादित कृपाराम का रीति-ग्रन्थ

प्रकाशक : विश्वभारती,
घनवटे चैम्बर्स, नागपुर
पृष्ठ संख्या : १७४
मूल्य : पाँच रुपया

हिततरंगिनी, प्रथम बार संवत् १९५२ में भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। इस संस्करण का सम्पादन बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने किया था। खोज-विवरणों मे भी इसकी प्रतियों की सूचनाएँ सन् १९०६ और १९०९ में प्रकाशित हुई थीं। इसके पश्चात् ही कृपाराम की 'हिततरंगिनी' के महत्त्व से हिन्दी संसार अवगत हुआ। पिछले अनेक वर्षो से 'रत्नाकर' जी का संस्करण अप्राप्य था, अतएव इसके पुनर्प्रकाशन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इसके अतिरिक्त अब तक 'हिततरंगिनी' का साङ्गोपाङ्ग एवं सुविचारित अध्ययन भी प्रकाश में नहीं आया था। इन दोनों दृष्टियों से श्री सुधाकर पाण्डेय के इस सम्पादन का महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

श्री सुधाकर पाण्डेय की दृष्टि में 'हिततरंगिनी' के रचियता "कृपाराम सच्चे अर्थों में हिन्दी-रीति काव्य की धारा के गङ्गोत्री भी हैं।" सम्पादक ने 'निवेदन' के अन्तर्गत लिखा है कि "उनके जीवन एवं कृतित्व के सम्बन्ध में व्याप्त भ्रम, सम्भ्रम एवं अनुमान को इतिहास की वैज्ञानिक-विवेचन प्रणाली पर कसकर सहज निष्कर्ष निकालने का मैंने यत्न किया है।"

प्रारम्भ में सम्पादक ने ७० पृष्ठों की प्रस्तावना में कृपाराम के समकालीन इतिहास, 'हिततरंगिनी' की पूर्व परम्परा के नायक-नायिका भेद तथा काव्य-परम्परा, 'हिततरंगिनी' में छन्दो के प्रयोग, कृपाराम के आचार्यत्व एवं उनकी काव्य-प्रतिभा आदि का विवेचन किया है। अध्ययन की उपयोगिता के लिए इस सम्पादन के साथ पादटिप्पणियां, छन्दों का प्रतीकानुक्रम एव विषयानुसूची भी दी गई है।

सम्पादक ने संस्कृत के आचार्य भानुदत्त की 'रसमंजरी' से 'हिततरंगिनी' का तुलनात्मक प्रस्तुत करके की मौलिक उद्भावनाओं को किया है क्योंकि अब

तक यह समझा जाता था कि कृपाराम भी भानदत्त के अनुवर्ती आचार्य और कवि हैं यद्यपि कवि ने स्वतः लिखा है कि कृपाराम यो कहत हैं भरत ग्रंथ अनुमानि

कृपाराम के कवि व्यक्तित्व-निर्माण में समकालीन सांस्कृतिक व्यवस्था का क्या योगदान रहा है, यह प्रश्न विचारणीय है। सम्पादक ने लिखा है कि 'हिततरंगिनी' के रचनाकार कृपाराम बाबर के समसामयिक थे, यद्यपि उनकी रचना शेरशाह के शासनकाल की है। इसलिए वे न केवल लोदी, रजपूती, एवं बाबरी लोक और सांस्कृतिक व्यवस्था से प्रभावित हुए होंगे अपितु हुमायूँ और शेरशाह की व्यवस्था ने भी उनके कवि व्यक्तित्व के गठन में लौकिक दृष्टि से सहायता की होगी (पृ० ११-१२)। कृपाराम के कवि-मानस के निर्माण में पूर्व परम्परा का ही प्रभाव था और उनकी 'हिततरंगिनी' रसवादी आचार्यों के नायक-नायिका भेद-काव्य की एक कड़ी है।

कृपाराम की 'हिततरंगिनी' के रचनाकाल के स्पष्ट उल्लेख के बाद भी इस कृति की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों का एक वर्ग इसकी इतनी प्राचीनता पर सन्देह प्रकट करता है। सम्पादक ने 'रत्नाकर' जी की ही भाँति इसका रचनाकाल सं० १५९८ माना है। प्रतिलिपियों में प्राप्त दोहे के अनुसार यही तिथि सङ्गत जान पड़ती है। किन्तु 'हिततरंगिनी' की भाषा बिहारी के दोहों की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है; अतएव आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय का मत है कि यह कृति सं० १७९८ में रचित होनी चाहिए और इस कृति की रचना की प्रेरणा कवि को बिहारी से मिली होगी। इस प्रश्न पर सम्पादक के तर्क प्रबल नहीं हैं। वास्तव में भाषा का जो रूप 'हिततरंगिनी' में प्राप्त है वह 'बिहारी सतसई' से पूर्व का प्रतीत नहीं होता। प्राचीन हस्तलेखों के अभाव में इस कृति को 'सूरसागर' से पूर्व का भी मानने में कठिनाई है। क्योंकि इसकी परिष्कृत भाषा, प्राचीन ब्रजभाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यदि यह रचना, 'बिहारी सतसई' से पूर्व की है और बिहारी ने 'हिततरंगिनी' से प्रेरणा ली हो तो वास्तव में कृपाराम का स्थान हिन्दी के शृङ्गार-परम्परा के शीर्षस्थ कवियों में अपने आप आ जाता है। बिहारी के ऊपर जिन कवियों की रचनाओं का प्रभाव है, उसमें कृपाराम की 'हिततरंगिनी' का होना इसलिए भी सन्देहास्पद है, क्योंकि इसके प्राचीनतम हस्तलेख अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। यदि कवि इतना प्रतिभाशाली था कि बिहारी जैसे प्रख्यात कवि ने उससे प्रेरणा ग्रहण की तो इसकी कृतियों का प्रचार और प्रसार निश्चित रूप से बिहारी के पूर्व की परम्परा में रहा होगा। 'बिहारी-सतसई' से १०६ वर्ष पूर्व लिखित इस कृति की चर्चा का न मिलना और हस्तलेख प्राप्त न होना इसके काल के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न करता है।

बिहारी और कृपाराम की कृतियों में साम्य के कारणों पर विद्वानों ने विचार किया है। किन्तु यह तुलनात्मक अध्ययन भी सम्यक् रूप से नहीं किया गया है। कतिपय दोहों में समानता देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "या तो बिहारी ने उन दोहों को जान बूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिल गये" (हि० सा० इ० १९५० ई०, पृ० १९९)। शुक्लजी के इस कथन का समर्थन डॉ० राकेश गुप्त ने भी किया है और लिखा है कि 'बिहारी सतसई' में इन दोहों का खप जाना इस बात का प्रमाण है कि सरसता और काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से ये सतसई के दोहों के लगभग समकक्ष हैं" (हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६४५)। इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति की जाँच न शुक्लजी ने की और न डॉ० राकेश गुप्त ने। बिहारी का एक भी दोहा 'हिततरंगिनी' में

उपलब्ध नही है कुछ पक्तियो और वाक्यांशो मे ही साम्य है इस दृष्टि से कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं:—

बिहारी— पाँय महावर देन कों नाइन बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एंडी मीडत जाइ॥
कृपाराम— नाइन पै नाहिन बन्यौ देत महावर पाइ।

बिहारी— (१) डरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठ ढिठाई आइ।
(२) ढरे ढार तें ही ढरत दूजें ढार ढरैंन।
कृपाराम— ऐसे ढार ढरे सखी नवता बधू सो लाल।८०॥

बिहारी— छुटी न सिसुता की झलक झलकों जोबन अंग।
कृपाराम— लेसु रहे सिसुता झलक आये जोबन अंग।८५॥

बिहारी— (१) रुख रुखी मिस रोष मुख कहति रुखौं है बैन।
रूखे कैसे होत ये नेह चीकने नैन॥
(२) ज्यों ज्यों रूखी रुख करति त्यों त्यों चित चिकनाइ।
कृपाराम— ज्यों ज्यों रूखी रुख किएं बोढा उचरति बैन।७८॥

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय के तर्कों के सम्बन्ध में सम्पादक ने विचार करते हुए लिखा है कि कृपाराम यदि बिहारी की सतसई से प्रभावित थे तो सतसई क्यों नहीं उन्होंने लिखी। लगभग ४००छन्द मात्र लिख कर ही उन्होंने क्यों ग्रन्थ को पूरा किया (पृ० ३३)। बिहारी के इस प्रकार के प्रभाव की बात सोचना बहुत साधारण तर्क पर आधारित है।

सम्पादक का आग्रह 'हिततरंगिनी' को संवत् १५९८ की रचना मानने का है, यद्यपि हस्तलेख में दिए गए तिथिपरक उल्लेख के अतिरिक्त कोई लक्षण इसकी प्राचीनता सिद्ध नही करते।

'हिततरंगिनी' के पाठ की समस्या पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस कृति मे पाठ-सम्पादन का कार्य ही मुख्य है। सम्पादक ने इस समस्या पर अत्यन्त संक्षिप्त विचार किया है। पाठ-समस्या के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "पाठ-भेद में केवल शब्दों के विन्यास एव लेखन सम्बन्धी भिन्नता के दर्शन मात्र अधिक हुए। इसलिए एकरूपता स्थापित करने का मैंने यत्न किया है, किन्तु उन पाठों के बाहर नहीं गया हूँ।" सम्पादक के अनुसार 'रत्नाकर' जी के सस्करण में छूटे हुए शब्दों और शीर्षकों के लिए गुप्त हस्तलेखों का सहारा लेना पड़ा है। इस आधार पर 'रत्नाकर' जी के सम्पादन पर उनका विचार है कि उन्होंने पाठ का काम चलाऊँ सम्पादन किया है। पाण्डेय जी के इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि उनका पाठ वैज्ञानिक तथा अधिक प्रमाणिक है किन्तु गम्भीर परीक्षण के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि

यह सम्पादन रत्नाकर जी के सम्पादन का अनुवर्ती ही है। क्योंकि दोनों सम्पादनों में छन्दक्रम और संख्या एक है। केवल उन्हीं स्थलों पर पाठ में अन्तर है जहाँ एकरूपता का प्रयास किया गया हैं। ऐसे स्थलों पर भी प्रामाणिक पाठ-सम्पादन की दृष्टि से विस्तृत विचार अपेक्षित है। सम्पादक के अनुसार 'रत्नाकर' जी के संस्करण के अलावा एक हस्तलेख और एक हस्तलेख की प्रतिलिपि भी उसे प्राप्त थी। यह सामग्री सम्पादन की दृष्टि से बहुत उपयोगी हो सकती थी। क्योंकि प्रत्येक हस्तलेख और प्रतिलिपि में मूलपाठ की विशेषताएँ रहती हैं। इस छोटी कृति के जिसको सम्पादक ने असाधारण महत्त्व की रचना माना है, प्रामाणिक पाठ के लिए तीनों प्रतियो का मिलान करके निष्कर्ष निकालना चाहिये था। इसके अभाव से यह सुसज्जित ग्रन्थ 'रत्नाकर' जी के पाठ से आगे नहीं बढ़ पाया है। केवल दो स्थलों पर त्रुटित पाठ को पूर्ण करने का कार्य अवश्य सम्पादक ने किया है। वे स्थल हैं :—

१—सुपति सुरति बिच अंक भरि ह्वैगो आप अजान। ९७-१।
२—सुरत भेद सब रचति तिय कटि अभंग के जोर। १०४-१।

ऊपर दी हुई पंक्तियों में 'अजान' (९७.१)और 'अभंग' (१०४-१) ये दो शब्द 'रत्नाकर' जी की प्रति में छूटे थे।

रत्नाकर जी की भाँति ही इस संस्करण में भी छन्दों की संख्या ४०० दी गई है। सन् १९०६ की खोज-रिपोर्ट में लाला परमानन्द के संग्रह की प्रति में छन्द संख्या ५४७ दी हुई है। सम्पादन में समाविष्ट हस्तलेख के एक पृष्ठ की प्रतिलिपि (पृष्ठ ८) के क्रम से मिलान करने पर ज्ञात होता है कि हस्तलेख और प्रस्तुत सम्पादन के क्रम में ३० छन्दों का अन्तर है। कितने छन्द कृपाराम की मूल कृति में थे, इसका सम्यक् निराकरण ग्रन्थ के छन्द-क्रम के परीक्षण से ही ज्ञात हो सकता है।

जैसा पहले विचार किया गया कि 'हिततरंगिनी' को सं० १५९८ की रचना मानने में एक बाधा है। उसका प्राप्त रूप १८वीं शताब्दी की ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप प्रस्तुत करता है। सम्पादक ने इस दृष्टि से विचार किया होता तो एकरूपता लाकर भाषा को परिमार्जित करने का प्रयास न करता, क्योंकि प्रतिलिपिकारों की निश्चेष्ट भूलों के कारण प्रतिलिपि-परम्परा में कुछ परिवर्तन होते जाते हैं, विशेष रूप से सानुनासिक चिह्न लुप्त होते हैं। इसी भाँति शब्दों के ऐकारान्त रूप एकारान्त तथा आकारान्त रूप ओकारान्त हो जाते हैं। यही स्थिति उकारान्त रूप के लोप के सम्बन्ध में भी है। यह लोप की प्रक्रिया जिस प्रकार चलती है उसी के फलस्वरूप प्रतियों में दोनों रूप प्राप्त होते हैं। सम्पादक ने अपने सम्पादन में शब्दों की एकरूपता ला दी है, फलस्वरूप 'रत्नाकर' जी के पाठ में प्राप्त शब्दों के प्राचीन रूप भी परिष्कृत हो गये हैं।

श्री सुधाकर पाण्डेय द्वारा सम्पादित 'हिततरंगिनी' का सम्पादन पाठानुसन्धान की विधियो के आधार पर सम्पन्न नहीं हुआ है जिसके कारण इस प्रयत्न को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

की शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दोनों पद्धतियों पर पर्याप्त काय पिछले वर्षो मे हुआ है

उनका आदर्श सम्पादक के सम्मुख था और उनकी पद्धतियों का अनुगमन करते हुए हिततरंगिनी का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास करना चाहिये। पाठ-सम्पादन की समस्त प्रक्रिया हस्तलेखों अथवा प्रतियों से प्राप्त पाठों के आधार पर सही निष्कर्ष निकालती है। सम्पादक प्रतियों में प्राप्त शब्द-रूपों और उनके भेदों को देखता है और भाषा की प्राचीनता को स्थिर करने के लिए उसे इस प्रकार का प्रयास करना पड़ता है। प्रस्तुत सम्पादन में यह सतर्कता दृष्टि गोचर नहीं होती।

हरिमोहन मालवीय
६५३, मालवीय नगर
इलाहाबाद

अर्हत् प्रवचन
चैनसुखदास द्वारा सम्पादित
प्राकृत सूक्त-सङ्कलन

प्रकाशक : आत्मोदय ग्रन्थमाला,
जैन संस्कृत कालेज, जयपुर
पृष्ठ संख्या : १८६
संस्करण : प्रथम, १९६२ ई०
मूल्य : ३ रुपया ५० पैसे

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य कुंदकुंद, स्वामी वट्टकेर, स्वामी कार्तिकेय तथा आचाराङ्ग आदि आगम साहित्य के एवं कुछ अन्य आचार्यों के सूक्तों का सङ्कलन किया गया है। ये सभी सूक्त प्राकृत भाषा में हैं तथा भगवान महावीर की परम्परा से आये हुए हैं। इसी कारण इस पुस्तक का नाम 'अर्हत् प्रवचन' रखा गया है। इस ग्रन्थ में उन्नीस अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में एक-एक विषय से सम्बन्धित पद्य रखे गये हैं। केवल अन्तिम अध्याय में ही कई प्रकार के विषयों से सम्बन्धित पद्य सङ्कलित हैं। विभिन्न ग्रन्थों से लिये गये पद्यों का इस प्रकार सङ्कलन यहाँ प्रस्तुत किया गया है मानो वे एक ही ग्रन्थ के पद्य हों। लेखक ने विशाल साहित्य से कुछ ऐसे रत्न चुनकर एकत्रित किये हैं जिसमें हमें भारत की श्रेष्ठ चिन्तन-धारा की स्पष्ट झलक प्राप्त होती है। पुस्तक में जो भी 'वचन' संग्रहीत किये गये हैं वे सभी लोगों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं हृदयङ्गम करने योग्य हैं। यद्यपि ये जैन-सम्प्रदाय की मान्य कृतियों से लिये गये हैं फिर भी इनका स्वरूप सार्वजनीन है।

'अर्हत् प्रवचन' के सभी उपदेश सभी लोगों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं मनन करने योग्य हैं। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए इन सूक्तों का एक विशिष्ट महत्त्व है और इनका दैनिक करना भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी हो सकता है इन्हें

नागरिकों की आचार-संहिता के रूप में भी हम सम्बोधित कर सकते हैं. सच्चा नागरिक बनना मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य है जो देश एवं समाज दोनों ही के लिए हितकर है। उदाहरण के लिए 'आत्म प्रशंसा-पर निन्दा' अध्याय में आत्म-प्रशंसा को त्याज्य बताया गया है और दूसरों की निन्दा न करने की सलाह दी गयी है। यथा:—

वायाए अकहंता सुजणे चरिदेहिं कहियगा होंति
विकहिंतगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव।

अर्थात् स्वजनों के बीच अच्छे लोग अपने गुणों को अपनी वाणी से नहीं, अपितु अपने कार्यों से प्रकट करते हैं। अपने गुणों की प्रशंसा न करते हुए भी वे मनुष्य लोक में सबसे ऊपर उठ जाते है।

दठ्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ
रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपण भएण।

अर्थात् सत्पुरुष दूसरे के दोष को देखकर लज्जित हो जाता है और जन-निन्दा के भय से अपने दोष की तरह उसे छिपाता है।

भक्ति का जीवन में प्रमुख स्थान है। इससे मनुष्य को न केवल आत्म-शान्ति मिलती है वरन् सांसारिक कष्टों को दूर करने में सहायता भी मिलती है। यथा भक्ति अध्याय के एक सूक्त में कहा गया है:—

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा
आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तियकरंतो।

अर्थात् जो मनुष्य आराधनाओं (ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप की साधना) की भक्ति को नहीं करता हुआ रत्न त्रय की सिद्धि को चाहता है वह बीज के बिना अनाज की और बादलों के बिना वर्षा होने की इच्छा करता है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना जीवन परम सुखमय बनाने के हेतु 'ध्यान' अधिक आवश्यक है। बौद्ध विश्वासों के अनुसार भी सांसारिक राग-द्वेष से त्राण पाने के लिए 'ध्यान' एक प्रमुख साधन है। बिना ध्यान के भगवत्-प्राप्ति नही हो सकती। 'ध्यान' सम्बन्धी एक सूक्त इस प्रकार है:—

झाणं विसयद्दुहाये य होइ अण्णं जहा छुहाए वा,
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए।

अर्थात् जैसे क्षुधा को नष्ट करने के लिए अन्न होता है तथा जिस तरह प्यास को नष्ट करने के लिए जल है वैसे ही विषयों की भूख प्यास को नष्ट करने के लिए ध्यान है

इस प्रकार प० चैनसुखदास ने विशाल जन साहित्य से जिन अनमोल सूक्तो को चुनकर इस पुस्तक में सङ्कलित किये हैं वे लोक-मङ्गल तथा जन-कल्याण की दृष्टि से ही नहीं वरन् श्रेष्ठ साहित्य की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। साहित्य में लोक-मङ्गल की भावना का जैसा मिश्रण एवं चित्रण जैन-साहित्य में मिलता है वैसा अन्य सम्प्रदायों के साहित्य में नहीं मिलता। पुस्तक सभी प्रकार से सुन्दर एवं मनन करने योग्य है।

उदयनारायण सिंह
१५, दिलकुशा, नयाकटरा
इलाहाबाद

प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

डॉ० रामसिंह तोमर का शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक : हिन्दी परिषद् प्रकाशन
विश्वविद्यालय, प्रयाग
पृष्ठ संख्या : ३२५
संस्करण : प्रथम, १९६३ ई०
मूल्य : ८ रुपये

प्रस्तुत पुस्तक 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' डॉ० रामसिंह तोमर की प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। भाषा की दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश, संस्कृत की अपेक्षा देश की जन-भाषा के अधिक निकट रही हैं और इन भाषाओं मे देश की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्परा तथा जन-जीवन का इतिहास भी सुरक्षित है। इन जन-भाषाओं ने अपने परवर्ती जनभाषाओं को भी शैली और शिल्प दोनों दृष्टियों से प्रभावित किया है और अपनी छाप उन पर छोड़ी है। हिन्दी साहित्य पर तो प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अत्यधिक प्रभाव रहा है और इस दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश के दाय का अनुशीलन अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में लेखक ने प्राकृत और जैन अपभ्रंश-साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उनमें प्रचलित साहित्यिक विधाओं—प्रबन्ध-काव्य नाटक कथा मुक्तक आदि का विवेचन एव विश्लेषण प्रस्तुत किया है तथा दूसरे

भाग मे हिंदी साहित्य पर शिल्प और शैली दोनो दृष्टियो से उनके प्रभाव का आकलन किया है

लेखक के अनुसार ६०० ई० पू० से १८०० ई० तक के प्राकृत-साहित्य का सम्पूर्ण रचनाओं के वैशिष्ट्य पर ध्यान दिया जाय तो धार्मिक प्राकृत-साहित्य में कथा के अनेक प्रकार उपलब्ध होंगे। साथ ही धार्मिक, लौकिक, स्वतन्त्र एवं प्रकरी वृत्तों को कथा सूत्रों में पिरोने का भी एक नया टेकनीक मिलेगा। कुछ लौकिक-कथाओं को भी अलौकिक ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि इस काल के साहित्य में धार्मिक उपदेशों की बहुलता है, पर सामाजिक तथ्यों के चित्र तथा मनोरञ्जक अंश भी कम नहीं मिलते। लेखक के अनुसार इस काव्य-प्रकृति ने हिन्दी को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में प्रभावित किया होगा, ऐसी सम्भावना है। ई० पू० तीसरी शती से १८वीं शती ईसवी तक भारतवर्ष में साहित्यिक स्तर पर प्राकृत साहित्य का निर्माण होता रहा है। इसमें कथा, गीति, मुक्तक, प्रबन्ध, नाटक आदि अनेक विधाओं में रचनाएँ मिलती हैं। निश्चित रूप से प्राकृत की इन रचना-विधाओं का परवर्ती हिन्दी पर प्रभाव पड़ा है।

प्राकृत में गीति मुक्तक की धारा मौलिक थी, इस कथन का आधार है 'गाथा सप्तशती'। यद्यपि 'गाथा सप्तशती' में विभिन्न कवियों के गीति मुक्तक उदाहरण के रूप में ही मिलते है, पर उन कवियों की रचनाएँ इतनी ही नहीं रही होंगी, जितनी आज उपलब्ध है। निश्चित रूप से उनकी एक समृद्ध परम्परा रही होगी। प्राकृत-गीति मुक्तकों की इस समृद्ध परम्परा का प्रभाव सस्कृत एव अपभ्रश के अनन्तर हिन्दी पर भी पड़ा। इसका प्रमाण है हिन्दी की गीति मुक्तक धारा का विपुल साहित्य जिसमे भक्तिकाल और रीतिकाल के प्रायः सम्पूर्ण कवियों का योगदान था और जिनके कारण हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ा है।

डॉ० रामसिंह तोमर का यह मत कि पतञ्जलि और भरत के समय तक अपभ्रंश का कोई निश्चित स्वरूप नही था, न्यायसङ्गत दीख पडता है। जहाँ तक 'अपभ्रंश' के शब्दगत अर्थ-विस्तार का प्रश्न है, संस्कृत साधु शब्दों के अतिरिक्त सभी शब्दो को पण्डित वर्ग विकृत, अपभ्रष्ट विभ्रष्ट, अपशब्द या अपभ्रश कहता था। यद्यपि इस प्रकार के शब्द-रूपों को संस्कृत-पण्डित सम्मान से नहीं देखते थे, फिर भी इनका प्रयोग काव्य मे होने लगा था। कालान्तर में ईसा की छठी शती मे अपभ्रंश में साहित्यिक स्तर पर काव्य-रचना होने लगी। राजशेखर के अनुसार विद्वान् के समक्ष और राजसभा में भी अपभ्रश का सम्मान था। तत्कालीन अपभ्रंश में देशानुसार अनेक भेद-उपभेद भी मिलते हैं। कतिपय भेदों में साहित्यिक स्तर पर काव्य-रचना भी होती थी। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि आज अपभ्रश में जैन-साहित्य तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु जैनेतर साहित्य बहुत कम। इससे अपभ्रंश-काव्य-धारा का परिचय तो मिल जाता है, किन्तु पूरा साहित्य प्राप्त न होने से अध्ययन के निष्कर्ष में दृढ़ता नहीं आ पाती।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है, इस पर लगभग सभी विद्वान् एकमत है। अतः प्रत्येक आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के पूर्ववर्ती अपभ्रंश का अस्तित्व रहा होगा, भले ही आज उसका मूल रूप उपलब्ध नहीं है। हिन्दी पर प्राकृत और अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव रहा है यह प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है

अनेक प्रकार के छन्दों का उपयोग एक ही कृति में करने की परम्परा अपभ्रंश में मिलती है। इस दृष्टि से २१२ कड़बक छन्दों में रचित नयनन्दि का 'सुदर्शन चरिउ' और ३० विभिन्न वर्णिक और मात्रिक छन्दों का लाखू रचित 'जिनदत्त चरिउ' उल्लेखनीय है। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' भी अनेक वर्णिक एवं मात्रिक छन्दों में रची हुई है। स्पष्ट ही इस पर अपभ्रंश का प्रभाव है। तुलसीदास की 'कवितावली' पर 'सुदर्शन चरिउ' का प्रभाव देखा जा सकता है।

तुलसीदास ने भक्ति, नीति, उपदेश आदि के लिए तथा रहीम और विहारी ने शृङ्गार और नीति आदि के लिए 'दोहा' का सफलतापूर्वक व्यवहार किया है। इन्हीं विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' तथा 'वज्जालग्ग' में भी संगृहीत है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो विहारी के कतिपय दोहों में 'गाथा सप्तशती' के अनेक पदों का प्रभाव है। यद्यपि हिन्दी की तरह चरित काव्यों, प्रेमाख्यानकों, रासकों तथा स्फुट पदों का साहित्य अपभ्रंश में प्राप्त है, किन्तु प्रचुर साहित्य उपलब्ध न होने से हिन्दी तथा अपभ्रंश का, प्रभाव की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन एक समस्या उत्पन्न कर देता है।

रचना शैली की दृष्टि से हिन्दी की कतिपय काव्य-धाराओं पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। अपभ्रंश और हिन्दी दोनों के प्रबन्ध-काव्य रूपों का प्रारम्भ वन्दना से होता है; सज्जन-दुर्जन-प्रसङ्ग, धर्म-प्रीति, नगर एवं देश वर्णन, धार्मिक चरित्रों की विजय आदि विषयों का उल्लेख दोनों भाषाओं के प्रबन्ध-काव्यों में मिलता है। अपभ्रंश की प्रबन्ध-काव्य शैली का निश्चित प्रभाव हिन्दी पर है।

अपभ्रंश में प्रयुक्त छन्दों का प्रभाव भी हिन्दी छन्दों पर पड़ा है। छप्पय, वस्तु, कुण्डलिया, दोहा, प्रज्झटिका, हरिगीतिका, चौपाई एवं समचतुष्पदी इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। वर्णिक वृत्तों का प्रयोग अपभ्रंश के चरित काव्यों मे बहुत मिलता है। किन्तु हिन्दी के सन्त, भक्ति एवं प्रेमाख्यानक काव्यधारा में वर्णिक वृत्तों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। 'मानस' में तो केवल तीन ही वर्णिक वृत्त प्राप्त हैं। जहाँ तक पद शैली का प्रश्न है, अपभ्रंश की पद शैली का हिन्दी में एक नया रूप मिलता है। अपभ्रंश काल के साधकों ने प्रायः सरल रूपकों का ही व्यवहार किया है। इस प्रकार के रूपक कबीर की वाणी में भी दृष्टिगत होते हैं।

समीक्ष्य शोधप्रबन्ध में, यद्यपि विद्वान् लेखक ने प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु छन्द-प्रभाव-प्रकरण में उसने विहङ्गम-दृष्टि से ही काम लिया है। परिणाम यह हुआ है कि शोधप्रबन्ध का उत्तरार्द्ध उतना गठित एवं अध्ययनपूर्ण नहीं है जितना पूर्वार्द्ध। स्वयं लेखक की भी ऐसी ही धारणा है जिसे उसने 'भूमिका' में स्वीकार किया है।

शोधप्रबन्ध का प्रकाशन, उसके स्वीकृत होने के बहुत दिनों पश्चात् हुआ है। इस बीच कुछ नवीन सामग्री भी प्रकाश में आयी है, जिसका इस ग्रन्थ में समाहार नहीं किया जा सका। चाहिए यह था कि नवीनतम शोधों को भी प्रबन्ध में सम्मिलित कर लिया जाता और उसे संशोधित रूप में छापा जाता। किन्तु ऐसा न होने के बावजूद भी इस अध्ययन का ऐतिहासिक महत्त्व है और लेखक बधाई के पात्र हैं।

प्रमोदकुमार सिन्हा

६८३ ८०१ कटरा, इलाहाबाद

रजिस्ट्रार न्यूज़ पेपर्स ऐक्ट के नियम के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

१. प्रकाशन का नाम	"हिन्दुस्तानी"
२. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर)
३. मुद्रक का नाम	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
६. प्रकाशक	विद्या भास्कर, मंत्री तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
७. राष्ट्रीयता	भारतीय
८. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
९. सम्पादक का नाम	श्री विद्या भास्कर, प्रबन्ध सम्पादक श्री बालकृष्ण राव, प्रधान सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सहायक सम्पादक
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

मैं, विद्या भास्कर, मंत्री तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिलकुल ठीक है।

विद्या भास्कर
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष